साहित्य क्या है ?

विश्व में दृष्टिगोचर होने वाले आत्म तथा अनात्म की, अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जगत् की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से की जा सकती है। इन प्रकारों अथवा कलाओं में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला—जिसे हम साहित्यकला के नाम से भी पुकारते हैं—प्रमुख हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में साहित्यकला का विवेचन किया जायगा।

साहित्य क्या है इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों का मतभेद रहा है। एमर्सन के मत में साहित्य भव्य विचारों का लेखा साहित्य के अनेक है, तो दूसरा लेखक इसे प्रवीण नर-नारियों के विचारों अथवा तथा मनोवेगों को इस प्रकार लेखबद्ध करना बताता है कि उससे पाठक का मनोरंजन हो सके। साहित्य-समादरण के प्रसंग में एक फ्रेंच विद्वान् लिखते हैं—

हम प्रथमवर्गीय रचनाओं (Classics) की समष्टि को साहित्य कहते हैं; और प्रथमवर्गीय लेखक वह है, जिसने मानवीय मस्तिष्क को समृद्ध किया हो, जिसने सत्यगुण उसके भंडार में वृद्धि की हो, जिसने समाज की गति में त्वरा उत्पन्न की हो, जिसने किसी चारित्रिक सत्य का अन्वेषण किया हो, जिसने अपने विचारों, पर्यवेक्षणों अथवा आविष्कारों को किसी ऐसी रीति से प्रकाशित किया हो कि वे उदात्त, सौम्य, विशद तथा भव्य संपन्न हुए हों; जो, अपनी ही किसी रीति या रुचि में, जो उसकी अपनी होने पर भी सब के लिए समान हो, जो एक ही समय में नव्य तथा भव्य हो, जो एक युग की निधि पर भी सब युगों की समान साथ हो, मनुष्यमात्र के साथ बोला हो।

उनके द्वारा हजारों वर्षों से मानवसमाज का चित्तरंजन होता आया है, इस लिए वे निःसंदेह उत्कृष्ट साहित्य हैं। किंतु सामयिक रचनाओं की साहित्यिकता तथा असाहित्यिकता को जाँचने में सब को अपनी वैयक्तिक रुचि से काम लेना चाहिए। यदि किसी रचना को एक व्यक्ति पढ़ता है, और प्रेम से बार-बार पढ़ता है, तो वह रचना और किसी भी व्यक्ति के लिए साहित्य न होकर उस एक व्यक्ति के लिए साहित्य बन जाती है। दूसरी ओर वह रचना, जिसको पढ़ने से उसका मन उचटता है, अन्य व्यक्तियों के लिए साहित्य होने पर भी उसके लिए नीरस तथा असाहित्यिक ठहरती है।

साहित्य के लक्षण में नेति-नेति की प्रक्रिया

किंतु साहित्य के उक्त सभी लक्षणों में हमें साहित्य की व्याख्या मिलती है, उसका निर्धारित लक्षण नहीं। और क्योंकि साहित्य का नपा-तुला लक्षण असंभव सा है, इसलिए हमें इसका रूप समझने में ऐसी प्रक्रिया से काम लेना चाहिए जो हमें इस शब्द के अर्थ का यथार्थ बोध करा दे और जो अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति इन दोनों दोषों से स्वतंत्र हो। यह प्रक्रिया अनिवार्य रूप से विधेयात्मक न हो निषेधात्मक होगी और हम इसमें साहित्य इसे कहते हैं, यह न कह कर साहित्य यह भी नहीं है, यह भी नहीं है, ऐसा कह कर अग्रसर होंगे।

साहित्य का प्रथम उपकरण स्थायिता

निःसंदेह हम सभी मुद्रित पुस्तकों को साहित्य नहीं कहते। हम छपे हुए पंचांगों को तथा मुद्रित समाचारपत्र के लेखों को भी साहित्य नहीं कहते। क्यों? इस लिए, कि हम जानते हैं कि कल प्रातःकाल हम इन्हें ताक में रख देंगे; और उस रचना में, जिसे हम साहित्य कहते हैं, एक प्रकार की आंशिक स्थायिता होनी आवश्यक है। स्थिरता का यह सिद्धांत हमारी साहित्य-भावना का अविभाज्य अंग है; यहाँ तक कि

ोड़ी देर के लिए हम कह सकते हैं कि साहित्य उन रचनाओं का नाम
जो स्थायी हों, जिनमें स्थिरता का आदर्श संनिहित हो । किन्तु
ाहित्य के इस लक्षण से हमारी तब तक तुष्टि नहीं होती, जब तक कि हम
ह न जान लें कि वे कौन से तत्त्व हैं, जिनके समावेश से साहित्य में
थिरता आती है। इसमें संदेह नहीं कि साहित्य के इन तत्त्वों में उन सभी
नकरणों का समावेश आवश्यक है जो मनुष्य को चिरकाल से अपनी
ोर खींचते आए हैं, अर्थात् जो उस के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।
तु इतने से ही काम नहीं चलता। संवर्गमान के आँकड़े, देश की
ार्थिक तालिकाएँ, और वकीलों की अलमारियों में सजी हुई न्याय-
ास्त्र की पुस्तकें साहित्य नहीं कहातीं; किंतु कौन कह सकता है कि इनका
ारे जीवन में स्थायी महत्त्व नहीं है। नेति-नेति की प्रक्रिया को एक पग
र आगे बढ़ा हम कह सकते हैं कि बीजगणित, रेखागणित, भूगर्भविद्या
ोविज्ञान तथा रूढ़िवाद और धर्मशास्त्र भी साहित्य नहीं हैं। इन सभी
मानवसमाज से मार्मिक संबंध है, तथापि ये साहित्य नहीं कहाते।
में साहित्य का चमत्कार और उसका रागात्मक तत्त्व नहीं मिलता।
री ओर एक ललना के केशपाश, उसकी ग्रीवा में पड़े कंठहार, उसकी
चित चितवन और आकाश में चमकते तारों पर कही गई सूक्तियों को
साहित्य में संमिलित कर लेते हैं। पहली कोटि की रचनाओं में जीवन
साथ संघटित हुए ऐसे तत्त्व निहित हैं, जिनके अभाव में हमारा जीवन
र हो जाता है, किंतु दूसरी कोटि की सूक्तियों में जीवन के उन
ों पर चोट की गई है जो एक प्रकार से अनावश्यक होने पर भी
मिक सौंदर्य से भरपूर हैं। पहली कोटि के विपुल ग्रंथों को हम साहित्य
नहीं गिनते, किंतु दूसरी श्रेणी की अनुपम सूक्तियों को साहित्य में स्थान
ा है।

साहित्य के इस सामयिक लक्षण में थोड़ा सा परिष्कार कर के हम कह सकते हैं कि साहित्य उन पुस्तकों की समष्टि को नहीं कहते, जिनमें स्थायी रागवाले तत्त्वों का समावेश हो, अपि तु साहित्य स्वयं वे पुस्तकें हैं जो स्थायी राग से समुपेत हों। साहित्य का यह लक्षण ऊपर कही गई पुस्तकों में नहीं घटता। यह सत्य है कि उन पुस्तकों में वर्णन किए गए तत्त्व मानवसमाज के लिए स्थायी राग वाले हैं, किन्तु स्वयं वे पुस्तकें रागात्मक नहीं हैं। इन पुस्तकों में निदर्शित किए गए तथ्यों को हम दूसरे प्रकार से प्रकट कर सकते हैं; इनकी व्याख्या या क्रियात्मक उपपत्ति में हम दूसरे उपायों का आश्रय ले सकते हैं, अब कि वे पुस्तकें, जिनमें पहले-पहल इन तत्त्वों का व्याख्यान किया गया था, अब नामावशेष रह गई हैं। तथ्य जीवित हैं, किन्तु उन तथ्यों को निरूपित करने वाली पुस्तकें गल चुकी हैं। उदाहरण के लिए, न्यूटन के क्रांतिकारी आकर्षण-सिद्धांत को जिसका मानवसमाज से बहुत गहरा सम्बन्ध है—जानने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम न्यूटन द्वारा रची गई मौलिक पुस्तक का अनुशीलन करें; उसका वर्णन न्यूटन के पीछे आने वाले वैज्ञानिकों ने और भी अच्छी तरह से कर दिया है और उनकी रचनाओं को पढ़ कर हम न्यूटन के सिद्धांतों से भलीभाँति परिचित हो जाते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि न्यूटन की रचना नष्ट हो गई, किन्तु उसके द्वारा आविष्कृत किए गए सिद्धांत आज भी वैसे ही बने हुए हैं। फलतः हम ऐसी किसी भी रचना को साहित्य नहीं कहेंगे, जो आगे आने वाले वर्षों अथवा सदियों में उसी विषय पर रची जाने वाली अन्य कृतियों के क्षेत्र में आ जाने पर स्वयं चल बसती हो। साहित्य कहाने वाली रचना के लिए आवश्यक है कि जहाँ उसमें निदर्शित किए गए तत्त्व स्थायी हों, वहाँ वह स्वयं भी स्थायी हो, और

स्थायी रागात्मक तत्त्व वाली पुस्तकें साहित्य हैं

सनातन रूप से जनता का चिररंजन करने वाली हो। अब यहाँ इस प्रश्न का उपस्थित होना स्वाभाविक है कि वे कौन से तत्त्व हैं जिनके समावेश ते किसी रचना में सच्ची स्थायिता संपन्न होती है।

स्थायिता के लिए व्यक्तित्व का प्रतिफलन आवश्यक है

विद्वानों का कहना है कि किसी रचना में स्थायिता तभी आती है, जब उसमें उसके रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित हो, जब वह रचना अपने पाठ के समय पाठक के संमुख अपने रचयिता को ला खड़ा करती हो। और यह कहना किसी अंश तक है भी ठीक। सच पूछो तो कला के सभी उत्पादों में इस बात का होना सुतरां आवश्यक है। किन्तु क्या हम अपने इस प्रस्ताव को इन शब्दों में रख सकते हैं क ऐसी प्रत्येक रचना, जिसमें उसके रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित हो, ाहित्य कहाने की अधिकारिणी है। हमारी समझ में, नहीं। इस बात में ो आपत्ति हैं: प्रथम, यह लक्षण अस्पष्ट है। व्यक्तित्व के प्रतिफलन का क्या ाशय है? क्या एक धर्मशास्त्र अथवा शब्दशास्त्र पर व्युत्पत्ति लिखने वाला ाचार्य अपनी रचना पर अपने व्यक्तित्व को, अपने श्रम, अध्यवसाय, तर्दृष्टि और विवेक को मुद्रित नहीं करता? दूसरे; यदि हम इस बात को न भी लें कि साहित्य की प्रत्येक रचना में उसके रचयिता का व्यक्तित्व तिफलित रहता है—जब कि वैज्ञानिक पुस्तकों में ऐसा नहीं दीख पड़ता— यह प्रश्न होगा कि वह कौन सी विधा अथवा प्रकार है, जिसके रा एक लेखक अपने व्यक्तित्व को अपनी रचना में संपुटित कर कता है। यह कौन सा रहस्य है जिसके द्वारा एक कवि अपनी रचना में के लिए अपने आपे को निहित कर जाता है, जब कि उसी का भाई वैज्ञानिक अपनी रचना को अपने आपे से अछूता रख उसमें अभीष्ट का प्रदर्शन करके बस कर देता है। यदि व्यक्तित्व-संनिधान के इस

दय को हम किसी प्रकार हृदयगत कर लें तो हमें काव्य का यह लक्षण मिल जायगा, जिसकी काव्य के अतिरिक्त और किसी भी रचना में उत्पत्ति नहीं होती।

साहित्य मनोवेगों को तरंगित करता है, विज्ञान मस्तिष्क को

और इस सम्बन्ध में जब हम उन रचनाओं को, जिनमें स्थायी महत्त्व वाले तत्त्वों का संनिधान होने पर भी उन्हें साहित्य नहीं कहा जाता, कवियों की उन कृतियों के साथ, जो अपने अंतस् में इस प्रकार के विज्ञान-गर्भ तत्त्वों के न रहने पर भी मृत्यु को सदा ठुकराती रहती हैं, तुलना करते हैं, तब हमें व्यक्तित्व-संनिधान के विषय में किए गए उक्त प्रश्न का उत्तर सहज ही में मिल जाता है। और यह उत्तर यह है कि जब कि कवि की रचना पाठक के मनोवेगों को अभिनंदित करती है, वैज्ञानिक की कृति उसके मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालती है, और यही है वह तत्त्व, जिसकी हमें साहित्य के लक्षण के लिए अब तक खोज थी। यस किसी रचना को स्थायीरूप से रागात्मक बनाने के लिए आवश्यक है कि वह पाठक के मनोवेगों को तरंगित करे; वह उसके मस्तिष्क में न घुस कर उसके अन्तरात्मा को आप्लावित करे।

साहित्य को अमर बनाने वाले मनोवेग स्वयं क्षणभंगुर होते हैं

आइए, अब विचारें कि पाठक के मनोवेगों को तरंगित करने की इस शक्ति से साहित्य के उन दो गुणों अर्थात् स्थायिता तथा व्यक्तित्व-प्रतिबिंबनशीलता का, जिनके बिना साहित्य साहित्य नहीं कहा जा सकता, कहाँ तक स्पष्टीकरण होता है। स्थायिता के विषय में एक बड़े अचंभे की बात यह है कि कविता या साहित्य की अन्य किसी रचना को अमर बनाने वाले मनोवेग स्वयं क्षणभंगुर होते हैं। ज्ञान और मनोवेगों में बड़ा भारी अन्तर यह है कि जब कि ज्ञान में एक प्रकार की स्थायित

होती है, मनोवेग मत्स्य की भाँति निमेष मात्र मटक कर मन
जाते हैं। ज्योंही हम एक भौतिक तथ्य को भलाभाँति हृद्गत
हमारे मन का अंग बन जाता है, वह हमारे अंतःकरण में, न
समान, धँस जाता है। हो सकता है कि हम उस तथ्य को भूल
उसका भूल जाना हमारे लिए अनिवार्य नहीं है। इसी लिए जब
विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली किसी पुस्तक को पढ़ लेते हैं, त
उठाकर रख देते हैं; उसके साथ होने वाला हमारा सख्य बस हो
और उसके अंतस् में निहित हुए तथ्य हमारे मानसिक फलक
हो जाते हैं। दूसरी ओर मनोवेगों का स्वभाव इस से सुतरां भिन्न
सहज ही क्षणभंगुर है। हृदय में इनकी चिनगारियाँ सी उठती और
भर चमक कर वहीं विलीन हो जाती है। मेघदूत को पढ़कर जो
भाव हमारे मन में उठते हैं वे उसके पढ़ने के दो घंटे उपरान्त लुप्त
हैं। हाँ, मेघदूत की पुनरावृत्ति करने पर वे फिर उद्बुद्ध हो जाते हैं।
उनकी इस अस्थिरता तथा मधुरता के कारण ही हम उन्हें बार बार
करते और इस काम के लिए मेघदूत को पढ़ते हैं। इस दशा में यदि
दास का मेघ-संदेश सामान्य कोटि का साहित्य हुआ तो हम उसे एक या दो
पढ़कर बस कर देंगे, किन्तु यदि उसमें विश्वजनीनता के उदाहरण संनिहि
हुए तो वह अनन्त काल तक अगणित मनुष्यों के मनोवेगों का तर्पण
करता रहेगा और उसकी गणना विश्वजनीन रचनाओं में होने लगेगी।
ध्यान रहे मनुष्य के मनोवेगों को आंदोलित करने वाला
अवलम्बों पर दृष्टि से किसी ग्रंथ की रचना को अमर बनाया करती
समय का है। हम मानते हैं कि कला अमर वस्तु है; और इसमें
स्थान नहीं रहता संदेह नहीं कि काल का अवलम्ब ले हुए साहित्य
हैं और उनका

रचनाएँ आज भी उतनी ही नवीन हैं, जितनी कि वे अपने रचयिता के जीवन-काल में थीं। और यह सब इसलिए कि महाकवि कालिदास मनुष्य के मनोवेगों को तरंगित करते हैं, और मनोवेग व्यक्तिरूप में प्रतिक्षण विलीन होते रहने पर भी अपनी संतति के रूप में अनन्त काल तक अविच्छिन्न बने रहते हैं। संभव है कि समय की प्रगति और सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारे मानसिक वेगों प्रेमतन्तुओं तथा कल्पनाओं में परिवर्तन आ जाय, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि हमारे मनोवेग सदा मनोवेग बने रहेंगे और हमारे सूक्ष्म शरीर में व्याप्त होने के कारण वे सदा हमारे स्थूल शरीर को अपना वशवद बनाए रखेंगे। वस्तुतः विकास की प्रक्रिया हमारे विचारों का परिष्कार करती है, उसका हमारे मनोवेगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रामवनवास के अनंतर जंगल में अपने ज्येष्ठ भ्राता राम की चरण-सेवा में निरत हुए लक्ष्मण के मन में अपने भाई भरत को दल-बल-सहित अपनी ओर आता देख जो क्रोधाग्नि भड़की थी वह आज भी उस परिस्थिति में पड़ने पर हम सब के मन में उसी प्रकार प्रज्वलित हो सकती है। दुष्यंत के प्रेमपाश में फँस उसकी स्नेह-वीचियों से प्लावित हुई तापस शकुन्तला को उसके द्वारा भरी सभा में प्रत्याख्यात होने पर जो अर्बुद निराशा हुई थी वह आज भी उस परिस्थिति में पड़ने पर हर धर्मप्राण रमणी को हो सकती है। हजारों बरस बीत जाने पर भी लक्ष्मण और शकुन्तला की वे भाव-भंगियाँ हमारी आँखों में बस रही हैं; पूछो तो वे हमारी आत्मा का एक अंग बन गई हैं।

वैज्ञानिक तथा साहित्यिक

कहना न होगा कि मनोवेगों को तरंगित करने वाली यह रहस्यमयी शक्ति ही कवि की रचना में अपने रचयिता के व्यक्तित्व को संपुटित करती है; क्योंकि यह बात एकमात्र भावना के क्षेत्र में ही संभव है कि एक लेखक अपने द्वारा किये

न ही भेद   वह जीवन-व्याख्यान में अपने व्यक्तित्व को, अपनी ही
रीति से प्रकट करता हुआ, अपनी रचना पर अपने भावों
मुद्रित कर रखे । भौतिक सत्य तो—जहाँ तक उनका हमारी चर्मचक्षु से
न्ध है—सब को एक ही रूप में दृष्टिगत होते हैं । सभी की दृष्टि में सदा
और दो चार होते हैं और सभी वैज्ञानिकों को सदा से प्रत्येक भौतिक
ार्थ एक ही रूप में दीखते आए हैं । विज्ञान का प्रादुर्भाव, सब को एक
प में दीख पड़ने वाले भौतिक तत्त्वों की समष्टि में हुआ है । और क्योंकि
मूर्त तत्त्वों में किसी प्रकार का भेद नहीं है, इसलिए इनके वाचात्मक
ाख्यान में भी किसी प्रकार का भौतिक भेद नहीं होता । गुलाब के प्रफुल्ल
प का स्फुटन सभी वनस्पति-शास्त्रियों की दृष्टि में समान रूप में नन्हीं
न्हीं पटलियों तथा उनके मध्य विराजमान हुए पुष्प-पराग से होता है ।
नकी आँख उस दृश्यमान मूर्त तक जाकर बस कर जाती है । अब, दर्शन
: जिस बिंदु पर वनस्पति-शास्त्र की इतिकर्तव्यता है वहीं से कवि की
अंतर्दृष्टि का व्यापार आरम्भ होता है । कवि एकांत के मधुमय मानस में
खिलकर समय तथा देश की सूक्ष्म वीचियों पर अनुराग-भरे स्मित की
पीयूषवर्षा करने वाले उस गुलाब पर अपने हृदय के उन सब भावों को
आरोपित कर देता है जो हमारी जीवन-निशा को सुखमय बनाते हैं और
जो हमारी मरणघड़ी को आशामय बनाते हैं । ज्योतिर्विज्ञान यह बताकर
कि चंद्रमा पृथ्वी से कितनी दूरी पर है, उसका क्षेत्रफल क्या है, वह किससे
प्रकाश पाता है, चुप हो जाता है । वही चंद्रमा कवि के कल्पनामय जगत् में
साहित्य संसार का शृंगार, संयोगियों का सुधासार, वियोगियों का विषागार,
उपमाओं का भंडार और उत्प्रेक्षाओं का आसार बन जाता है । रजनी के
अनभ्र-नभ में टिमटिमाते तारागण दूरदर्शी यंत्र से विपुलकाय दीख कर रह
जाते हैं, अणुवीक्षण मंत्र से उनके आकार प्रकार का आभास हो जाता है

और यहीं बस। किंतु विरहविधुर कवि को उन तारों में समवेदना का समुद्र उमड़ा दीख पड़ता है। उसकी कल्पनानिशित दृष्टि उनके भौतिक गोल को कभी पुष्प के रूप में परिणत करती है, तो कभी प्रणयिनी के घर को दिपाने वाले दीपकों के रूप में बदल देती है। कभी उनमें उसे प्रेयसी के नेत्रों का आभास होता है तो दूसरे क्षण में वे उसे आकाश की नीली चुन्नी में सलमे बनकर दीखने लगते हैं। कवि की यह अंतर्दृष्टि ही, उसकी यह दृश्यमान जगत् पर मनचाहा रंग फेरने की शक्ति ही उसकी रचना में उसके व्यक्तित्व को कीलित कर देती है, यह विद्युन्मयी त्वरित कल्पना-शक्ति ही उसे उसकी रचना में ला बैठाती है। 'दो और दो चार होते हैं' इसको सभी समान रूप से कहते हैं। उनके इस विचार और कथन पर उनका व्यक्तित्व नहीं मुद्रित होता। इसके विपरीत भावनाओं के क्षेत्र में दो व्यक्तियों का अनुभव कभी एक सा नहीं होता। ज्यों ही एक तत्त्व, विज्ञान के क्षेत्र से सरक भावना के क्षेत्र में पदार्पण करता है, त्यों ही उसके स्पर्शादि गुणों में एक वैचित्र्य आ जाता है, और इस वैचित्र्य का वर्णन करने वाले साहित्यिक को, इस काल्पनिक वैचित्र्य के निदर्शन का अवसर मिल जाने के कारण, अपने व्याख्यान पर अपने निजू व्यक्तित्व को मुद्रित करने का संयोग मिल जाता है। विज्ञान की भाँति साहित्य कभी भी तत्त्वों को उनके प्रतीयमान रूप में हमारे संमुख नहीं रखता; वह उन पर कल्पना का मुलम्मा चढ़ा कर, उनको मनोरागों से अनुरंजित करके किसी और ही, अनूठे, अटपटे, चमत्कृत रूप में प्रस्तुत करता है; और जो साहित्यिक जितनी दक्षता, भव्यता, विशदता तथा व्यापकता के साथ इस वैचित्र्य को संपन्न करता है वह उतना ही अधिक और उतने ही अधिक रुचिर रूप में अपनी रचना पर अपने व्यक्तित्व को अंकित किया करता है।

स्मरण रहे, मनोवेगों को तरंगित करने की इस शक्ति में हमें उन

मैथ्यू आर्नल्ड
द्वारा किया
या कविता
का लक्षण
थार्थ में
त्य का
ण है

और बहुत से उपकरणों की उपलब्धि होती है, जिन्हें हम
किसी यथार्थ साहित्यिक रचना में पाया करते हैं। मैथ्यू
आर्नल्ड के अनुसार जीवन की आलोचना को कविता
कहते हैं। भले ही इस लक्षण में अस्पष्टता हो, किंतु यह
सत्य है कि कविता, कवि द्वारा की गई जीवन की आलो-
चना है; यह कवि के मन पर अंकित होने वाले जीवन के
वे सूक्ष्म प्रभाव हैं, जिन्हें आत्मसात् करके वह अपनी
वाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है। किंतु कविता का यह
लक्षण कविता तक ही परिसीमित न हो साहित्यमात्र पर
ै; क्योंकि कविता के समान इतर साहित्य भी जीवन की समालोचना
उसे रागमय वचनों में हमारे सम्मुख रखता है फलतः उक्त लक्षण
र परिष्कार करके हम कह सकते हैं कि साहित्य जीवन के प्रका-
ा उसके व्याख्यान को कहते हैं। इस विषय में यह बात स्म-
चाहिए कि मनोवेगों को तरंगित करने वाली शक्ति ही है, जो
ीवन की व्याख्या करने में सफल बनाती है। क्योंकि जीवन—
हमारे सम्मुख प्रपंचित है—वस्तुतंत्र तथा तथ्यों का नहीं, हमारे
अनुशासनों का भी नहीं, अपितु हमारे मनोवेगों का संतान-
का अविच्छिन्न प्रसारमात्र है। मनोवेग ही हमारी इच्छाओं
उन्हीं में हमारे क्रिया-कलाप की उत्पत्ति होती है। हमारे
टी हमारे मनोवेग हैं, हमारे जीवनतंतुओं की तकली हमारा
वह साहित्य, जो एक साथ लेखक के मनोवेगों को
र पाठक के मनोवेगों को आंदोलित करता है, हाँ, जीवन
रसमय अंकन है, उसका सबसे अधिक पते का, जोता

साहित्य के प्रस्तुत लक्षण के विषय में यह आपत्ति की जा सकती है कि यह आवश्यकता से अधिक संकुचित होने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित है। हम यह मान भी लें कि जिस किसी रचना में मनोवेगों को प्रगुदित करने की शक्ति हो, वह साहित्य है, क्या विपरीत रूप से हम यह भी कह सकते हैं कि जो भी रचना साहित्यपदमाक् है, उसमें मनोवेगों को त्वरित करने की शक्ति अनिवार्य रूप से रहनी चाहिए। सब जानते हैं कि इतिहास साहित्य के प्रधान अंगों में एक है। किन्तु इससे पाठक के मनोवेगों का प्रगुदन नहीं होता। यह तो जीवन-क्षेत्र में घटी हुई घटनावलियों का लेखामात्र है; और साहित्य का उपर्युक्त लक्षण इस पर नहीं घटता। फलतः साहित्य का उक्त लक्षण वास्तव में कविता का लक्षण है, साहित्य-सामान्य का नहीं।

साहित्य और इतिहास

इस आक्षेप के उत्तर में हम यही कहेंगे कि जो भी रचना साहित्यिक है, उसमें मनोवेगों को आंदोलित करने की शक्ति का होना अनिवार्य है। हम इतिहास को साहित्य उसी सीमा तक कहेंगे जहाँ तक कि वह अतीत घटनाओं की आवृत्ति करता हुआ भी हमारे मन की भावनाओं को गुदगुदाता हो, हमारे मन में आनन्दमयी उथल-पुथल मचा देता हो। इतिहास के वे अंश, जिनका एकमात्र लक्ष्य घटनावलियों की आवृत्ति करना है, साहित्य नहीं, अपितु कोरे लेखे मात्र हैं। ऐतिहासिक कलाकार की सफलता या असफलता इस बात से परखी जाती है कि वह कहाँ तक इतिहास के उन गुणों को, अर्थात् वर्ण्य घटनाओं की तथ्यता उनकी पूर्णता और उसकी अपनी पक्षपात-शून्यता को—जिनका किसी भी इतिहास में होना अनिवार्यरूपेण आवश्यक है—मनुष्य के उन मनोवेगों के साथ गुथ कर अंकित करता है, जो उसके द्वारा वर्णित घटनाओं के मूल स्रोत हैं,

ोर जो इलियड, ओडेसी, रामायण और महाभारत के काल के समान, ाज भी हमारी हृदयतन्त्रियों में तरंगित हो रहे हैं। उनके इतिहास में जहाँ में अतीत घटनाओं की सुगठित पंक्तियाँ सजी दीख पड़ती हैं, वहाँ हमें न घटनाओं को अपने परदों में प्रकटित हुए मनुष्यों और उनके रहे ारों के चेहरे भी दीख पड़ते हैं। और जहाँ हमें रामायण को पढ़ते मय राम-रावण तथा दशरथ-कैकेयी के ऊपर पड़ने वाली रोम-हर्षक नाओं का फिर से दर्शन होता है, वहाँ हमें साथ ही जराग्रस्त दशरथ , उनकी प्राणप्रिया महिषी कैकेयी के हाथों प्राण-पखेरू निकलते दीख ते हैं। और यह जानकर कि उस समय दशरथ के भीतर उठने वाली ंतुद टीस और उसके रोम-रोम को सालने वाली शूल-शलाकाओं में हम कभी बिंध सकते हैं, हमारी आँखों में सावन भर आता है और हम ल्मीकि के साथ एकस्वर हो नियतिचक्र को धिक्कारने लगते हैं। जिस ा तक एक इतिहासकार अतीत घटनाओं को घटाने वाले देव-ग्यों के साथ हमारा तादात्म्य संबंध स्थापित करके हमें फिर से, इस रपिंजर में पिहित रहने पर भी, अतीत के क्षेत्र में घुमा-फिरा कर हँसा र रुला सकता है, उसी सीमा तक उसके इतिहास को हम साहित्य के ा से विभूषित करेंगे।

हित्य और विज्ञान

ऊपर की गई विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार विज्ञान और साहित्य में मौलिक भेद है उसी प्रकार वैज्ञानिक तथा साहित्यिक पुस्तकों के स्वभाव में भी अंतर है। किन्तु जिस प्रकार कला तथा ललित कलाओं में अन्तर होने पर भी मौलिक समानता है, उसी प्रकार त्य में विज्ञान और विज्ञान में साहित्यांश का होना संभव तथा वाञ्छनीय है। विज्ञान और साहित्य के भेद को दर्शाने के लिए हम ने फूल का

उदाहरण देते हुए बताया था कि एक वनस्पतिशास्त्री की चर्मचक्षु पुष्प के पटल, पराग, पौधे और उसकी शाखाप्रशाखाओं के साथ होने वाले उसके संबंध, उसके जन्म, स्थिति, भंग तथा पुनरुत्पत्ति की भौतिक प्रक्रिया के बौद्धिक विवेचना तथा विश्लेषण में ही व्याप्त होकर शांत हो जाती है, जब कि एक कवि की निर्माणमयी अंतर्दृष्टि उस प्रसून को देख उसकी सत्ता के मूल में पैठती और वहाँ से उसके जीवन के चरम सार सौंदर्य को पीकर बाहर उभरती है। कवि के काल्पनिक चित्रपट पर खड़े हो उस प्रसून के पटल और पराग शतधा मुखरित हो उठते हैं और उसे उन सब भव्यभावनाओं का संदेश देते हैं जिनके लिए उसका हृदय प्रतिपल लालायित रहता आया है। वैज्ञानिक की बुद्धि में प्रसून के पटल और पराग निर्जीव बन कर आए थे, वही कवि के क्षेत्र में पहुँच सजीव बनकर फड़क जाते हैं और उनमें उसी सौरभभरे सौंदर्य की उपलब्धि होती है, जो उसे बालकों के तुतलाते ओठों पर मिलता है, जो उसे तापस बालाओं के स्मित में प्राप्त होता है और जो ध्यानपूर्वक देखने पर सरिता, सागर तथा अंबरतल में खुले हाथों बिखरा दीख पड़ता है। विज्ञान का संबन्ध निर्जीव पदार्थों के निर्जीव विश्लेषण से है; साहित्य का संबन्ध निर्जीव पदार्थों में भी जीवन का उद्बोधन करके उनके साथ कवि और

…वंत्र स्वरों के साथ ग्रंथित होने लगते हैं। इसमें संशय नहीं कि संगी…
…नाविध लहरियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनाओं को उद्बुद्ध कर…
…लक्षणा द्वारा किसी सीमा तक विचारों को भी जन्म देती हैं; किन्तु…
…चार, बुद्धि से उत्पन्न हुए ये तत्त्व प्रायः अनिश्चित तथा अनिर्धारित…
हैं। किन्तु एक प्रवीण संगीतज्ञ अपने नाद में लयचित्र खड़े…
…के अथवा अपने संगीत में कविता को मिलाकर संगीतज्ञ लक्षणाओं…
यथासम्भव निश्चित तथा निर्धारित रूप देकर संगीत के प्रभाव…
घनता उत्पन्न कर सकता है। परन्तु यह सब होने पर भी संगीत का…
…त्यक्ष प्रभाव श्रोता की भावनाओं पर पड़ता है, उसके किसी संकलित…
अनुभवविशेष पर नहीं। सामान्यतः संगीत के प्रभाव में पूरी पूरी घनता…
और सांद्रता तब आती है, जब उसमें किसी अन्य तत्त्व का, अर्थात्…
वागात्मक कविता आदि का, संकलन न हो, जैसे वादित्र भवन में नादित…
होते हुए वाद्यों के स्वर में अथवा श्रोता के लिए अपरिचित भाषा में…
गाने वाले गायक की तान में। यह सब होने पर भी मानना पड़ेगा कि…
संगीत का प्रत्यक्ष प्रभाव भावनाओं पर पड़ता है, विचार आदि पर नहीं।…
संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संगीत वह नाद अथवा भाषा है, जिसमें…
भाव अत्यंत स्वाभाविक रीति से मुखरित होते और श्रोता की…
समवेदना तथा भावनाओं को उद्बुद्ध करते हैं। वस्तुतः देखा जाय…
भावना के वे सभी स्वतःप्रवर्तित प्रकाशन, जो उत्कट होने पर भी मनु…
के वश से बाहर नहीं होते, संगीत के समान हैं; और इस दृष्टि से दे…
पर हास्य, रोदन, आक्रन्दन, उद्घोषणा तथा चमक कर किए गए बातों…
इन सब में वही लय, ताल तथा चलन है, जो संगीत में पाए जाते हैं।…
प्रत्यक्षरूपेण मनोवेगों को लहरित करने वाले संगीत का प्रभाव और…
…नाओं के प्रभाव से कहीं अधिक घन तथा उत्कट होने पर भी…

समान चिरजीवी न होकर, अल्प समय में ही नष्ट हो जाता है; और जहाँ अन्य कलाओं का प्रभाव भावना के साथ साथ विचार पर भी पड़ता है, वहाँ संगीत का प्रभाव भावना के क्षेत्र में परिसीमित रहता है; और यही कारण है कि संगीत का हमारे तर्कोद्वेलित चारित्रिक जीवन पर वह प्रभाव नहीं पड़ता जो अन्य ललित कलाओं का पड़ता है।

हाँ, हम कह रहे थे कि एकांततः भावनाओं को प्रमुदित करने की शक्ति एकमात्र संगीत में है। रंग रूप के आधार पर खड़ी होने वाली वास्तुकला और चित्रकला में भी यह बात नहीं देखी जाती। वे अपना लक्ष्य-सिद्धि के लिए हमारे सम्मुख सौंदर्य के मूर्त प्रतीक उपस्थित करते हैं, जिन्हें हम अपनी बुद्धि से आत्मसात् करते और जिनका हमारी अनुभूति में निहित भावनाओं के साथ संबंध रहता है। प्रतिमा और चित्र में एक ऐसी बात होती है जो संगीत में नहीं मिलती। फिर साहित्य तो विशेषतः किंचित् निर्धारित हुए बौद्धिक तत्त्वों अर्थात् विचारों द्वारा व्याप्त होता है। भावनाओं के प्रति होने वाली साहित्य की अपील अनिवार्य रूप से अप्रत्यक्ष होती है। वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला की नाईं साहित्य में भी यह अपील पाठक की बुद्धि के सम्मुख द्रव्यविशेष, व्यक्तिविशेष तथा घटनाविशेष प्रस्तुत करके ही की जाती है, और वह वृत्ति जिसके द्वारा इस प्रक्रिया की निष्पत्ति होती है, कल्पना है। भावनाओं को तरंगित करने वाली इस वृत्ति का साहित्य में होना अत्यावश्यक है।

साहित्य का आधार कल्पना है

इसके साथ ही साहित्य-समीक्षण में हमें बुद्धि के साथ संबंध रखने वाले एक और तत्त्व पर ध्यान देना उचित है, जो सब प्रकार के लेखों की आधारशिला है और जिसे हम सत्य अथवा तथ्य के नाम से पुकारा करते हैं। साहित्य की कतिपय विधाओं

साहित्य में सत्य का

होना आवश्यक है

का तो सत्य ही मान्य होता है और उसी की यथार्थ परिनिष्ठा में उनके प्रामाण्य की इयत्ता होती है। उदाहरण के लिए, हम एक ऐतिहासिक पुस्तक की गरिमा
ो इस कसौटी पर नहीं परखेंगे कि उसने हमारी भावनाओं को कहाँ तक
द्बुद्ध किया है, अथवा उसने हमारे कल्पना-जगत् को कहाँ तक सुशोभित
िया है; इतिहास के महत्त्व को हम इस मानदंड से परखते हैं कि उसमें
थार्थता, परिपूर्णता, पक्षपात-शून्यता और उचित निर्णायकता कहाँ तक
म्पन्न हो पाए हैं। साहित्य को इतर विधाओं के सौष्ठव को हृद्गत
रने के लिए भी हम उनके आधारभूत सत्य अथवा तथ्य के मानदंड से
ी काम लेंगे; और सत्य की इस चरम कसौटी के महत्त्व को पहचान लेने
र हमें कविता का उत्कर्ष भी कवि के काल्पनिक जगत् के मूल में संनिहित
ए सत्य में ही दीख पड़ेगा। क्योंकि हम जानते हैं कि बौद्धिक तत्त्व अर्थात्
िचार के उचित मात्रा में न रहने पर हमारे उत्कट मनोवेग क्रोध, मात्सर्य
था इसी प्रकार के अन्य उग्र रूपों में परिवर्तित हो जाते और हमारे
रर्गल त्वरित मनोवेग भावुकता अथवा चिड़चिड़ेपन में बदल जाते हैं।
ःसंदेह असत्य अथवा भ्रांत सत्य अस्वस्थ भावनाओं का जन्मदाता है
ौर हमारे जीवन के मूलभूत विचारों में जब तक किसी महान् आदर्श
ा उत्थान नहीं होता तब तक हमारे अन्तःकरण में सांद्र तथा बलवती
ावनाओं का विकास भी नहीं हो पाता।

अंत में किसी भी साहित्य-रचना के सौष्ठव को परखने में हमें उसकी

ना-शैली

रचना-शैली पर भी ध्यान देना होगा। भावना, कल्पना और विचार इन सभी का प्रकाशन भाषा द्वारा होता है। यदि साहित्य का प्रतिपाद्य विषय उसका आत्मा है तो
सका प्रतिपादक, अर्थात् भाषा उसका शरीर है। आत्मा के परिनिष्ठित

तथा परिपूर्ण होने पर भी यदि उसके व्यापार का केंद्र-शरीर भग्न अथवा वक्र हुआ तो उसके द्वारा आत्मा का उचित प्रकाशन असंभव है। ठीक यही बात साहित्य के विषय में कही जा सकती है। क्योंकि मनोवेगों के प्रति स्थायी अपील करने की शक्ति—जिसे हमने साहित्य का सर्वस्व माना है—जहाँ विषय की रसवत्ता पर निर्भर है, वहाँ वह, उस विषय को किस प्रकार से कहा गया है, इस पर भी बहुत कुछ अवलंबित है।

इस प्रकार किसी भी साहित्यिक रचना के सौष्ठव को परखने के लिए हमें उसकी अंगीभूत इन चार बातों पर ध्यान देना चाहिए—

१. भावना अथवा रागात्मक तत्त्व, जो हमारे लक्षण के अनुसार साहित्य का सर्वप्रथम परिच्छेदी गुण है। साहित्य की आदर्श रचनाओं का ध्येय भावनाओं को स्फुरित करना होता है तो उसकी सामान्य रचना अर्थात् इतिहास आदि में यह किसी ध्येय-विशेष की उपलब्धि का एक साधन बनकर आता है।

२. कल्पनातत्त्व—अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे कवि अपनी रचना में संपुटित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के संमुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है, और जिसके अभाव में भावना अथवा रागात्मक तत्त्व की परिनिष्ठा नहीं हो पाती।

३. बुद्धितत्त्व—अर्थात् वे विचार, जिन्हें एक लेखक या कवि अपने विषय-प्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी कविता में अभिव्यक्त करता है और जो संगीत के अतिरिक्त और सभी कलाओं के आधारभूत हैं। साहित्य की सभी उपदेशपरक अथवा प्रबोधक रचनाओं में इस तत्त्व की प्रधानता होती है; क्योंकि यह उस अंश की पूर्ति करता है जिसके उद्देश्य से इस प्रकार की पुस्तकें लिखी जाती हैं।

४. रचनाशैली—जो कि स्वयं एक उद्देश्य नहीं, अपितु हमारे भावों

...को प्रकाशित करने के प्रमुख साधनों में से एक है।
...र के शब्दों में पाश्चात्य रीति से उन तत्वों का दिग्दर्शन कराया गया
... से साहित्य की निष्पत्ति होती है। इन तत्त्वों को भलीभाँति समझ
...हमारे लिए संस्कृत-साहित्याचार्यों द्वारा दी गई साहित्य की परिभाषा
... हो जाती है।

...ब्द

...है

...स्कृत के सहित शब्द का अर्थ है साथ और उसमें भाववाचक प्रत्यय जोड़ देने पर साहित्य शब्द की सिद्धि होती है; जिसका आशय होता है, समन्वय, साहचर्य, अर्थात् दो तत्त्वों की सहचरी सत्ता। साहित्य पर विचार करते समय ... चुके हैं कि उसकी प्रमुख वृत्ति हमारे मनोवेगों को तरंगित ..., और मनोवेगों के तरंगित होने पर हमारा बाह्य जगत् के साथ ...त्मक संबंध स्थापित होता है जो अपनी चरमकोटि पर पहुँच कर ...त् के साथ हमारा ऐक्य स्थापित कर देता है। इस अनुभाव्य और ... के तादात्म्य को ही रस कहते हैं और इस रस वाले वाक्य को ... साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य अर्थात् साहित्य कहा है।

...आधार

...ऐक्य

...त्य से उद्भूत होने वाले ऐक्य को हम दूसरे प्रकार से भी व्यक्त कर सकते हैं। प्रत्येक साहित्यिक रचना में हमें दो तत्त्व दीख पड़ते हैं: एक अर्थ और दूसरा शब्द। यह भी पहले कहा जा चुका है कि साहित्य-दर्शन में और सामान्य अथवा ...र्शन में मौलिक भेद है। सामान्य जन तथा वनस्पतिशास्त्री एक ... को उसके पटल और पराग के समवाय के रूप में देखते हैं, जब ...उसके पटल तथा पराग को, कल्पना के द्वारा, किसी और ही रूप ...ता-सा, कुछ मुसकराता-सा, कुछ कहता और बुलाता-सा देखता ... वह दृश्यमान पदार्थों को, उनके प्रतीयमान रूप में नहीं, अपितु

उस प्रतीयमान के मूल में निहित सत्, चित् और आनन्द के रूप में देखता है। जिस प्रकार एक कवि का पुष्पदर्शन वैज्ञानिकों के पुष्पदर्शन से भिन्न प्रकार का है, इसी प्रकार उस दर्शन को निष्पन्न कराने वाले अर्थ और शब्द भी उसके सामान्य पुरुषों के माने हुए अर्थ और शब्द से भिन्न प्रकार के होते हैं। सामान्यजनों की दृष्टि में शब्द और अर्थ दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। इन लोगों के मत में शब्द विनाशी वर्णों की एक शृंखला है, जो उच्चरित होते ही अपनी वर्णरूप कड़ियों के साथ नष्ट हो जाती है। दूसरी ओर वेदांतियों के मत में शब्द एक अविनाशी ध्वनि है, जिसे स्फोट कहा जाता है, और जो वर्णों की शृखला के द्वारा अभिव्यक्त होती है। अपने अभिव्यंजक वर्णों के चर होने पर भी यह मूलरूपेण अक्षर और अविनाशी रहता है। दूसरी ओर अर्थ भी व्यक्तिरूपेण नश्वर होता हुआ भी, परिणाम, परंपरा अथवा अपने मूलभूत तत्त्व के रूप में अव्यय और अविनाशी है। दूसरे शब्दों में सामान्य जनों द्वारा प्रयुक्त हुआ "प्रसून" शब्द और उसका वह दृश्यमान अर्थ दोनों अनित्य हैं, एक सुना जाकर शून्य में विला गया और दूसरा देखा जाकर कतिपय दिनों में झड़ गया। किंतु कालिदास के द्वारा प्रयुक्त हुआ "प्रसून" शब्द और उसको कल्पनाभरित आँखों द्वारा देखा गया प्रसून तत्त्व, अपने प्रतीकरूप के झड़ जाने पर भी, सदा एकरस बना रहता है, वह अपने स्थूल प्रतीक के रूप में न रहने पर भी सदा हरा-भरा रहता है और कवि को दीखा करता है। बस, अनित्य वर्णों के द्वारा नित्य स्फोट को और अनित्य प्रतीकों के द्वारा नित्य मौलिक तत्त्व को परस्पर संबद्ध करना और उन्हें उस रसमय रूप में पाठकों के संमुख रखना ही साहित्य अर्थात् साहचर्य-स्थापक रचनाओं का प्रमुख लक्ष्य है।

साहित्य की इसी रहस्यमय प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ध्वन्यालोककार ने लिखा है:—

अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

अर्थात् काव्यरूपी जो अनन्त जगत् है; उसमें कवि ही प्रजापति है—उस जगत् का सृष्टिकर्ता वही है। उसे जिस प्रकार का जगत् रुचता है, इस जगत् को उसी प्रकार में बदल जाना पड़ता है।

वस जगत् का दीखने वाले प्रकार से, कवि को रुचने वाले प्रकार में बदल जाना ही साहित्य का सार है: और इसी प्रक्रिया को पिछले आचार्यों ने रस आदि के नाम से पुकारा है। इस रस तक पहुँचने के लिए अग्निपुराण, दंडी, रुद्रट, आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट, वाग्भट, पीयूषवर्ष, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ को अनेक घाटियाँ तै करनी पड़ी हैं; इनमें घुमना हमारे लिए न तो उचित है और न आवश्यक ही।

साहित्य और भाव

साहित्य के तत्त्व नामक प्रकरण में हम बतायेंगे कि रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायी भावों से होती है। किंतु वह कौन सी प्रक्रिया है, जिससे इन चार उपकरणों द्वारा रस की निष्पत्ति होती है और इस सामग्री से रस का क्या संबंध है, इस प्रश्न का उत्तर भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद से दिया है और शंकुक ने अनुमितिवाद से। दोनों के उत्तरों से असंतुष्ट हो भट्टनायक ने अपना भुक्तिवाद चलाया। आचार्यों की तृप्ति इसमें भी न हुई और अभिनवगुप्त ने पहले सब मतों का खंडन करके अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की। आगे चलकर किंचित् परिष्कार के साथ आचार्यों ने इसी मत को स्वीकार किया।

स्पष्ट ही है कि साहित्य के मार्मिक तत्त्व अर्थात् रस के भली भाँति हृद्गत कर लेने पर, और यह जान लेने पर कि यह तत्त्व विनाशी नहीं, अपितु शाश्वत है, यह समझ लेना सहज हो जाता है कि इसे उत्पन्न होने वाला न कहकर अभिव्यक्त होने वाला कहना अधिक युक्ति-युक्त है और

अभिव्यक्त होने पर, क्योंकि यह रसरूप है, इस लिए इसकी मुक्ति अर्थात् चर्वणा भी एक स्वाभाविक बात है। इन मतों के गड़बड़-झाला में न पड़ हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि साहित्य के पाश्चात्य लक्षणों की भाँति उसके पौरस्त्य लक्षणों में भी उसके आनन्दोत्पादन-रूप पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, और उसे ज्ञानोत्पादन अथवा प्रचार के कार्य से दूर रखा गया है। हमारे आचार्यों के अनुसार भी साहित्य के लिए सब से अधिक आवश्यक बात यह है कि वह अपने विषय तथा रचना-शैली से पढ़ने तथा सुनने वालों के हृदय में उस अखण्ड आनन्द का प्रवाह बहावे जो रसानुभव अथवा रसपरिपाक से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य अथवा काव्य के पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों ही लक्षणों में, उसके द्वारा मनोवेगों के प्रति की जाने वाली अपील पर, जिसे हम रस-निष्पत्ति अथवा जीवन के साथ रागात्मक सम्बन्ध-स्थापन के नाम से भी पुकारा करते हैं—सब से अधिक बल दिया गया है।

साहित्य के तत्त्व

साहित्य की परिभाषा पर विचार करते हुए

साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष

साहित्य उन रचनाओं का नाम है, जो श्रोता अथवा पाठक के मनोवेगों को तरंगित करती हों। और यद्यपि जिस प्रकार प्रतिमा में उसकी सामग्री और निर्माण-कला का ऐक्य हो जाने के कारण दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार साहित्य में भी शब्द और अर्थ को पृथक् करना, साहित्य का स्वत्व

नष्ट कर देना है, तथापि तत्त्वावबोध की सुविधा के लिए हम साहित्य
उसके भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष इन दो भागों में विभक्त कर उन पर विचा
करेंगे।

कहना न होगा इन दोनों पक्षों में भाव-पक्ष की प्रधानता है और
कला-पक्ष उसके प्रकाशन अथवा उसकी आत्माभिव्यक्ति
में सहायक होने के कारण किसी सीमा तक गौण है।
और क्योंकि साहित्य का प्रमुख ध्येय मनुष्य के आंतरिक
बाह्य जगत् को कल्पना-पट पर चित्रित करना है; इस लिए जिस प्रकार
य का वह जगत् अपनी बहुमुखता, बहुरूपिता तथा विविधता के कारण
रूप से बुद्धिगम्य नहीं है, उसी प्रकार उसके व्याख्यान-रूप साहित्य के
क्ष का सम्यक् निदर्शन भी सुतरां दुरूह तथा कठिन है। चराचर विश्व
णित जन्तुओं की चित्त-वृत्ति का तो कहना ही क्या, स्वयं एक व्यक्ति
-वृत्ति भी सदा एक-सी नहीं रहती; और उसकी चित्त-वृत्तियों से
होने वाला क्रियाकलाप जितना ही विविध होता है, उतना ही वह
बाह्य होता जाता है। साहित्य के भाव-पक्ष को सम्यक् प्रदर्शित करने
कार की अनेक कठिनाइयाँ हैं।

प्रकार मनुष्य में अनादिकाल से भाषा द्वारा अपने अन्तरात्मा
को और अपने साथ संबद्ध हुए इस चराचर विश्व को
प्रकाशित करने की इच्छा बलवती रहती आई है, उसी
प्रकार उसमें सौंदर्य-वृत्ति के निहित होने के कारण अपनी
भाँति के उपायों द्वारा चमत्कृत करने की प्रवृत्ति भी अनादि
रहती आई है। साहित्य-कला का मूल भाषा को चमत्कृत करने
में निहित है; और साहित्य-शास्त्रियों ने इस आदर्श को अनेक
बद्ध करते हुए चमत्कार के अगणित रूपों का वर्गीकरण किया

नावण्य के विवरण
में कठिनता

और साथ ही उनके लक्षण भी किए हैं। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यों
। उचित उठ-बैठ, शब्दों की लाक्षणिक तथा व्यंजनामूलक शक्तियों का
मुचित प्रयोग, ये बातें कलापक्ष के विकास में प्रमुख सीढ़ियाँ हैं और इन
ा विस्तृत विवरण ही अलंकार-शास्त्रों तथा लक्षण-ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय
। प्रस्तुत प्रकरण में हम संक्षेप से साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष का
रेपाक करने वाले तत्त्वों पर विचार करेंगे।

साहित्य का लक्षण करते हुए हमने यह भी लिखा था कि प्रत्येक साहित्यिक रचना की भित्ति उसके भाव-पक्ष में अनिवार्यरूप से दृष्टिगोचर होने वाले तीन तत्त्व अर्थात् भावतत्त्व (=रागात्मक तत्त्व), कल्पनातत्त्व और बुद्धितत्त्व पर ड़ी होती है। इसमें से एक का अभाव होने पर भी साहित्य का भाव-पक्ष र्बल पड़ जाता है और उसमें संपन्न होने वाले रस की भुक्ति चारुरूप से हीं हो पाती। अब हम इन तीनों तत्त्वों में से पहले तत्त्व अर्थात् कल्पना-त्त्व पर विचार करेंगे।

ाहित्य के
ीन तत्त्व

(१) कल्पनातत्त्व

पहले कहा जा चुका है कि साहित्य उस रचना को कहते हैं जो श्रोता अथवा द्रष्टा के मनोवेगों को तरंगित करे। यहाँ इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि वह कौन सा उपाय है जिसके द्वारा एक साहित्यिक, श्रोता या द्रष्टा के मन में ावों अथवा मनोवेगों की तरंगें प्रवाहित करता है। किस प्रकार एक कवि, ाट्यकार, उपन्यासकार अथवा चतुर आख्यायिका-लेखक हमारी भावनाओं ो स्फुरित कर हमारे मुख से "वाह वाह" कहा सकता है।

ल्पना तत्त्व

निःसंदेह यह काम केवल भावनाओं के विषय में कुछ कहने सुनने से

नहीं हो सकता। हर्ष, विषाद, प्रेम और क्रोध आदि भावनाओं के विषय
कितना भी वाद-विवाद क्यों न किया जाय, उससे श्रोता अथवा द्रष्टा के मन
में किसी प्रकार की तरंगें नहीं उत्पन्न हो सकतीं। इसमें संशय नहीं कि
आत्म-संमान स्वदेश-प्रेम तथा कीर्ति आदि पर बल देने वाली वक्तृता आदि
को सुन कर श्रोता के मन में और भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं, किन्तु भाव-
नाओं के इस जागरण में और साहित्य को पढ़ अथवा नाटक को देखकर
उत्पन्न हुई भावना-तरंगों में बहुत बड़ा भेद है।

अब यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यदि एक कलाकार भावनाओं
के विषय में वार्तालाप करके अथवा स्वयं उनकी अनुभूति
कवि पाठक के करके भी श्रोता अथवा द्रष्टा के मन में मनोवेगों को नहीं
संमुख मूर्त द्रव्य तरंगित कर सकता, तो फिर वह इस काम को करता
उपस्थित करके कैसे है? इसका उत्तर होगा कि वह इस काम की निष्पा
उसके मनोवेगों को श्रोता अथवा द्रष्टा को उसके मनोवेगों को तरंगित कर
तरंगित करता है वाले तथ्य और घटनाएँ दिखाकर करता है। सब जानते
है कि केवल मूर्त द्रव्य ही हमारी भावनाओं पर अपना
प्रभाव डाल सकते हैं। जब तक हम किसी तथ्य को मूर्त रूप में अपनी
आँखों से नहीं देख लेते तब तक हमारे मन मे भावना का लहरें नहीं
उठतीं। हमने समाचार-पत्र में पढ़ा है कि जर्मन नौसैनिकों ने अंग्रेज़ों
प्रसिद्ध जंगी जहाज़ 'हुड' को डुबो दिया है। उस पर काम करने वाले
सैनिक भी उसी के साथ सदा के लिए समुद्र में सो गये। किंतु इस
को पढ़कर हमारे मन में भावनाओं की तरंगें नहीं उठतीं, और
दशा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। दूसरी ओर जब
के रामचरितमानस में कैकेयी द्वारा धोखे में सताए गए
... वर्षों वन में प्रवासित किए राम के वियोग में विलपते

ते हैं, तब हमारा मन बरबस करुणा से आप्लावित हो जाता है और हम
ने आप को भूल जाते हैं। इस भेद का कारण यह है कि समाचार-पत्र
संपादक ने हमें 'टूब' के विषय में केवल समाचार सुनाया है; उसने
' को हमारी आँखों के आगे नहीं रक्खा; उसने उस विशाल उद्वेलित
द्र को भी हमारे सम्मुख नहीं रक्खा; उसने उस विशालकाय जहाज़
और उस पर सोने, बैठने, भोजन करने और नाचने वाले सैनिकों के
दर्शन नहीं कराए; संक्षेप में उसने उस जहाज़ को हमारे सामने नहीं
ाया। फलतः हम पर इनमें से किसी भी घटना का किंचित् भी प्रभाव
ी पड़ा। दूसरी ओर महाकवि तुलसीदास हमें दशरथ-विलाप और उनके
वन का समाचार नहीं सुनाते, वे तो उन सब व्यक्तियों और उन सब
नाओं को अपनी कल्पना की तूलिका से पुनर्जीवित करके हमारे सामने ला
ा करते हैं, हम अपनी आँखों के सामने इक्ष्वाकु-कुलावतंस, चक्रवर्ती राजा
रथ को पुत्र-वियोग में ध्वस्त होता देखते हैं; हम यह सब काम उसकी
ग-प्रिया महिषी कैकेयी के हाथों सम्पन्न होता देखते हैं; और नियतियन्त्री
इस प्रचंड तांडव को देख हमारी आँखें सजल हो जाती हैं और हमारा मन
ाद-नर्वयित हो उठता है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी कल्पना के
ा निर्जीव बिंदुओं से बनी रेखाओं के रूप में आज से सहस्रों वर्ष पहले
ए श्रीराम को परिबद्ध करके हमें उनके दर्शन करा देता है—और हम
स अवाक् चित्र में श्रीराम की अमित गरिमा को मुखरित होता देख वाष्प-
द्गद् हो उठते हैं—उसी प्रकार कवि अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा आज
सहस्रों वर्ष पूर्व हुए श्रीराम को अपनी मंत्रमयी भाषा के छंदों में मूर्ति-
ान् करके हमारे संमुख उपस्थित कर देता है। अतीत को वर्तमान् में,
तथ्य को तथ्य में परिचित को अपरिचित में और अमूर्त को मूर्त
 परिणत कर देने में ही एक कलाकार की कलावत्ता है। संपूर्ण

ललित कलाओं की तुलना इस उत्पादिनी शक्ति की गरिमा पर निर्भर है। इसी शक्ति को हम कल्पना के नाम से पुकारते हैं।

कल्पना की व्युत्पत्ति-स्वरूप धातु से

भारतीय वैयाकरणों ने कल्पना शब्द की व्युत्पत्ति स्वनार्थक क्लृप् धातु से करके इसके अर्थ की गंभीर गरिमा की ओर संकेत किया है। हमारे दर्शनाचार्य वेदान्तियों ने इस बहु-रूपी नामरूप-मय जगत् को मानते। ब्रह्म की कल्पना का ज्ञान बता कर कल्पना की गरिमा को और भी गुरुतर बनाया है। शंकर ने इस कल्पना को भी कल्पना अथवा माया बताकर द्वैत की दुविधा को समूल उखाड़ते हुए इसकी महिमा को पहले से कहीं अधिक रहस्यमय बना दिया है। इसी रहस्य को रस्किन के ब्दों में हम यों व्यक्त कर सकते हैं "कल्पनावृत्ति का सार सुतरां रहस्यमय था वर्णनातीत है; यह केवल अपने परिणाम रूप में ही जानी जाती है"।

साहित्यिक क्षेत्र में कल्पना की व्याप्ति

दार्शनिक क्षेत्र को छोड़ जब हम साहित्यिक क्षेत्र में आ कल्पना के विषय में विचार करते हैं, तब यहाँ भी हमें उसकी गरिमा गंभीर बनकर दृष्टिगोचर होता है। हम कहते हैं कि अमुक कवि अथवा उपन्यासकार ने अमुक पात्र की रचना की है। उसने अमुक-अमुक पुरुष तथा स्त्री-चरित्रों का निर्माण किया है। इसमें संशय नहीं कि त्रों के कोई भी अंश ऐसे नहीं, जिनको कवि ने उनके पृथक् पृथक् रूप में न देखा हो; उसने इन पात्रों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को थक् रूप में बहुत बार देखा है, किंतु उसके द्वारा उद्भावित की गई तत्त्वों की समष्टि, उनका एक जगह उसकी रचना के रूप में होना, सुतरां एक नई वस्तु है। हम कह सकते हैं कि कालिदास द्वारा शकुन्तला पहले कभी नहीं जन्मी थी, और न उनके द्वारा उत्पादित

दुष्यंत राजा ही पहले कभी जन्मे थे। इन दोनों की कालिदास ने स्वयं रचना की है। साथ ही हम यह भी कहेंगे कि एक कवि अथवा नाट्यकार अपने पात्रों को विचार, विश्लेषण तथा अनुशीलन की प्रक्रिया के द्वारा नहीं रचता; यह सरणि तो एक दार्शनिक की हुआ करती है। कवि के संमुख तो उसके पात्र स्वयं आ खड़े होते हैं। नाट्यकार अपने पात्रों को, उन मूर्त आदर्शों को, जिन्हें उसने अपनी कल्पना के गर्भ से सजीव निकाला है, अपने समुख स्पंदित होता देखता है। जिस प्रकार अपने वत्स को देख दुधारू धेनु रोम रोम में प्रफुल्लित हो पावस जाती है, इसी प्रकार कवि पर प्रसन्न हो उसकी प्रतिभा पावस जाती है और उसके रचे सजीव काल्पनिक जगत् के रूप में प्रवाहित हो निकलती है। हम ने अभी कहा था कि कालिदास द्वारा रचे गए दुष्यंत और शकुन्तला पहले कभी नहीं जन्मे थे; इनकी रचना स्वयं कालिदास ने की है। असत् में से सत् का उत्पन्न करने की इसी प्रक्रिया का नाम कल्पना है।

किंतु हम जानते हैं कि सत् की उत्पत्ति असत् में से असंभव है। जिस प्रकार सत् वस्तु की असत् में परिणति असंभव है

२ कल्पना में असत् उसी प्रकार असत् से सत् का विकास भी असंभव है। से सत् की उत्पत्ति किंतु इसी नियम के आधार पर हम यह भी कहेंगे कि कैसे होती है? हमारी इंद्रियों का अर्थ के साथ संनिकर्ष होने पर जिन ज्ञान-तन्तुओं की उत्पत्ति होती है, वे त्रिकाल में भी ...

अनुसार हमारी आत्मा—या मन, इन अगणित ज्ञान-तन्तुओं का अमि भंडार ठहरता है। अपने भीतर निहित हुए अगणित ज्ञान-बिंदुओं के इ उर्वर ऊर्व को जनसामान्य नहीं देख सकते; किंतु अपेतमल कुशाग्रबुद्धि को इसका भान सदा होता रहता है। फलतः एक कवि का अंतरात्मा अमित ज्ञान का भंडार होता है। वह अपने भीतर विहित रहे ज्ञान की समष्टि से उत्पन्न होने वाली दिव्य दृष्टि से सदा उद्भासित रहा करता है। हमारी ज्ञानावभासित आत्माग्नि में से अखंडरूपेण निकलने वाले ज्ञानस्फुलिंगों में से प्रत्येक कण व्यष्टिरूपेण एक होने पर भी, अपने स्रोतभूत आत्मा से अभिन्न होने के कारण—जो स्वयं अगणित ज्ञानस्फुलिंगों का समवायमात्र है—समष्टिरूपेण सभी ज्ञानस्फुलिंगों का सूक्ष्म रूप है। इस प्रकार अनुशीलन करने पर हमें चिद्रूप आत्मा के क्षेत्र में समष्टि में व्यष्टि के और व्यष्टि में समष्टि के अत्यंत ही रुचिर दर्शन प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही बाह्य जगत् में भी हम इसी प्रकार की प्रक्रिया को काम करती हुई देखते हैं। विश्व का प्रत्येक कण, काल का प्रत्येक क्षण, और क्रिया का प्रत्येक स्पंदन हमें वर्णनातीत त्वरा के साथ कहीं से आता और कहीं जाता दिखाई पड़ता है। जहाँ से यह आता और जहाँ यह जाता है वह तत्त्व इसका आत्मा होने के कारण इससे भिन्न नहीं कहा जा सकता। संततिरूपेण इन तत्त्वों की समष्टि ही उस तत्त्व की आत्मा है तो व्यष्टिरूपेण यही तत्त्व इनके रूप में उच्छ्वसित तथा प्रस्फुरित हुआ करता है। फलतः जिस प्रकार हमने चेतन जगत् में समष्टि में व्यष्टि और व्यष्टि में समष्टि देखी थी उसी प्रकार बाह्य जगत् में भी हमें समष्टि में व्यष्टि के और व्यष्टि में समष्टि के बहुत ही अभिराम दर्शन होते हैं। कहना न होगा कि जिस को हम आंतर और इन दो नामों से पुकारते हैं वह मूलतः एक ही समष्टि है। दीखने हेतु केवल उसकी अपनी ही कल्पना है; अपने ही भीतर उठने वाली

सकी अपनी ही माया है।

जिस क्षण हम ऊपर निर्दिष्ट किए रहस्य को हृद्‌गत कर लेंगे उसी क्षण मारी समझ में आ जायगा कि कवि के कल्पना-जगत् में असत् से सत् की सृष्टि किस प्रकार होती है। ऊपर के विवेचन में हमने देखा था के कोई भी सत् असत् में परिणत नहीं हो सकता, फलतः अतीत काल के सभी व्यक्ति और उस काल की सभी घटनाएँ त्रिकाल में एकरस बनी रहती हैं, कवि के हृत्फलक पर वह शानशलाकाओं द्वारा कीलित रहा करती हैं। आंतरिक अथवा बाह्य जगत् में घटने वाला, दीखने में तुच्छ से तुच्छ घटनास्फुलिंग भी कवि के हृदय में निहित हुए उस अभिघन को देदीप्यमान कर सकता है; उसके भीतर निहित हुए अनंत तैल-समूह को सजीव रचना की विविध प्रणालियों में प्रवाहित कर सकता है। बस, कवि की कल्पना-सृष्टि का सार इसी बात में है।

उक्त विवेचन के अनुसार हम कल्पना, आत्मा की उस शक्ति अथवा वृत्ति को कहते हैं जो, जहाँ तक कि यह काम मनुष्य के लिए साध्य है, रचना करती है, इसे हम दैवीय उत्पादन शक्ति की प्रतिमूर्ति अथवा उसकी प्रतिध्वनि कहेंगे; उसके समान यह भी उस तथ्य को रूपवान् तथा अर्थवान् बनाती है, जिसमें पहले दोनों का अभाव था, जो पहले अरूप था और अर्थ-रहित था; यह उस सत्ता को साकार बनाती है जिसका पहले कोई आकार न था यह उस तथ्य में सार भरती है जो पहले सारहीन था, रिक्त तथा तुच्छ था। यह विनाश भी करती है, किंतु इसकी विनाशमयी वृत्ति भी पुनर्निर्माण के लिए है, बिखरे हुए सद्‌घनों को पुनःसंकलित अथवा आदर्श-रूप में परिणत करने के लिए; अथवा किसी अज्ञेय, उड़ते—फिरते, तिरमिराते तत्त्व-जात में से जीवन का स्थिर आदर्श गढ़ने के लिए। बस, आदर्श के इस सजी

कल्पना का महत्त्व

उपादान में ही साहित्य की इतिकर्तव्यता है।

इमेजिनेशन शब्द की व्युत्पत्ति और उसका रहस्य

हमने अभी कहा था कि संस्कृत में वैयाकरणों ने कल्पना शब्द की व्युत्पत्ति रचनार्थक क्लृप् धातु से करके उसके रचनात्व को अभिव्यक्त किया है। ठीक इसी प्रकार की बात हमें अंग्रेज़ी के इमेजिनेशन (imagination) शब्द में संनिहित हुई दीख पड़ती है। इमेजिनेशन शब्द का अंग्रेज़ी के इमेज (image) शब्द के साथ घनिष्ठ संबंध है, और इमेज का अर्थ है प्रतिमा, प्रतिमूर्ति, छाया और प्रतिबिम्ब। अब यदि हम इमेज शब्द के दोनों अर्थों—अर्थात् प्रतिमा और छाया को एक ही तथ्य में संकलित करके इमेजिनेशन शब्द के अर्थ पर विचार करें तो वह पहले से कहीं अधिक भव्य तथा रहस्यमय बन कर हमारे संमुख उपस्थित होता है। कल्पना के रचनात्व पर बल देते हुए हमने कहा था कि एक नाट्यकार अपने पात्रों का निर्माण करके उन्हें हमारे समुख ला खड़ा करता है। किंतु उसके रचे पात्र—उदाहरण के लिए दशरथ और राम—आज से सहस्रों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए दशरथ और राम के समान होने पर भी, शारीरिक तथा आत्मिक दोनों दृष्टियों से शतशः उन्हीं जैसे होने भी, उनसे भिन्न प्रकार के, कुछ छाया जैसे, अंधकार में उद्भूत हुए कु आभास जैसे, सघन नीहार के मध्य में से दीख पड़ने वाले कुछ सूर्यबि ऐसे, कुछ छितरे-छितरे घनपटों के मध्य में से आभासित होने वाले चंद्रव जैसे दीख पड़ते हैं। वे शतशः सजीव होने पर भी, सुतरां मानुषाकार हो पर भी, उन्हीं की भाँति सब कुछ करते हुए भी उनसे कुछ भिन्न ही प्रका के होते हैं। वे हमारे संमुख खड़े हुए भी हम से दूर रहते हैं, हमारे लि अत्यंत परिचित होने पर भी हम से अपरिचित से रहते हैं। वे हमारे रूप धारी होने पर भी अरूप, साकार होते हुए भी निराकार और सत् होते हु

भी असत् से होते हैं। क्योंकि यदि वे सचमुच सरूप, साकार तथा सत् ही तो रामायण पढ़ने के अनंतर, जब हम पर उसका प्रभाव नहीं रह जाता, तब भी हमारे संमुख खड़े रहने चाहिएँ, और हमें पहले की भाँति दीखते रहने चाहिएँ। प्रतिमा और छाया के इस समवाय में साकार और निराकार के इस संकलन में, और सत् तथा असत् के इस तादात्म्य में ही कल्पना की इतिकर्तव्यता है; और तत्त्वज्ञान का यह वही बिंदु है, जिस पर खड़े होकर हमारे वेदांतियों ने, कल्पना की इस रहस्यमय वृत्ति को कवि-जगत् तक ही परिसीमित न रख उसे जीव मात्र की परिधि में चरितार्थ बनाया है, और अंत में इस द्वैत के पसारे को एक ही आत्मतत्त्व का विविध उच्छ्वास तथा मायारूप उल्लास बताते हुए, जीव को अद्वैत का निर्वाण-पथ दर्शाया है।

कल्पना और इमेजिनेशन के रहस्य

कहना न होगा कि उक्त विवेचन के अनुसार इमेजिनेशन अथवा कल्पना कवि की वह शक्तिमयी दिव्य वाणी ठहरती है, जिसके यह कहते ही कि "यह हो" कवि का रहस्यमय जगत् अभाव की कुक्षि में से सोते से उठ खड़ा होता है; कल्पना है वह अश्रव्य दैवी संगीत, जो अपनी तान और लय द्वारा गतिशील संसार में पृथक् पृथक् उड़ते हुए, उखड़े पुखड़े फिरते संगीतालयों को जोड़ कर उनकी व्यस्त अवस्था में से तान-समान उत्पन्न कर उसे मुखरित कर देता है; कल्पना है आत्मा की वह निर्माणमयी वृत्ति, जो अकिंचित् में से सब कुछ ला खड़ा करती है; यह है उसकी वह रहस्यमय शक्ति, जो उस खड़े हुए को भी अकिंचित् सा, छाया सा बनाए रखती है, उस में घनता और मूर्तता नहीं आने देती। इसे हमने संगीत उसी दृष्टि से बताया है, जिस दृष्टि से ग्रीक तत्त्वज्ञों ने और हमारे वैयाकरण

आचार्यों ने संगीत से, स्फोटवाद से, जगत् की रचना बताई है। हमने इसे संगीत इसलिए भी कहा है कि जिस प्रकार संगीत का मनुष्य के मनोवेगों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार कल्पना का भी उसकी मनोवृत्तियों के साथ प्रत्यक्ष संबन्ध रहा करता है; क्योंकि यह साहित्यिक पुरुष की कल्पना-शक्ति ही है, जिसके द्वारा वह श्रोता अथवा द्रष्टा को उसके मनोवेगों में तरंगित कर देता है; उसे रस के प्रवाह में प्रवाहित कर देता है। कल्पना की इस रचनामयी वृत्ति का मनुष्य के साथ इतना घना संबन्ध है कि यदि हम यह भी कहें तो अत्युक्ति न होगी कि मनुष्य के समस्त मोद और प्रमोद, उसके सकल आनन्द तथा प्रसन्नता की कल्पना में ही पराकाष्ठा है। कल्पना के अभाव में जीवन ही नीरस है, वह रिक्त घड़ियों का तुच्छ यापन है। हम तो यह कहते हुए भी नहीं झिझकते कि कल्पना और आनन्द एक ही पदार्थ के दो नाम हैं, और इस कल्पना के उचित व्यापार में ही मनुष्य के, और विशेषतः साहित्यिक निर्माता के जीवन की इतिकर्तव्यता है।

(२) बुद्धितत्त्व; जीवन का लक्ष्य

बुद्धितत्त्व

कल्पना-तत्त्व के द्वारा ही साहित्यिक निर्माता अपने श्रोता अथवा द्रष्टाओं के मनोवेगों को तरंगित करता है। इस कल्पना-तत्त्व पर विचार किया जा चुका। अब प्रश्न होता है कि क्या एक साहित्यिक निर्माता अपनी रचना को केवल रचना के लिए बनाता है, अथवा वह किसी निगूढ़ जीवन-तत्त्व को प्रस्फुट करने के उद्देश्य से अपना निर्माण खड़ा करता है; और इस प्रश्न के साथ ही हम साहित्य के द्वितीय अंग बुद्धितत्त्व पर आते हैं।

साहित्य पर विचार करते समय अपने विवेचन का निष्कर्ष निकालते हुए हमने कहा था कि साहित्य की किसी भी रचना को चिरजीवी

बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी आधार-शिला तथ्यों पर विचारों पर, अथवा स्पष्ट शब्दों में जीवन के महान तत्वों पर स्थापित की जाय। साहित्य की कतिप श्रेणियों में तो रचना का प्रमुख लक्ष्य ही सत्य का संप्रदर्श होता है। उदाहरण के लिए, ऐतिहासिक रचनाओं त तथा आलोचनात्मक प्रबंधों का मुख्य ध्येय पाठक के मन में भावनाओं क प्रवाहित करना नहीं, अपितु पक्षपात-शून्य होते हुए कथनीय तथ्यों तथ घटनाओं को, उचित रूप से सचाई के साथ उसके संमुख रखना होता है और यद्यपि उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं को साहित्य इस लिए कहा जात है कि ये हमारे मनोवेगों पर रागात्मक आघात करती हैं, तथापि उनके मूल्य को आँकते समय हम उनके इस पक्ष पर उतना ध्यान नहीं दे जितना कि उनकी पक्षपात-शून्यता, सत्यवादिता तथा स्पष्टता और संयम के साथ वर्णन करने की दक्षता पर; क्योंकि इन्हीं बातों को ध्यान में रखक एक ऐतिहासिक अपनी रचना में अग्रसर हुआ करता है।

इतिहास और बुद्धितत्व

किंतु साहित्य की एक श्रेणी वह भी है,—जिसका प्रमुख ध्येय ही श्रोत अथवा द्रष्टा के मनोवेगों को तरंगित करना है; औ वास्तव में यथार्थ साहित्य है भी यही। कविता, नाटक उपन्यास और आख्यायिका आदि का इसी में समावेश है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस मार्मिक साहित्य क मूल भी सत्य ही पर निहित होना चाहिए; क्या यहाँ भी निर्माता की दृष्टि सत्य पर स्थिर रहनी चाहिए, और क्या इस कोटि की रचना का लक्ष्य भी किसी प्रकार के सिद्धांत का निदर्शन होना चाहिये? प्रश्न का उत्तर हम "हाँ" में देंगे; और क्योंकि जीवन के रागात्मक व्याख्यान का नाम ही साहित्य है, इसलिए इसमें आदर्शवादिता का होना सुतरां आवश्यक

कविता और बुद्धितत्व

। भी महान् साहित्यकार को लीजिए, उसका महत्त्व ...
रा की गई जीवन-व्याख्या की सार्थकता होगा। हम उसके ४
ात में देखेंगे कि वह जीवन का आदर्श प्रस्तुत करने में कहाँ
सका है।

न से देखने पर ज्ञात होगा कि जीवन के जिन निगूढ़ तत्त्व
व्याख्या हमें साहित्यकारों की रचनाओं में मिलती
। व्याख्या उनकी अन्यत्र किसी भी प्रकार की रचना में नहीं ?
नकों की होती। जीवन के विषय में इतना किसी भी दार्शनिक न
ाहित्यिकों हमें नहीं सिखाया जितना महर्षि वाल्मीकि, व्यास और
ने की है। कालिदास ने। यही काम यूरोप में होमर इलियड, वर्जिल,
दाँते, शेक्सपीयर, तथा मिल्टन ने किया है। भारत के
ग का वर्णन जैसा हमें कालिदास की रचनाओं में प्राप्त होता है, वैसा
: किसी भी साहित्यिक रचना में नहीं प्राप्त होता। सोलहवीं सदी के
भारत की जो परिशोच्य दशा थी, उसका चित्रण जैसा हमें
दास के मानस में मिलता है वैसा साहित्य के किसी भी ग्रंथ में नहीं।
कार इंगलैंड के विक्टोरियन युग का जैसा रमणीय प्रदर्शन टैनीसन,
ग तथा मैथ्यू आर्नल्ड की रचनाओं में संपन्न हुआ है, वैसा किसी भी
ाहित्यिक की कृतियों में नहीं। इसलिए हमें किसी भी साहित्यिक रचना
ापय में—चाहे मनोवेगों को तरंगित करने की दृष्टि से उसका कितना
हत्त्व क्यों न हो—यह पूछने का अधिकार है कि उसका मार्मिक लक्ष्य
है ? उसके अन्तस् में कौन से सत्य अथवा आदर्श निहित हैं ?

इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह कह देना उचित प्रतीत होता
है कि किसी कवि, नाट्यकार अथवा उपन्यासकार के लिए
का सत्य- यह आवश्यक नहीं है कि उसके द्वारा उद्भावित किया

[न]वीन नहीं होता

गया सत्य नवीन हो। किन्तु उन रचनाओं में, जिनका प्रमुख लक्ष्य ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करना है, इस बात का होना आवश्यक होता है। हम इतिहास की ऐसी पुस्तक को कदापि नहीं पढ़ेंगे, जिस में उसी घटनावलि की आवृत्ति की गई हो, जिसे हम पहले ही भलीभाँति जानते हैं। किन्तु दूसरी कोटि की पुस्तकों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, हम श्रीराम के चरित को भली भाँति जानते हैं, किन्तु फिर भी तुलसीदास की रामायण को पढ़ते हैं और बार बार पढ़ते हैं। और इस बात को भलीभाँति हृद्गत करने के लिए हमें स्मरण रखना चाहिये कि सत्य (Truth) तथा तथ्य (Fact-प्रमेय) में भेद है। मनोवेगों को तरंगित करने वाली रचनाओं में तथ्य अथवा प्रमेयों (Facts) का आधार कल्पना होती है, किन्तु सत्य मानव-प्रकृति के वही नियम होते हैं, जो हमारी प्रेम, स्नेह, द्वेष आदि चित्त-वृत्तियों को, तथा हमारे एक दूसरे के साथ होने वाले व्यापार को प्रभावित करते हैं। अब, क्योंकि उक्त प्रकार की रचना में समन्वित हुए तथ्यों (Facts) की उत्पत्ति कल्पना से होती है, इस लिए उनका नवीन होना स्वाभाविक है, किन्तु इन रचनाओं की अंतस्तली में प्रवाहित होने वाले सत्य वही होते हैं, जिन से हम भलीभाँति परिचित हैं। उदाहरण के लिए, कालिदास की किसी भी कविता अथवा नाटक को लीजिए, इनकी कथा में हमें एक प्रकार की नवीनता मिलती है। इतिहास बताता है कि रघुकुल में महाराज दिलीप का जन्म हुआ था, और वृद्धावस्था में जाकर उनको पुत्र-दर्शन हुए थे। अब, उस पुत्रोत्पत्ति के निमित्त उनका वन में जाकर कामधेनु की अर्चना और परिचर्या करना कालिदास की अपनी कल्पना है; और इसी प्रकार की अनेक मनोरम कल्पनाओं में उनके महाकाव्य रघुवंश की निष्पत्ति हुई है। हमारा पौराणिक इतिहास हमें बताता है कि दुष्यंत राजा हुए थे,

तापस-कन्या शकुन्तला हुई थी; और दोनों का प्रणय-बन्धन इस
· विछेप हो गया था। अब, इस सामान्य चर्चा में विविध कल्पनाओं
देकर इसे अभिरूप रूपक का रूप देना कालिदास का अपना काम
जानते हैं कि राजा दुष्यन्त वन में तापस शकुन्तला को प्रणय-ब
बाँधकर, नगर में आ अपने ऐश्वर्य में मस्त हो उसे भूल गए थे; औ
बार उसके स्मरण कराने पर भी अपनी प्रेम-लीला को स्मरण न क
अथवा स्मरण होने पर भी उसका प्रत्याख्यान करते थे। अब, इस शकु
विस्मरण के लिए दुर्वासा के शाप को कथा में लाना कालिदास का
काम है, और उसी में सारे नाटक की भव्यता संपुटित हुई पड़ी
यही बात हमें उनके कुमारसंभव में दीख पड़ती है। किन्तु यह सब
पर भी कालिदास का अमर महत्त्व कल्पना के आधार पर निर्मित हुए त
के चमत्कार में इतना नहीं है, जितना कि इनकी रचनाओं के अंतस
प्रवाहित होने वाले भारतीय जीवन के अमर आदर्शों के अभिराम निदर्श
में। यह बात नहीं कि अपनी रचनाओं में कालिदास ने हमें इन तत्वों का
पाठ पढ़ाया है; यह काम तो धार्मिक आचार्यों का होता है। किन्तु जिस
प्रकार उनकी प्रतिभा अथवा उनकी कल्पना-शक्ति का उनकी रचनाओं के
रूप में प्रवाहित होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार; उनके जाने बिना ही,
उनकी रचना का सत्य, शिव और सुन्दर की सेवा में समर्पित होना भी
नैसर्गिक है। जिस प्रकार वे कविता को नहीं रचते, अपितु वह स्वयं
उनके हृदय से फूट पड़ती है, इसी प्रकार वे जानकर उसके प्रवाह को
जीवन-सत्यों के रम्य क्षेत्रों में नहीं प्रवाहित करते, वह तो स्वभावतः
उस ओर वह निकलता है। इस प्रकार हम ने देखा कि घटनावलियों के
काल्पनिक होने के कारण नवीन होने पर भी, कवि की रचनाओं के आदर्श
में, अर्थात् उसके चरम लक्ष्यभूत जीवन-सिद्धांतों में नवीनता नहीं होती।

वे सामान्यतः वही तत्त्व होते हैं, जिन्हें हम भली-भाँति जानते हैं; जो शैशव से लेकर आज तक हमारे जीवन को चलाते आए हैं; किन्तु जहाँ धार्मिक नेताओं के मुख से उनके विषय में उपदेश सुन उनके महत्त्व को हम बुद्धि द्वारा अवगत करते हैं, वहाँ कवि की रचनाओं में हम उनका रागात्मक अनुभव करते हैं, और अपनी कल्पना-द्वारा उन्हें आत्मसात् करके तदनुसारी मनोवेगों में तरंगित हो जाते हैं।

(३) भाव अथवा मनोवेग

मनोवेग

साहित्य का लक्षण करते हुए हम ने कहा था कि साहित्य उस रचना को कहते हैं, जो श्रोता, द्रष्टा के मनोवेगों को तरंगित करती हो। साहित्य के अंग-भूत तीन तत्त्वों में से पहले कल्पनातत्त्व पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि इस काम को एक साहित्यिक अपनी कल्पना-द्वारा श्रोता अथवा द्रष्टा के संमुख मूर्त जगत् स्थापित करके संपादित करता है; और जो कवि जितना भी अधिक पाठक के मनोवेगों को तरंगित कर सकता है उतना ही अधिक उसकी रचना का महत्त्व बढ़ जाता है।

साहित्यिक मनोवेगों को निष्पन्न करने वाले पांच तत्त्व

साहित्य के आत्मभूत रस की निष्पत्ति भावों के आधार पर बताने वाले भारतीय आचार्यों ने भावों की मार्मिक विवेचना की है और उन्होंने इन भावों को कई वर्गों में विभक्त किया है। किन्तु भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी अनेक विधाओं के विवेचन में पड़ने से पहले यह अभीष्ट प्रतीत होता है कि हम पहले उन तत्त्वों पर विचार करलें, जो इन साहित्यिक भावों में उत्कटता उत्पन्न कर उनके द्वारा उद्भूत होने वाले रस को उत्कृष्ट कोटि का संपन्न करते हैं। विंचेस्टर के अनुसार

ये तत्त्व नीचे लिखे पाँच हैं—

१ मनोवेग की न्याय्यता तथा औचित्य,
२ मनोवेग की विशदता और उसकी गतिमत्ता,
३ मनोवेग की स्थिरता और उसका मानस्य,
४ मनोवेग की विविधता,
५ मनोवेग की वृत्ति अथवा उसका गुण।

उचित आधार पर खड़ा हुआ मनोवेग साहित्यिक है

किसी मनोवेग को न्याय्य अथवा उचित बताने से हमारा आशय यह है कि रचनाविशेष में उसे उचित आधार पर खड़ा किया गया है। उत्कृष्ट कोटि का मनोवेग भी, उचित आधार के न होने पर निर्बल पड़ जाता है। उदाहरण के लिए, किसी उत्सव के अवसर पर छोड़े जाने वाली आतिशबाजी को देखकर एक व्यक्ति के मन में उसके प्रति प्रबल प्रशंसा का भाव उत्पन्न हो सकता है। किन्तु इस भाव को हम साहित्यिक दृष्टि से न्याय्य नहीं कहते, क्योंकि इसका आधार एक सामान्य तमाशा है, और उससे उत्पन्न होने वाला मनोवेग सामान्य आधार पर खड़ा होने के कारण साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वशाली नहीं हो सकता। इसके विपरीत, एक प्रसून को एकांत में प्रस्फुटित होता देख एक रसिक व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाला प्रशंसा का भाव कवीय भाव है; क्योंकि उस प्रसून पर मुसकराते दिव्य सौंदर्य तथा उसके अंतस् में निहित रही आत्मिक शक्ति की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। जहाँ तमाशे की आतिशबाजी को देख कर उत्पन्न हुआ प्रशंसात्मक भाव क्षणिक था, वहाँ प्रसून में छिपी आत्मिक विभूति की मौनमुद्रा को देख उत्पन्न हुआ वहाँ प्रशंसात्मक मनोवेग सजीव तथा उत्कट बन कर कविता के रूप में [illegible] है। फलतः किसी भी साहित्यिक रचना के मूल्य को

निर्धारित करने के लिए हमें पहले यह जानना होगा कि उस के द्वारा प्रस्फुटित होने वाले मनोवेग किस प्रकार के हैं। वे कहाँ तक हितकारी हैं और रचना ने उनको किसी सबल आधार पर खड़ा किया है या नहीं। क्योंकि यह हो सकता है कि कोई साहित्यिक समय-विशेष के समाज की किसी विशेष प्रवृत्ति को देखकर अपनी रचना में ऐसी बातों का उल्लेख करके उन के ऐसे मनोवेगों को तरंगित कर दे, जिनका जीवन में विशेष महत्त्व नहीं है। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि बाबू देवकीनन्दन खत्री के चन्द्रकान्ता तथा चन्द्रकान्ता-संतति नाम के उपन्यासों ने हिन्दी-गद्य के उठते युग में जासूसी की सामान्य घटनाओं को गूँथकर हिन्दी-जगत् में विपुल ख्याति प्राप्त की थी। यही बात पंडित किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं के विषय में कही जा सकती है। किन्तु इनकी वह ख्याति अधिक दिन तक न टिक सकी; वह आँधी के समान आई थी और उसी के वेग से चली भी गई। उनकी अस्थायिता का कारण यह था कि उनकी उत्थानिका जीवन की सतह पर उतराने वाले चमकीले तथा भड़कीले चरित्रों में की गई थी, जिनका व्यवसाय था जादूगरी, डाकाज़नी, चहल-कदमी, मारधाड़ और लूटखसोट। इन रचनाओं की पहुँच जीवन के मार्मिक तत्त्वों तक न थी; इन्होंने भावुक प्रकृति के उस उदात्त रूप को न देखा था, जो हमें महान् कवियों की रचनाओं में परिपक्व हुआ दृष्टिगत होता है। इन रचनाओं को पढ़कर पाठक अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध की संकुचित परिधि के ऊपर उठ कर लोकसामान्य भावभूमि पर नहीं पहुँच पाता। इङ्गलैंड में भी एक समय इस प्रकार की अटपटी रचनाओं की धूम मची थी। १८१३ और १८१८ के मध्य बायरन द्वारा लिखी गई दि कर्सेयर, लारा, दि ब्राइड ऑफ अबीडोस, दि सीज ऑफ कोरिंथ नामक कविताएँ इसी श्रेणी की थीं। कुछ शैले की रचनाओं में भी उक्त दोष की उद्भावना करते हैं; हम

ये तत्त्व नीचे लिखे पाँच हैं—

१ मनोवेग की न्याय्यता तथा औचित्य,
२ मनोवेग की तीव्रता और उसकी शक्तिमत्ता,
३ मनोवेग की स्थिरता और उसका सातत्य,
४ मनोवेग की विविधता,
५ मनोवेग की वृत्ति अथवा उसका गुण।

उचित आधार पर खड़ा हुआ मनोवेग साहित्यिक है

किसी मनोवेग को न्याय्य अथवा उचित बताने में हमारा आशय यह है कि रचनाविशेष में उसे उचित आधार पर खड़ा किया गया है। उत्कृष्ट कोटि का मनोवेग भी, उचित आधार के न होने पर निर्बल पड़ जाता है। उदाहरण के लिए, किसी उत्सव के अवसर पर छोड़े जाने वाली आतिशबाजी को देखकर एक व्यक्ति के मन में उसके प्रति प्रबल प्रशंसा का भाव उत्पन्न हो सकता है। किन्तु इस भाव को हम साहित्यिक दृष्टि से न्याय्य नहीं कहते, क्योंकि इसका आधार एक सामान्य तमाशा है, और उससे उत्पन्न होने वाला मनोवेग सामान्य आधार पर खड़ा होने के कारण साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वशाली नहीं हो सकता। इसके विपरीत, एक प्रसून को एकांत में प्रस्फुटित होता देख एक रसिक व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाला प्रशंसा का भाव सजीव भाव है; क्योंकि उस प्रसून पर मुसकराते दिव्य सौंदर्य तथा उसके अंतस् में निहित रही आत्मिक शक्ति की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। जहाँ तमाशे की आतिशबाजी को देख कर उत्पन्न हुआ प्रशंसात्मक भाव क्षणिक था, वहाँ प्रसून में छिपी आत्मिक विभूति की मौनमुद्रा को देख उत्पन्न हुआ वहाँ प्रशंसात्मक मनोवेग सजीव तथा उत्कट बन कर कविता के रूप में फूट पड़ता है। फलतः किसी भी साहित्यिक रचना के मूल्य को

र्धारित करने के लिए हमें पहले यह जानना होगा कि उस के द्वारा कुरित होने वाले मनोवेग किस प्रकार के हैं। वे कहाँ तक हितकारी हैं र रचना ने उनको किसी सबल आधार पर खड़ा किया है या नहीं। कि यह हो सकता है कि कोई साहित्यिक समय-विशेष के समाज की ी विशेष प्रवृत्ति को देख कर अपनी रचना में ऐसी बातों का उल्लेख कि उन के ऐसे मनोवेगों को तरंगित कर दे, जिनका जीवन में विशेष व नहीं है। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि बाबू देवकीनन्दन के चन्द्रकान्ता तथा चन्द्रकान्ता-संतति नाम के उपन्यासों ने हिन्दी-गद्य उठते युग में जासूसी की सामान्य घटनाओं को गूँथकर हिन्दी-जगत् में त ख्याति प्राप्त की थी। यही बात पंडित किशोरीलाल गोस्वामी की नाओं के विषय में कही जा सकती है। किन्तु इनकी वह ख्याति अधिक तक न टिक सकी; वह आँधी के समान आई थी और उसी के वेग से भी गई। उनकी अस्थायिता का कारण यह था कि उनकी उत्पानिका न की सतह पर उतराने वाले चमकीले तथा भड़कीले चरित्रों से की ी, जिनका व्यवसाय था जादूगरी, डाकाज़नी, चहल-कदमी, मारधाड़ लूटखसोट। इन रचनाओं की पहुँच जीवन के मार्मिक तत्त्वों तक न थी; ने भावुक प्रकृति के उस उदात्त रूप को न देखा था, जो हमें महान् ों की रचनाओं में परिपक्व हुआ दृष्टिगत होता है। इन रचनाओं ढ़कर पाठक अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध की संकुचित परिधि के ऊपर कर लोकसामान्य भावभूमि पर नहीं पहुँच पाता। इङ्गलैंड में भी एक इस प्रकार की अटपटी रचनाओं की धूम मची थी। १८१३ और न के मध्य बायरन द्वारा लिखी गई दि कर्सेयर, लारा, दि ब्राइड ऑफ ोस, दि सीज ऑफ कोरिथ नामक कविताएँ इसी श्रेणी की थीं। कुछ शैली की रचनाओं में भी उक्त दोष की उद्भावना करते हैं; हम

नहीं कह सकते वे कहाँ तक सच्चे हैं; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप के रहस्यवादी कवियों से चलकर जिस कविता का बंगाल के श्रीन्द्र आदि सुकवियों में रमणीय उत्थापन हुआ, वही बंगाल से आकर हमारे हिन्दी-क्षेत्र में आधुनिक हिंदी कवियों द्वारा अकथनीय दुर्दशा को प्राप्त हुई है। जहाँ यूरोप और बंगाल में लौकिक आलंबनों के आधार पर खड़े किए गए प्रेम की गाथाएँ सुकुमार बन पड़ी थीं, वहाँ उन दोनों के साहित्य में पारलौकिक आलंबन पर निर्भर रहने वाले दैवीय प्रेम के भी बड़े ही अनूठे चित्रण संपन्न हुए थे। सभी देशों के कवि आदिकाल से करुणारस की व्यंजना करते हुए दुखी समाज में साहित्यिकता का संचार करते आए हैं; किन्तु बात बात पर आँसू बहाने लग जाना, निर्वीर्य आलंबनों पर सच्चे प्रेम का प्रासाद खड़ा करना, क्रान्ति का नाम आते ही मुँह से जलते कोयले उगलने लगना जितना आज हमारे साहित्य में दीख पड़ता है, उतना सम्भवतः किसी भी साहित्य में विकसित न हो पाया हो। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार निर्वीर्य मनोवेगों की आधार-शिला पर खड़ा किया गया यह बालू साहित्य अपने लेखकों के जीवनकाल में ही समाप्त हो जायगा और इसके समाप्त हो जाने ही में हमारे देश और हमारे समाज का कल्याण है। इस प्रकार के "क्षणे तुष्टाः क्षणे रुष्टाः" वाली अस्थायी वृत्ति के कवि समाज के सम्मुख अपना झूठा रोदन रख कर उसे भी निर्वीर्य तथा रोतड़ा बना देते हैं। अतः किसी भी रचना की साहित्यिकता को परखने के लिए हमें सब से पहले यह जानना उचित है कि उसके द्वारा उद्वेलित मनोवेगों की आधार-शिला कितने गहरे तथा मार्मिक तत्त्वों पर रखी गई है।

कहना न होगा कि साहित्य के द्वारा उद्दीप्त हुए मनोवेगों का महत्त्व बहुत कुछ उनकी विशुद्धता तथा सार्वजनीनता पर भी निर्भर है। यदि किसी साहित्यिक रचना को पढ़

विशदता तथा सबलता कर आप का आत्मा प्रबल भावों में आंदोलित हो उठता है, यदि उसको पढ़कर आप समय और देश की सीमा से स्वतन्त्र हो भावरूप जगत् में जा पहुँचते हैं, तो समझिए वह रचना उत्कृष्ट साहित्य है। इसके विपरीत यदि एक रचना जीवन और मरण की उदात्त समस्याओं को सुलझाते हुए भी, दशरथ-कैकेयी, और शकुंतला तथा दुष्यन्त जैसे चरित्रों का चित्रण करते हुए भी, अपने अन्तस् में होने वाले मनोवेगों की अस्पष्टता अथवा निर्बलता के कारण, अपनी प्रकाशन-शक्ति के दोषयुक्त होने के कारण, आपके आत्मा में उत्कट भावनाएँ नहीं जाग्रत कर सकती तो समझिए वह रचना उत्कृष्ट कोटि का साहित्य नहीं है।

भावों की यह विशदता तथा सबलता जहाँ राग-द्वेष जैसे सक्रिय भावों को रमणीय रूप से उत्कट तथा स्थायी बना देती है, वहाँ वह शांति तथा करुणा जैसे निष्क्रिय भावों से सम्पन्न हो उन्हें भी परिपक्व बना देती है। जहाँ महाकवि तुलसीदास ने वनगमनानन्तर जंगल में भ्रातृचरणों में रत हुए लक्ष्मण के मन में, भरत को दल-बल सहित आता देख कर, क्रोध रस की अत्यंत ही दारुण गरिमा दिखाई है, वहाँ उन्होंने श्रीराम के द्वारा वन में प्रस्थापित हुई गर्भा जानकी के मुँह से प्रवाहित हुए करुणा रस को भी अत्यंत ही मार्मिक बनाकर उपस्थित किया है। और जब हम करुणा की सक्रिय तथा निष्क्रिय इन दो विधाओं पर ध्यान देते हुए, उसी महाकवि की रचना में वर्णित, राम द्वारा रावण का निधन होने पर अंतिम समय उस के मुँह से निकला जीवन की मार्मिकता का, भ्रातृवियोगाहत भरत के द्वारा स्थान स्थान पर की गई जीवन-चर्चा के साथ सामुख्य करते हैं, तब भी हम दोनों प्रकार के करुण रस में एक सी विशदता तथा शक्तिमत्ता का परिपाक हुआ पाते हैं।

यह स्पष्ट है कि भावों की यह विशदता तथा शक्तिमत्ता एकांततः

रचनाकार के आत्मा में होने वाले मनोवेगों की घनता त

मनोवेगों की सफलता कवि की सफलता पर निर्भर है

साकारता पर निर्भर है; उसकी अपनी अनुभूति
मार्मिकता पर आश्रित है। प्रकृति के जिन अनन्त रूप
का और मनुष्य की जिन विविध मनोवृत्तियों का वाल्मीकि,
व्यास और कालिदास की रचनाओं में अत्यंत ही
हृदयाकर्षी वर्णन हुआ है, उन्हीं का संस्कृत तथा हिंदी के
अन्य कवियों में सामान्य वर्णन बन पड़ा है। इसी प्रकार यूरोप में मनुष्य
के ईर्षा, द्वेष, मत्सरता आदि विविध भावों का जितना उत्कट और
बहुमुखी वर्णन शेक्सपीयर की रचनाओं में संपन्न हुआ है, उतना संभवतः
किसी ही साहित्यकार की रचनाओं में बन पड़ा हो। रचना में दीप्त पड़ने
वाले मनोवेगों की घनता तथा निगूढ़ता एकांततः उन रचनाओं को सृष्टि
करने वाले साहित्यिक के आत्मा की गम्भीरता तथा वेदनशीलता पर निर्भर
रहती है।

उत्कट मनोवेगों की स्थिरता

एक बात और; सच्चे महाकवियों के मनोवेग, जहाँ समुद्र की
भाँति पूर्ण, तीव्र, घन, उत्कट तथा गाढ़ होते हैं, वहाँ
वे साथ ही पर्वत के समान स्थिर भी होते हैं।
प्रचंड और प्रखर से प्रखर भाव से आविष्ट होने पर भी
इन कवियों का आत्मा अपनी सहज स्थिरता से विचलित
नहीं होता; जिसका परिणाम यह होता है कि हमें उनकी रचनाओं में,
चाहे उनमें भावों की कैसी भी प्रचंड बात्या क्यों न बहती हो—एक प्रकार
की संयत समता के दर्शन होते हैं। हमें तुलसीदास के मानस में सीता
स्वयंवर के परम पुनीत अवसर पर परशुराम-लक्ष्मण-संवाद की अत्यंत ही
रोषमयी आँधी बहती दीख पड़ती है; परशुराम और लक्ष्मण दोनों ही
मानो मेरु को राई की नाईं और भूमि को कंदुक की नाईं आकाश

फेंक देने पर तुले दीख पड़ते हैं; यह सब कुछ और इससे भी कहीं अधिक
यावह कांड होने ही को है कि तुलसीदास जी श्रीराम के मुख से समतामयी
पुष्पवर्षा करा उस अधड़ को एक क्षण में शांत कर देते हैं। क्रोध के
स प्रलयकारी आवेश में भी तुलसीदास जी श्रीराम की निसर्ग गंभीरता को,
नकी सहज गरिमा को नहीं भूलते और उस समय भी उनके मुँह से
रावर पुष्प-वर्षा ही कराते रहते हैं; और इस प्रकार श्रीराम की गरिमा का
ान करके अपनी महिमा का भी पाठक को आभास दिला देते हैं।

उत्कट मनोवेग तथा प्रकाशन-शक्ति, शेक्सपीअर ब्राउनिंग

मनोवेगों की इस विशदता तथा घनता को संपन्न करने के लिए प्रकाशन-शक्ति पर भी पूरा पूरा अधिकार होना आवश्यक है। हम देखते हैं कि रहस्य के जिन भावों को, प्रकाशन-शक्ति पर पूरा पूरा अधिकार होने के कारण रवींद्रनाथ ने अत्यंत ही रमणीय सरणि में व्यक्त किया है, उन्हीं को सामान्य कवियों ने; प्रकाशन के साधनों पर उचित अधिकार न होने के कारण अधकहा छोड़ दिया है; ौर यही बात प्रेममार्गी सूफी कवि जायसी तथा उसी की शाखा के अन्य ामान्य कवियों के विषय में कही जा सकती है। अंग्रेजी में महाकवि ब्राउनिंग ी पहुँच बहुत गहरी है; पते की बात कहने में वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वि हुए हैं, किंतु कभी कभी वे आत्मतत्त्व की इतनी गहराई पर पहुँच जाते कि उसके वर्णन के लिए उनके पास शब्द नहीं रह जाते, जिसका परिणाम ह है कि उनकी रचनाएँ अनेक स्थलों पर अत्यंत ही क्लिष्ट हो गई हैं। दि कहीं अनुपम प्रतिभा के साथ उनके पास वैसी ही पहुँची हुई वर्णन-क्ति भी होता तो वे निःसंदेह अंग्रेजी-साहित्य के शेक्सपीयर से उतर कर ब से बड़े कवि कहे जाते। कहना न होगा कि मनोवेगों की यह विशदता ौर घनता जितनी अधिक कविता के लिए आवश्यक है, उतनी ही

गद्य-साहित्य के लिए भी। और हमें यह कहने में खेद होता है कि हिं
गद्य-साहित्य के भलीभाँति परिपक्व न होने के कारण हमें इस विषय में संस्
के गद्यकाव्य कादंबरी का और अंग्रेज़ी में कार्लाइल के फ्रेंच रिवोल्युशन
उदाहरण देना पड़ता है। और यद्यपि संस्कृत की सर्वोत्कृष्ट गद्य-रचना
कादंबरी में उसके लेखक बाणभट्ट का प्रमुख लक्ष्य समास-विपुल संस्कृत भाषा
को; वर्षा में परिपूर्ण आह्रदों की भाँति इठलाती, इतराती, उछलती, चक्कर
खाती, गरजती और लहराती हुई विचित्र गति वाली बनाकर दिखाना है,
तथापि उन्होंने अवसर मिलने पर उनके द्वारा पाठकों के मनोवेगों को भी
प्रचुर मात्रा में तरंगित किया है। और यदि हम सौंदर्यानुभूति को भी भावों
में एक मान लें तो इस भाव की उत्पादिका जितनी कादंबरी के संध्या-वर्णन
को पढ़कर होती है उतनी किसी भी रचना में नहीं। एक स्थान पर
संध्या-वर्णन में कवि कहते हैं "दिनान्त में तपोवन की लाल लोचन वाली गाय
जैसे गोष्ठ में लौट आती है उसी प्रकार तपोवन में कपिल संध्या अवतीर्ण
हुई।" कपिला धेनु के साथ संध्या-कालीन रक्तिमा की तुलना कर कवि क्षण
भर में हृदय के भीतर संध्या की समस्त शांति तथा धूसर छाया भर देते हैं।
जैसे प्रभात-वर्णन में केवल तुलना के छल से उन्मुखप्राय नूतन कमलपुट
के सुकोमल विकास का आभास देकर मायावी कवि ने अशेष प्रभात की
सुकुमारता और सुस्निग्धता को पूर्णरूपेण व्यक्त कर दिया है वैसे ही वर्ण
की उपमा के छल से तपोवन के गोष्ठ में फिरती हुई लाल लोचन वाली
कपिल वर्णा गौ की बात कह कर संध्या का जो भी रहस्यमय भाव है, उसे
उसने समस्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। भावना की यही विशदता तथा
प्रगाढ़ता हमें कार्लाइल के फ्रेंच रिवोल्युशन में प्राप्त होती है।

मनोवेगों की साहित्यिकता के लिए तीसरी बात आवश्यक है
मनोवेग; उनकी उनकी स्थिरता और उनका सातत्य। किसी साहित्यिक

स्थिरता तथा साम्य रचना को पढ़ते समय हम चाहते हैं कि हमारे मनोभाव समान प्रकार से तरंगित होते रहें; यह न हो कि कभी तो हम मनोवेगों के शृङ्ग पर पहुँच जायँ और कभी उनकी तलैटा में आ गिरें। इसका यह आशय कदापि नहीं कि एक नाट्यकार के लिए आवश्यक है कि वह किसी एक भाव को ही अपनी रचना में समान रूप से प्रोन्नत दिखाता जाय। ऐसा करना जहाँ नाट्यकार के लिए असमव सा है वहाँ द्रष्टाओं के लिए भी या तो भयावह है, अथवा उनके मन को उचाट कर देने वाला है। नाटकीय भावों में विविधता का होना परमावश्यक है; किन्तु नाट्यकार का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह द्रष्टा को उसके विविध मनोवेगों की लहरियों में से ले जाता हुआ अंत में उसी प्रधान मनोवेग में तरंगित होता छोड़ दे, जो कि उसकी रचना का प्रधान मनोवेग प्रारम्भ से चलता आया है। उदाहरण के लिए; हम कालिदास के शकुन्तला नाटक में एक क्षण के लिए भी अपने आपको नीरस हुआ नहीं पाते; प्रतिपंक्ति और प्रतिपद पर कालिदास के उदात्त नाटक की आश्चर्यमयी गरिमा खुलती चली जाती है; प्रतिपद पर हम अपने आप को जीवन की एक नवीन कोश-शिला पर पहुँचा हुआ पाते हैं। नाट्यवस्तु के साथ हमारा अनुराग उत्तरोत्तर गाढ़ होता जाता है और हम एक क्षण के लिए भी अपनी आँख बन्द करना नहीं गवारा कर सकते। इसके साथ ही हमें कालिदास के शकुन्तला नाटक में इस बात के दर्शन भी होते हैं कि उन्होंने जिस मनोवेग को लेकर उस अति रमणीय नाटक की रचना आरम्भ की थी, उसी को उसके मध्य में परिपुष्ट किया और उसी का उसके अन्त में परिपाक किया। इसी को हम भावों की एकता के नाम से पुकारते हैं। अंग्रेजी में महाकवि शेक्सपीयर के नाटकों में इस बात की अति रमणीय निष्पत्ति हुई है। रोमिओ एंड जूलियट, जूलियस सीज़र, ओथेलो, हैमलैट तथा मैकबेथ इस बात के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

मनोवेगों की स्थिरता तथा उनका सातत्य उन्हीं महाकवियों की
में पाया जाता है, जो निसर्गतः भद्र कलाकार हैं, और जो प्रति
कल्पना के अनन्त भण्डार हैं। जीवन को यद्यपि इन महात्मा
करतलामलकवत् होती है, परन्तु भावना और मनोवेग इनके सम्मुख
नाईं रहते हैं। इनकी रचना मनोवेगों का भण्डार होती है; उसमें
वाक्य भी अपूर्ण अथवा अनपेक्षित नहीं होता। इस के विपरीत मान
अनुभव वाले कवि अथवा [illegible] पर तैयार किये गये नाटककार भावना
के क्षेत्र में स्वयं अकिंचन होने के कारण अपने श्रोता तथा द्रष्टाओं को
प्यासा ही रहने देते हैं। इनकी रचनाओं में मनोवेगों की स्थिरता, उनका
सातत्य अथवा एकता नहीं पाए जाते।

मनोवेग और उनकी नाना-विधता

कहना न होगा कि किसी भी साहित्यिक रचना का महत्व बहुत कुछ उसके द्वारा तरंगित किए गए मनोवेगों की विविधता तथा बहुमुखता पर निर्भर है। विचारिए, हम में कितने ऐसे व्यक्ति हैं जिनके हृदय में विज्ञान तथा काव्य के प्रति एक सा अनुराग हो। विज्ञान तक न जाकर आप यही देखें कि हम में से कितनों का दर्शन तथा साहित्य के साथ एक सा प्रेम है। इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं; देखिये, हम में से कितने व्यक्तियों को महाकवि तुलसीदास और बिहारी की कविता समान रूप से भाती है। इन सब बातों का उत्तर होगा कि बहुत कम को, स्यात् किसी को। अब, यदि विज्ञान तथा साहित्य, और दर्शन तथा साहित्य की बात को एक ओर रख तुलसीदास तथा बिहारी जैसे दो कवियों के रस का समानरूप से आस्वादन करने की शक्ति भी हम में से बहुत कम व्यक्तियों में है, तो फिर उक्त प्रकार के विविध भावों तथा तथ्यों से विभूषित रचनाओं के निर्माण करने का तो कहना ही क्या।

र आधुनिक युग के प्रख्यात जर्मन कवि रेनर मारिया रिल्के के शब्दों में एक
कविता को लिखने के लिए एक कवि के लिए आवश्यक है
कविता के एक कि "उसने अनेक नगर देखे हों, अनेक व्यक्ति तथा तथ्य
पद के लिए कितने देखे हों; उसके लिए अनेक पशुओं का देखना आवश्यक
विविध उपकरणों है, उसने अनेक पक्षियों की उड़ानें देखी होनी चाहिएँ,
की आवश्यकता है उसने पुष्पों के वे संकेत देखे होने चाहिएँ, जो प्रातः
खिलने वाली कलियों में हुआ करते हैं। उसमें अपनी
विचार-शक्ति के द्वारा अज्ञात प्रदेशों के राजपथों पर घूमने की शक्ति होनी
चाहिए। वह अपनी स्मृति द्वारा लौट सकता हो संयोग तथा वियोगों की
ओर, बचपन के अस्पष्ट काल की ओर, अपने उन माता पिताओं की ओर,
जो कभी कभी हमें प्रेम में थपड़ा देते हैं, शैशव की उन बहुत सी व्याधियों
की ओर, जो सहसा प्रकट होकर हमारे जीवन में प्रतुल परिवर्तन उत्पन्न कर
देती हैं, एकांत बंद कमरों में बिताए दिनों की ओर, समुद्र पर खिले प्रातः-
काल की, समुद्र की ओर महासमुद्रों की ओर, यात्रा की उन रात्रियों की ओर,
जो व्यतीत हो चुकीं, और तारों के साथ बह गईं। एक कविता की रचना
के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं; इसके साथ ही उसके मन में स्मृतियाँ होनी
चाहिएँ उन बहुत सी प्रेम-रात्रियों की, जो एक दूसरी से न मिलती हों,
प्रसवाक्रांत स्त्रियों की दर्दभरी कराहों की, प्रसव-शय्या पर पड़ी उन माताओं
की जो निचुड़ चुकने के कारण लघुकाय हो गई हैं, स्वप्नाक्रांत हैं, बंद कमरों
में पड़ी हैं। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने जीवन में मरणा-
सन्न व्यक्तियों के पास बैठा हो, मृत के पास बैठा हो, उस समय जब कि
खिड़कियाँ खुली हों और रुक रुक कर आने वाले रहस्यमय, भयावह शब्द
का ताँता बँधा हो। इन बातों की स्मृतियाँ ही एक कविता-रचना के लिए
पर्याप्त नहीं हैं। कवि के लिए आवश्यक है कि जब ये स्मृतियाँ बहुत सी हों

जाएँ, तो वह उन्हें भूल जाय; उसमें, उससे फिर लौट आने तक, चुपचा
उनकी प्रतीक्षा करने की धीरता होनी चाहिए; क्योंकि इन स्मृतियों में ह
उसका सारा संसार निहित है; और यह तभी होता है, जब कि वे स्मृतियाँ
हमारे भीतर हमारे रक्त में एक ही जाएँ, हमारी दृष्टि तथा हमारी चेष्टा
में परिणत हो जाएँ, जब उनका कोई नाम और चिह्न शेष न रह जाय; वे
हम में आत्मसात् हो जाएँ; तभी, केवल तभी, हमारे जीवन के किसी सुनहरे
क्षण में, कविता के प्रथम शब्द का उनमें उत्थान होता है, जो उनसे निक-
कर बाह्य जगत् में विचरता पंछी बन जाता है"।

जब स्वयं एक महाकवि के शब्दों में कविता की प्रथम पंक्ति लिखने के
लिए इतने प्रचुर तथा नानाविध उपकरणों की अपेक्षा है
तब एक महाकाव्य अथवा नाटक के लिखने के लिए
कितने अधिक और विविध उपकरणों की आवश्यकता
होगी इस बात का अनुमान करना भी कठिन है।

तुलसीदास
शेक्सपीयर

तथा उनमें उत्पन्न होने वाले मनोवेगों की बहुविधता तथा अधिकता
में ही साहित्यकार की इतिकर्तव्यता है। और जब हम इस बात को
लेकर हिंदी के महाकवि तुलसीदास पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें उनकी
बहुमुखी गरिमा विश्वमुखी बनकर प्रत्यक्ष होती है। पौरस्त्य अथवा
पाश्चात्य; विवेचना की किसी भी दिशा से परखने पर उनका मानस एक
श्रेष्ठ महाकाव्य तो ठहरता ही है, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद बालि-रावण-संवाद
या अंगद-रावण-संवाद आदि प्रसंगों में निहित हुए नाटकीय तत्त्वों की
दृष्टि से अनुशीलन करने पर वह उत्कृष्ट रूपक कला से भी सुसज्जित हुआ
दीख पड़ता है। जब हम मानस के वर्ण्य विषय की बहुविधता तथा उदात्तता
पर, उसमें आने वाले चरित्रों की सजीवता और यथार्थता पर, उसमें मुखरित
जीवन-तत्त्वों की उत्कृष्टता तथा लोक-हितकारिता पर, संक्षेप में उसके

सकल भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष पर, एक साथ ध्यान देते हैं, तब हम उसे सभी दृष्टियों से परिपूर्ण निष्पन्न हुआ उपलब्ध करते हैं। यही बात अंग्रेज़ी के महाकवि शेक्सपीअर के विषय में कही जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि उनके द्वारा निदर्शित किए गए अनेक तथ्यों में से एक एक का निदर्शन कुछ नाट्यकारों ने उनसे अच्छा किया है; उनके द्वारा तरंगित हुए अनेक मनोवेगों में से एक एक का तरंगन कतिपय कवियों ने उनकी अपेक्षा अच्छा किया है; किंतु जीवन-समष्टि की भाव-समष्टि का जितना प्रभावशाली निदर्शन इस महाकवि के द्वारा निष्पन्न हुआ है उतना अन्य किसी भी कवि के द्वारा नहीं हो पाया। उनकी रचना में हमें अपना सारा आपा—भला और बुरा, सक्रिय और निष्क्रिय, सारा, सभी प्रकार का, एक साथ मुखरित होता दीख पड़ता है; उनकी रचना में हमें सारा विश्व, हाथ उठाए, कुछ कहता सा, कुछ करता सा, फिर भी अवाक्, हाथ में निश्चेष्ट, अपनी अशेष अतीतकथा को जीभ पर लिए, अपनी अनन्त भविष्य कहानी को हृदय में धरे, धीर गति से अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। यह बहुमुखता, यह विश्वजनीनता, न केवल भाव-पक्ष में अथवा कला-पक्ष में, किन्तु दोनों में एक-सी है परिष्कृत और परिपूर्ण; बस इसी में तुलसीदास और शेक्सपीअर की अनुपम महिमा छिपी हुई है। यह जितनी ही अधिक जिस साहित्यकार में होगी उतनी ही अधिक उसकी रचना विश्वजनीन कहलाने की अधिकारिणी होगी।

मनोवेग और उनकी वृत्ति या गुण : विहारी तथा

साहित्यिक मनोवेगों के विषय में पाँचवीं विचारणीय बात उनकी वृत्ति अथवा श्रेणी है। इससे हमारा आशय यह कदापि नहीं कि हमारे मनोवेगों की दो या उससे अधिक कई श्रेणियाँ हैं; और उनमें से कतिपय श्रेणियों के मनोवेगों का साहित्य में स्वागत होना चाहिए और दूसरों का

उसमें तिरस्कार किया जाना चाहिए। इस कथ
हमारा अभिप्राय यहां है कि अन्य वस्तुओं के स
मनोवेगों में भी एक प्रकार का तारतम्य होता है। कुछ मनोवेग उद
होते हैं, तो दूसरे सामान्य वृत्ति के। कुछ का संबंध हास्य ही के साथ
दूसरों का हमारी उन भावनाओं के साथ है, जो हमारे चारित्रिक जीव
के मार्मिक तंतु हैं। जिस प्रकार हमारी भावनाओं में उदात्तता तथा
साधारणता के दो सोपान हैं उसी प्रकार उनकी आधारशिला पर खड़े
होने वाले साहित्य की भी दो विधाएँ होना स्वाभाविक है। हम ने देखा
था कि साहित्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष ये दो पक्ष होते हैं। जिस
प्रकार साहित्य के भाव-पक्ष का हमारे मनोवेगों पर प्रभाव पड़ता है उसी
प्रकार उसके कला-पक्ष का भी। हो सकता है कि एक रचना में भाव-पक्ष का
निदर्शन सुन्दर सपन्न हुआ हो और उसके कला-पक्ष में निर्बलता रह गई
हो। इसके विपरीत कुछ रचनाओं में कला-पक्ष का अधिक विकास होकर
भाव-पक्ष में निर्बलता आ जाना भी स्वाभाविक है। साहित्य की कुछ अमर
कृतियों में दोनों ही पक्षों का समान विकास होता है। अब, यहां इस बात
के मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि कला-पक्ष की पेशलता से
व्याप्त होने वाले मनोवेगों की अपेक्षा भाव-पक्ष की प्रबलता-द्वारा प्रेरित
होने वाले मनोवेग उच्च श्रेणी के होते हैं। पहलों में केवल सौंदर्य क
कुनमामयी उत्थानिका है, तो दूसरों में इसके साथ साथ हमारे चरित्र पर—
और यही हमारा सर्वस्व है—पड़ने वाला प्रबल हितकारी प्रभाव भी रहता
। यह तो हुई भाव-पक्ष और कला-पक्ष से तरंगित होने वाले मनोवेगों के
तम्य की बात। अब, इससे एक पग आगे बढ़ा भाव-पक्ष में आने पर
हमें मनोवेगों का यही तारतम्य दिखाई पड़ता है। साहित्य के भाव-पक्ष
भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं; पहला भौतिक और दूसरा

आत्मिक। सब जानते हैं कि हमारे भौतिक शरीर पर हमारे आत्मा का अधिकार है, और वह जैसा चाहे इसको कर्मों में प्रवृत्त किया करता है। इसका कारण यह है कि हमारा आत्मा हमारे स्थूल शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित होने के कारण सूक्ष्म बन गया है, और सूक्ष्मता ही, ध्यान से देखने पर सारी शक्तियों का केंद्र ठहरती है। जिस प्रकार शरीर की अपेक्षा आत्मा श्रेयान् है उसी प्रकार शरीर के साथ संबंध रखने वाली भावनाओं की अपेक्षा आत्मा के साथ संबंध रखने वाली सूक्ष्म भावनाएँ अधिक बलवती हैं। इस दार्शनिक तत्त्व के हृद्गत हो जाने पर हम इस बात को सहज ही समझ जाते हैं कि ऐंद्रिय तन्त्रों को गुदगुदाने वाले साहित्य की अपेक्षा आत्मा की भावभंगियों को तरंगित करने वाले साहित्य का पद उन्नत क्यों है। हमारे हिन्दी-साहित्य में बिहारी की कविता कला-पक्ष की दृष्टि से सुतरां रमणीय संपन्न हुई है। चमत्कार के अशेष उपकरणों से सुसज्जित हुई उसकी मदमाती कविता-कामिनी रीति के राजपथ पर झूमती हुई देखते ही बनती है। शारीरिक सौंदर्य के चमत्कृत वर्णन में भी बिहारी ने कमाल किया है। उनकी भ्रमर-दृष्टि मधुमय स्त्री-जगत् के कोने-कोने में पहुँचती है, और वह जहाँ भी पहुँची है, वहीं उसने अपनी प्रतिभा की विजय-वैजयंती गाड़ दी है। उन्होंने शारीरिक प्रेम की ओस से एक-एक बूँद ले अपनी गतसई को भरा है। उनकी एक-एक बूँद शृंगार की कूक है, अनङ्ग का राग है और ऐंद्रिय प्रेम की वारुणी है इस विषय में बिहारी अंग्रेज़ी के कोट्स कवि को कहीं पीछे छोड़ गए हैं। किन्तु जब हम उनकी शारीरिक कविता का कबीर, तुलसी अथवा सूरदास की आत्मिक स्नेह में आमूलचूल पगी कविता के साथ सांमुख्य करते हैं, तब इसे उनकी कविता से कहीं निम्न श्रेणी की पाते हैं। जहाँ बिहारी की कविता को पढ़ हमारे शरीर में गुदगुदी दौड़ जाती है, हमारा

भूतजात स्त्री-रूप भूतजात की चमत्कृत अग्नि में ध्वस्त हुआ चाहता है, वहाँ कबीर और तुलसीदास की रचनाओं को पढ़ हम भौतिक जगत् के क्षेत्र से पार हो आत्मा के नन्दनवन में सरक जाते हैं और हमारा आत्मा दैवीय प्रेम की पीयूषवर्षा से आप्लावित हो जाता है। शारीरिक मनोवेगों को तरंगित करने वाली रचनाओं में हमारी सत्ता बहिर्मुख हो शतधा विकीर्ण होती है तो चरित्र पर प्रभाव डालने वाली रचनाओं में वह उचित मात्रा में बहिर्मुख होती हुई प्रधानतः अन्तर्मुख ह रहा करती है। पहली श्रेणी की रचनाओं के निर्माता साहित्यिक जन इस तथ्य को नहीं जानते कि गुलाब का फूल हमारे लिए जिस कारण सुन्दर है, समग्र संसार के अंतस् उस कारण ही की मुख्यता है। "संसार में जितनी अधिक अधिकता है उतना ही कठिन संयम भी है। उस केंद्र की बहिर्गामिनी शक्ति अनन्त विचित्रताओं के द्वारा अपने को चारों ओर सहस्रधा करती है और उसकी केंद्रानुगामिनी शक्ति इस उद्दाम विचित्रता के उल्लास को पूर्ण सामंजस्य के साथ भीतर मिलाकर रखती है। यही भी एक ओर विकास और दूसरी ओर निरोध है, इसी के अंतस् सुन्दरता है। संसार के अन्दर इसी छोड़ देने और खींच लेने का नित्य-लीलाओं में आदिदायवर्ं भगवान् अपने को सर्वत्र प्रकाशित कर रहे हैं। संसार की आनन्द-लीला को जब हम पूर्णरूप से देखते हैं, तब हमको ज्ञात होता है कि अच्छा-बुरा, सुख-दुःख; जीवन-मृत्यु सब ही उठ कर और गिरकर विश्व संगीत के नीरव छंद की रचना कर रहे हैं। यदि हम समष्टिरूपेण देखें तो इस छंद का कहीं भी विच्छेद नहीं है; कहीं भी सौंदर्य की न्यूनता नहीं है। संसार के अंतर सौंदर्य को इस प्रकार समग्र रूप से देखना और जानना ही सौंदर्य-बोध का अन्तिम लक्ष्य है।" जहाँ भौतिक सौंदर्य के पुजारी कवियों में इस सौंदर्य-बोध का अभाव है, वहाँ कबीर और तुलसी की रचनाओं में

यह बड़े ही भव्य रूप में निष्पन्न हो हमारे संमुख आया है।

संगीत के समान कला की सत्ता कला के लिए है इसका खंडन

कुछ विद्वान् "कला की सत्ता कला के लिए" मानते हुए साहित्य की संगीत के साथ तुलना करते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार संगीत का प्रभाव एक मात्र हमारे मनोवेगों पर पड़कर हमारे मन में आनन्द को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार साहित्य का चरम लक्ष्य भी एकमात्र आनंद-प्रसृति होता है। इनकी दृष्टि में साहित्य का कर्तव्य है आंतरिक तथा बाह्य जगत् में पाए जाने वाले भले बुरे, ग्राह्य और अग्राह्य सभी का समानरूप से केवल रस-निष्पत्ति के उद्देश्य से चित्रण करना। वे अपने पक्ष की पुष्टि में चित्रकला का भी ऐसा ही ध्येय बताते हैं। किंतु साहित्य के चरमलक्ष्य का यह सिद्धांत जहाँ समाज के लिए भयावह है, वहाँ यह तत्त्वदृष्टि से देखने पर एकदेशी भी ठहरता है। हम जानते हैं कि हमारे संपूर्ण क्रियाकलाप तथा हमारी अशेष चित्त-वृत्तियों का प्रमुख लक्ष्य हमारे जीवन को सुखी तथा उन्नत बनाना है। हम यह भी मानते हैं कि विशुद्ध संगीत का लक्ष्य आनन्दोत्पत्ति है; किंतु विशुद्ध संगीत में और कविता में थोड़ा भेद है। जहाँ संगीत में तान और लय का एकछत्र राज्य है, वहाँ कविता में विचारों को व्यक्त करने वाली भाषा भी विद्यमान रहती है। अब, यह सभी को प्रत्यक्ष होना चाहिए कि जहाँ विशुद्ध संगीत से एकमात्र सुख की उत्पत्ति होती है, वहाँ कविता के रूप में संकलित भाषा और संगीत से—यदि उस भाषा में उदात्त विचार हुए तो—आत्मिक प्रसाद भी मिलता है और चरित्र की पुष्टि भी होती है; और ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि जीवन और चरित्र दोनों एक वस्तु के दो नाम हैं। इतिहास में जब कभी कविता के रूप में संगीत और भाषा का यह . . . [illegible] है तभी तब उससे लोकहित की अत्यंत स्वच्छ

पाता रहा है। इस संबंध में कबीर, मीरा और सूरदास के नाम पर्याप्त होने चाहिएँ।

विचार के इस बिंदु से एक पग आगे बढ़ कर जब हम वास्तुकला और मूर्तिकला पर ध्यान देते हैं, तब इनके क्षेत्र में भी हमें कला की सत्ता कला के लिए वाला सिद्धांत सर्वांगीण सत्य नहीं उतरता दीख पड़ता। एक सुन्दर चित्र तथा रमणी-मूर्ति को देख कर हमारे मन में सौंदर्य-भावना तो उत्पन्न होती है, किंतु साथ ही, उसकी उत्पत्ति के अनन्तर हमारे भावुक हृदय पर उसका एक चारित्रिक प्रभाव भी अनिवार्यरूप से पड़ा करता है। और जब हम एक मनुष्य द्वारा रचित चित्र अथवा मूर्ति के रूप में मनुष्य की इतिकर्तव्यता को नीलाम, विधात्मा के द्वारा रची अनन्त विश्व की विपुल मूर्ति पर और उसी के द्वारा नीलाम नैश अंबर-पट पर खचित किए अगणित नक्षत्रों पर ध्यान देते हैं, तब हमारे हृदय-पटल पर जो इस दिव्य चित्रकला तथा मूर्तिकला का चारित्रिक प्रभाव पड़ता है वह सचमुच वर्णनातीत है। इस प्रकार जब हम उत्तुङ्ग हिमाचल पर खड़े हो, उसके विभिन्न रूपों को व्यक्त करने वाली विविध कलाओं पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें इन सभी की सत्ता उसको परिपूर्ण तथा परिपक्व बनाने के लिए संपन्न हुई दृष्टिगत होती है। इस विषय में सुप्रसिद्ध अँग्रेज़ समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड के निम्नलिखित वचन ध्यान देने योग्य हैं—

"याद रखो जीवन का महत्त्व तथ्य विचारों को सुन्दरता तथा प्रभावशालिता के साथ जीवन में; "किस प्रकार जिऊँ" इस प्रश्न में समन्वित करने में है। बहुधा आचार पर संकुचित तथा विसंवादी दृष्टि से विचार किया जाता है। उसे ऐसे मंतव्यों और विश्वाससूत्रों के साथ टांक दिया गया है, जिनके दिन बीत चुके हैं। आज आचार डींग मारने वाले धर्मध्वजियों के

हाथ में पड़ गया है। वह हम में से बहुतों को खलने लगा है। हम कभी कभी ऐसी कविता की ओर भी खिंच जाते हैं जो आचार का विरोध करती है; जिसका आदर्श उमर खय्याम के इन शब्दों में है कि "आओ! जो समय मसजिद में गँवाया है उसकी कमी मधुशाला में पूरी कर लें।" कभी कभी हमें ऐसी कविता सुहाने लगती है, जो आचार की उपेक्षा करता हो, कविता जिसमें सार हो या न हो, परंतु जिसकी भाषा सुन्दर हो और अलकार खरे हों। दोनों दशाओं में हम अपने आपको भ्रांति में डालते हैं। भ्रमोच्छेद का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि हम "जीवन" के विपुल तथा अविनाशी शब्द पर अपने मन को एकाग्र करें। वह कविता जो आचार का विरोध करती है एक प्रकार से "जीवन" का प्रत्याख्यान करती है, और वह कविता जो आचार को उपेक्षा-दृष्टि से देखती है, स्वयं "जीवन" की उपेक्षा करती है।"

जीवन के दो पक्ष श्रेय और हेय

यहाँ कला की सत्ता कला के लिए बताने वाले यह कहेंगे कि जीवन के श्रेय और हेय ये दो पक्ष हैं; एक के बिना दूसरे की सत्ता असंभव है। इस लिए यदि साहित्य में श्रेय का चित्रण होना आवश्यक है तो उसमें हेय का चित्रण भी वांछनीय है। जहाँ महाकवि वाल्मीकि ने श्रीराम-लक्ष्मण, भरत और सीता के मनोहारी चरित्रों का वर्णन किया है; वहाँ उन्होंने साथ ही रावण, और उसके बंधुबांधवों का भी वर्णन किया है। जहाँ हमें श्रीव्यास के महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर तथा विदुर जैसे परम पावन राजर्षियों के दर्शन होते हैं, वहाँ उसमें हमें दुर्योधन जैसे हठी, दूसरों के स्वत्व पर जोर जमाने वाले आततायियों के चरित्र भी मिलते हैं। जहां शेक्सपीयर ने अपने अमर नाटकों में जीवन की भव्य भावनाओं को सुसज्जित करके मानव-समाज के संमुख रखा है, वहाँ उन्होंने इयागो तथा लेडी मेकबेथ जैसे दारुण व्यक्तियों के भी चित्र खींचे हैं। फलतः कला की सत्ता केवल कला के लिये बताने

वाले आचार्यों के मन में जहाँ रसोत्पत्ति के लिए रस की पुष्टि श्रेय पक्ष के निदर्शन से होती है वहाँ वह, उतनी ही हेय पक्ष के विवेचन से भी संपन्न होती है। फलतः एक कलाकार का लक्ष्य अपनी रचनाओं में केवल रसोद्बोधन होना चाहिए; चरित्र संबंधी बातों से उसका कोई संबंध नहीं।

इसके उत्तर में हम केवल इतना ही कहेंगे कि जीवन के श्रेय और हेय इन दोनों पक्षों में से केवल श्रेय ही की अपनी स्वतंत्र श्रेय नित्य है, हेय सत्ता है, क्योंकि चरमावस्था में पहुँच कर हेय या का ध्वंस हो तो विगलित हो जाता है, अथवा वह विकास की अनवरत जाता है प्रक्रिया में से गुज़रता हुआ श्रेय ही में परिणत हो जाता है। विश्व के महाकवि अपनी रचनाओं में दोनों ही का चित्रण करते हैं; किंतु लक्ष्य उनका सदा हेय की इयत्ता तथा दुरवस्था दिखाकर श्रेय की अनन्तता और उसी की चरम विजय दिखाना होता है। जहाँ भार के मंगलमय आदर्श का अनुसरण करते हुए रामायण और महाभारत रावण तथा दुर्योधन के हेय चरित्रों की दुरवस्था दिखाकर प्रत्यक्ष रूप से श्रीराम और युधिष्ठिर के सदामंगल चरित्रों की उपादेयता संप्रदर्शित की गई है, वहाँ यूरोप के संकुचित-रूपेण यथार्थवादी आदर्श को ध्यान में रख कर रचे गए शेक्सपीयर के नाटकों में तो स्पष्टरूप से हेय चरित्रों का विध्वंस दिखा कर श्रेय की महिमा अभिव्यक्त की गई है, और कहीं केवल हेय चरित्रों का अन्तिम पतन दिखा कर श्रेय चरित्रों की ओर अग्रसर होने का संकेत किया गया है। इयागो की लक्ष्यविहीन दुष्कर्मकारिता को देख हमारे मन में स्वप्न में भी उस जैसा बनने की इच्छा नहीं उत्पन्न होती; इसके विपरीत हमारे मन में उसके समुच्चय में पतनशीलता देख उससे दूर हटने की इच्छा उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है और अंत में हमारा आत्मा उसके प्रति विद्रोह में उठ खड़ा होता है। और इस प्रकार महाकवि वाल्मीकि,

व्यास, कालिदास, तुलसीदास तथा शेक्सपीयर की साहित्यिक रचनाएँ, कला के लिए होने पर भी, अन्त में जीवन को मंगलमय बनाने वाली सिद्ध होती हैं; और जो ध्येय तथा दृष्टिकोण साहित्य के विषय में इन महाकवियों का रहा है, वही अन्य सभी साहित्यिक निर्माताओं का होना अभीष्ट है।

भाव और रस-निरूपण

भाव और रस-निरूपण

भावना अथवा मनोवेगों में साहित्यिकता संपन्न करने वाले तत्त्वों का निरूपण हो चुका, अब हमें भावों और उनकी विधाओं के निरूपण की ओर अग्रसर होना है। इस विषय में हमें दार्शनिकों द्वारा बताई गई भाव की इंद्रियजनित, प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक आदि विधाओं में न पड़ कर उसकी उन विधाओं पर विचार करना है, जिनका साहित्याचार्यों ने रस-निरूपण के प्रसंग में वर्णन किया है।

रस : उनके स्थायी भाव

साहित्य पर विचार करते हुए हमने संकेत किया था कि भारतीय आचार्यों ने उसका लक्षण "रसवत् वाक्य" किया है। इस रस को—जो कि इनकी दृष्टि में काव्य अथवा साहित्य का आत्मा है—इन्होंने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, और शान्त इन भागों में विभक्त किया है। इन रसों की उत्पत्ति क्रमशः रति अथवा प्रेम, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा अथवा घृणा, विस्मय अथवा आश्चर्य तथा निर्वेद से बताई है। क्योंकि शृंगार रस की उत्पत्ति में रति अथवा प्रेम की भावना अनवरत बनी रहती है, इस लिए उसे शृंगार रस का स्थायी भाव कहा जाता है। इसी प्रकार हास्य रस में हास की, करुण रस में शोक की, रौद्र रस में क्रोध की, वीर रस में उत्साह की, भयानक रस में भय की, बीभत्स रस में जुगुप्सा अथवा घृणा

हमारे आचार्यों ने भावों को, उनकी गहराई की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार दो भागों में विभक्त किया है। पहले स्थायी भाव—जिन का ऊपर वर्णन हो चुका है—हमारे हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। दूसरे वे भाव भी हैं, जो भाव के समुद्र में छोटी तरंगों की भाँति उठकर थोड़े ही समय में विलीन हो जाते हैं। इन्हें **संचारी अथवा व्यभिचारी भाव** कहते हैं। इनका काम स्थायी भाव को पुष्ट करना मात्र है। किसी कविता को पढ़ते समय अथवा किसी नाटक को देखते समय एक स्थायी भाव की उत्पत्ति होकर जब तक वह हमारे मन में रहेगा, तब तक उसी की प्रधानता रहेगी; अन्य भाव—चाहे वे उसके सजातीय हों अथवा विजातीय—उसके पोषक होकर आते हैं; उसमें बाधा डालने के लिए नहीं। उनका अपने स्थायी भाव को परिपुष्ट कर उसमें लीन हो जाना ही इतिकर्तव्य है। जिस प्रकार खारे समुद्र में गिर कर मीठी नदियाँ खारी बन जाती हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव में मिलकर छोटे छोटे संचारी भाव भी तदाकार बन जाते हैं। स्थायी भाव ही रस के लिए मूल आधार प्रस्तुत करते हैं; संचारी भाव तो स्थायी भाव को पुष्ट करने के उद्देश्य से किंचित् समय तक संचरण कर फिर उसी में मिल जाते हैं।

स्थायीभाव और व्यभिचारी भाव

उदाहरण के लिए, जब हम किसी व्यक्ति को अपने प्रति अपशब्द कहते अथवा अन्य किसी प्रकार से अपना अपघात करता देखते हैं, तब हमारे मन में क्रोधाग्नि भड़क उठती है। क्रोध का यह भाव स्थायी है, जो अनुकूल समय पाकर जागृत हो गया है। किन्तु यदि वह व्यक्ति इससे पहले भी हमारा निरादर कर चुका है तो उसका स्मरण आते ही हमारा क्रोध द्विगुणित हो जाता है। यह स्मरण ही संचारी या व्यभिचारी भाव है। यह हमारे क्रोध को बढ़ाकर स्वयं लीन हो जाता है।

ये संचारी भाव तैंतीस हैं, जैसे:- निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, मति, अलसता, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता।

उपर्युक्त तैंतीस संचारी या व्यभिचारी भावों से यह नहीं समझना चाहिए कि संचारी भाव केवल तैंतीस ही हो सकते हैं। तैंतीस तो उपलक्षण मात्र हैं। इनके सहारे, इन्हीं से मिलती जुलती और भी मानसिक क्रियाएँ हो सकती हैं, और यदि वे भी स्थायी भाव का परितोष करती हों तो उन्हें भी संचारी भाव कहा जा सकता है।

भाव और रसनिष्पत्ति

स्थायी भाव, अनुभाव और संचारी भावों का वर्णन हो चुका। काव्य के 'आत्मा रस की निष्पत्ति इन्हीं से होती है। इन सब स्थायी भाव प्रधान है और शेष सब स्थायी भाव को र की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। भावों क उक्त विवेचना साहित्यिक रसास्वादन की अपेक्षा मनो विज्ञान की विश्लेषणा से अधिक संबंध रखती है; और हमें इस क्षेत्र में भी अपने आचार्यों की वही, हर बात को अति तक पहुँचा देने वाली प्रवृत्ति काम करती दृष्टिगत होती है, जो सदा से स्थूल तत्त्वों की अपेक्षा अमूर्त वस्तुओं में अपना वैभव दिखाती आई है और जिसे बाल की खाल निकालने की कुछ आदत सी पड़ गई है। भावों के विवेचन में संचारी भावों का समावेश तो युक्तिसंगत हो सकता है, किंतु विभाव और अनुभावों को भी— जिनमें बहुत से शारीरिक चेष्टामात्र हैं—भावों की श्रेणी में एक जगह बैठाना भाव शब्द के अर्थ को आवश्यकता से अधिक व्यापक बना देना है।

यहाँ तक हमने साहित्य के भाव-पक्ष पर विचार किया है। अब हमें साहित्य के उस पक्ष पर विचार करना है, जिस के द्वारा हम साहित्य के भाव-पक्ष को

काशित करते हैं; इसी को साहित्यशास्त्री कला-पक्ष के नाम से पुकारते हैं।

साहित्य का कला-पक्ष

यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक साहित्यिक रचना को सौंदर्य-विभूषित रने के लिए उस के भाव-पक्ष का रमणीय तथा रागात्मक होना आवश्यक है, सी प्रकार उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसके कला-पक्ष का भी रुचिर तथा ावात्मक होना वाञ्छनीय है। किंतु कला-पक्ष पर विस्तृत विवेचन करने से हले उसके विषय में कतिपय सामान्य बातें जान लेना आवश्यक है।

कला-पक्ष की व्याख्या

मेरे मन में एक विचार आया है; मैं लाक्षणिक संकेत द्वारा ऐसा ही भाव आपके मन में उत्पन्न करता हूँ, अथवा यों कहिए कि मैं अपने विचार को आपके मन तक पहुँचाता हूँ। भाषा का यही काम है; यह लिखी जा सकती है और केवल कथित रूप में भी रह सकती है। किंतु दोनों ही परि-पतियों में यह केवल भाषा मात्र है; इसे हम साहित्य नहीं कह सकते।

अब, प्रश्न यह है कि मैं आप तक अपने विचार कैसे पहुँचाता
अपने प्रतिदिन के व्यवहार में हम अपने मनोवेगों को स्फुरित करने वा
वस्तुविशेष को दूसरे व्यक्ति के हाथ में सौंप कर उसके मन में अपने जैस
भावनाएँ उत्पन्न कर सकते हैं। मान लीजिए, एक कमल-पुष्प के सौंदर्य को
निहार हमारा मन सौंदर्य-भावनाओं से भर गया है; हम अपने मित्र के मन
में भी उसी प्रकार के मनोवेग उत्पन्न करने के लिए उस पुष्प ही को उसके
हाथ में रख देते हैं। किंतु कलाओं में इस प्रकार भावाभिव्यक्ति नहीं की जा
सकती। यहाँ हमें अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए अप्रत्यक्ष उपायों को
व्यवहार में लाना होता है। भाव-प्रकाशन के इन सभी उपायों का साहित
के कला-पक्ष में अंतर्भाव है।

हम देख चुके हैं कि मनोवेगों की उत्पत्ति उनके विषय में बातच
करने, वाद-विवाद चलाने अथवा उनकी विश्लेषणा से नहीं होती। इस
लिए हमें उन उन मनोवेगों को गुदगुदाने वाले मूर्त द्रव्यों को उपस्थि
करना होता है, और यह काम हमारी कल्पना-शक्ति पर आश्रित है। किन्तु
इस कल्पनातत्त्व के समान रूप से विद्यमान रहने पर भी मनोवेगों को
स्फुरित करने के अन्य अगणित साधन हो सकते हैं। उदाहरण के लिए,
मान लीजिए एक कवि आपके मन में कमल के सौंदर्य की भावना उत्पन्न
करना चाहता है। वह इस काम को आपके सम्मुख कमल का ऐसा सजीव
वर्णन करके कर सकता है, जिसमें उस पुष्प के ऐंद्रिय तत्त्व, अर्थात् रूप,
विन्यास, आकार तथा सुगन्ध का चित्रण हो; वह इस के लिए आपके
सम्मुख ऐसे विचार तथा मनोवेग भी प्रस्तुत कर सकता है, जो उस पुष्प
को देख कर स्वभावतः एक युवक के मन में उठते हैं, जैसे यौवन का रंग
काँटों का खटका, सौंदर्य का अभिमान; और वह चाहे तो आपके सम्मुख
कमल को देख अपने मन में उत्पन्न हुए निर्वेद भाव को रख सकता है,

जिसकी उत्पत्ति कमल की, अथवा दूसरे शब्दों में, सौंदर्य मात्र की अनित्यता से होती है। कमल के विषय में आपके मन में रागात्मक भाव उत्पन्न करने के लिए इन तीनों उपायों में से वह कवि कौन सा उपाय काम में लाता है; यह बात नितरां उसकी अपनी मानसिक वृत्ति पर निर्भर है। और इसका दूसरे शब्दों में यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य का कला-पक्ष ठीक वैसा ही होता है, जैसा कि साहित्य के रचयिता की अपनी मनोवृत्ति।

मनोवेग और प्रतिरूपमयी भाषा

एक बात और; हमने अभी कहा था कि मनोवेगों की उत्पत्ति उनके विषय में बातचीत करने, वाद-विवाद चलाने अथवा उनकी विश्लेषणा करने से नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि मनोवेगों को स्फुरित करने वाली भाषा व्यवहार की सामान्य भाषा से भिन्न प्रकार की होती है। जिस प्रकार मनोवेगों के तरंगित होते ही हमारा आत्मा बाह्य संसार से पराङ्मुख हो आत्मप्रवण हो जाता है, उसी प्रकार मनोवेगों को व्यक्त करने वाली भाषा भी स्वयमेव बाह्य विस्तार से उपरत हो अपने घनरूप में संकुचित हो जाती है। जिस प्रकार हम अपनी केन्द्र-प्रतिगामिनी शक्ति के द्वारा इंद्रियों में से हो कर कमलादि बाह्य पदार्थों को चखते, देखते, उन पर रोते और हँसते हैं, उसी प्रकार अपने भावों को व्यक्त करने के साधनरूप भाषा के क्षेत्र में भी हम अपनी इन दोनों शक्तियों द्वारा भाषा के दैनिक प्रयोगों के बाह्य क्षेत्र में जाते और फिर आत्मा के अंतर्मुख होने पर भाषा के भाव-निबद्ध संकुचित, किंतु पहले से कहीं अधिक उत्कट, आंतरिक क्षेत्र में लौट आते हैं। इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि हमारे दैनिक व्यवहार में आनेवाली भाषा की अपेक्षा हमारी साहित्यिक भाषा कहीं अधिक संगीतमय और इसलिए

...नाम साथ जाते; कलाकार की दृष्टि अनावश्यक, ...
...शब्दों को तज कर काम चल सकता है, उन पर न पड़ केवल साहि...
...या मनोवेगों के आत्मभूत शब्दों पर ही पड़ती है, वह उन्हीं शब्दों...
...की रचना में स्थान देता है। शब्द-जाल से बचने की उसकी यह ...
...हम साहित्यिक संक्षेप भी कह सकते हैं; इतनी अधिक बढ़ जाती...
...कभी कभी—और महाकवि तो सदा ही, बहुत अधिक—एक वस्तु...
...के साथ संबंध रखने वाले अनेक तत्त्वों तथा भावों को मुखरित करने...
...र कोई एक ऐसा शब्द छाँट निकालते हैं जो दीपक की भाँति अकेला...
...सब भावों को टिमटिमा देता है। उदाहरण के लिए, मृत्यु को और...
...साथ संबंध रखने वाले संज्ञा-भाव तथा पुनर्जन्म आदि के अगणित...
...ही एक कवि "मृत्यु" न कह उसे "निद्रा" इस नाम से पुकार कर...
...क कर देता है। जिस कवि में थोड़े शब्दों से बहुत अधिक अर्थ को...
...करने की यह शक्ति जितनी ही अधिक है वह उतना ही चतुर...
...माना जाता है।

...हमारे आत्मा की केंद्रानुगामिनी शक्ति हमारे आत्मा में और...
... उसके साथ हमारे आत्मप्रकाशन, अर्थात् हमारी...
...पा का भाषा में संकोच अथवा नियंत्रण उत्पन्न करती है,...
...रहस्य यहाँ वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर जा, यहाँ फैल कर...
... पतले पड़े हुए आत्मतत्त्व को अंतर्मुख करके उसे घन...
...बनाती है; और साथ ही उसकी प्रकाशन-सामग्री भाषा को...
...क व्यवहार में आ, फैलकर पतली सी, निर्जीव सी हो जाती है—...
...के घन तथा मूर्त बना देती है। जो भाषा प्रतिदिन के...
...ार में "नाम" अथवा "शब्द" के रूप में तरल थी, एक

अस्पष्ट शब्दरूप थी; वही अब साहित्य के राग-क्षेत्र में आ, आत्माभिमुख हो मूर्त बन जाती है; अर्थात् अब कमल के सौंदर्य का वर्णन प्रतिदिन की सामान्य भाषा में न कर उसकी अभिव्यक्ति ऐसे शब्दों द्वारा की जाती है, जो कमल तत्त्व के प्रतिरूप हैं, उसकी प्रतिकृति हैं, और जिस प्रकार कमल को देख भावुक द्रष्टा के मन में अगणित भावनाओं की लड़ी चल पड़ती है, उसी प्रकार कवि द्वारा प्रयुक्त उसके वाचक घनीभूत एक शब्द को पढ़कर पाठक के मन में वाच्यार्थ के साथ साथ लाक्षणिक तथा व्यंग्य अर्थों की शृंखला बँध जाती है; और इस प्रकार कवि का एक शब्द ही सामान्य पुरुषों द्वारा प्रयुक्त हुए सहस्रों शब्दों से अधिक अर्थों का द्योतक बन जाता है। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि जिस प्रकार एक कलाकार भाव के क्षेत्र में, अनवरत रूप से होने वाले अगणित परिवर्तनों के समष्टिरूप इस संसार में से, परिवर्तन के किसी एक बिन्दु को ले उसी में जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार वह कला-पक्ष में आ, अगणित शब्दों की समष्टि में से ऐसे शब्द ढूँढ निकालता है, जो अपने आदर्श के साथ तदाकार होने के कारण उसे पाठक के संमुख मूर्तरूप में उपस्थित करते हैं; और वह भौतिक कमल के समुख न होने पर भी उसको उसी रूप में दर्शन करने लगता है, और भौतिक कमल को अपनी आँखों से देखने पर जो भाव उसके मन में सचरित हो सकते थे, उनकी अपेक्षा इस वासनामय कमल को देख उसके मन में कहीं अधिक भाव उत्पन्न होते हैं और वे उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुखमय भी होते हैं।

शब्दों की इस अनेकार्थबोधिनी शक्ति को हमारे साहित्य शास्त्रों ने शब्दों की शक्ति अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन तीन भागों में विभक्त करके, लक्षणा के उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा,

व्यंजना

धर्मिता, लक्षणा, गम्यता, गम्यमानता आदि सौत्रांत भेद; व्यंजना के अभिधामूलक और लक्षणामूलक ये दो प्रमुख भेद; और शाब्दी व्यंजना के शब्द, नाद और अर्थ इन तीन प्रकार के अर्थों के कारण, अनेक भेद किए हैं। अर्थ का उक्त विश्लेषण और वर्गीकरण शब्द-शास्त्र की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण होने पर भी साहित्य के रसास्वाद के लिए इतना अधिक उपयोगी नहीं है; इस लि[ए] हम इस विश्लेषण में न पड़ इतना ही कहेंगे कि इस सबका मूल साहित्य[िक] शब्दों की उस क्षमता, शक्ति तथा व्यापकता में है, जो आत्मा के रागात्मिका होकर अंतर्मुखी होने पर अर्थ और शब्द में उत्पन्न होने वाली तदाकारता से उत्पन्न होती है।

ाषा की शुद्धता, ...पतता यथार्थता ...ोर अभि- ...यंजकता

साहित्य के मूल तत्त्व आत्मानुराग का और उससे स्वाभाविक-रूपेण प्रवर्तित होने वाले शाब्दिक तत्त्वों का उक्त निदर्शन हृदयगत कर लेने पर यह बताना आवश्यक नहीं रह जाता कि आत्मानुराग की सच्ची निष्पत्ति होने पर कवि के शब्दों में शुद्धता (correctness), नियतता (precision), यथार्थता (appropriateness) और अभिव्यंजकता (expressiveness) ...िव आ जाती है। एक सच्चे साहित्यकार को, रागों के द्वारा उसके ...ा के अनुरक्त हो उठने पर, अपने भावों को व्यक्त करने के लिए ...से शब्द नहीं ढूँढने पड़ते; उसे प्रयुक्तायुक्त के झमेले में भी नहीं पड़ता, उसे साहित्यशास्त्रियों के द्वारा उद्भूत किये गए अन्य ...ों से भी परिचित नहीं होना पड़ता; उस समय उसकी जिह्वा पर उचित शब्द नाचने लगते हैं, या यों कहिए कि उसके द्वारा ...ा किए जीवन का आदर्श, अर्थात् उसकी रचना का भावपक्ष—

स्वयमेव आत्मानुरूप शब्द-आदर्श को, अर्थात् कला-पक्ष को ढूँढ लेता है। उस समय उसके शब्द स्वयमेव सांकेतिक, प्ररोचक और उद्दीपक बन जाते हैं।

हमने अभी कहा था कि एक यथार्थ कवि विश्व में अविरतरूपेण घूमने वाली परिवर्तनों की शृंखला में से—और इसी परिवर्तन-माला का नाम सच्चा जीवन है—किसी एक कड़ी को पकड़ उसी में जीवन-समष्टि को प्रतिरूपित करके हमारे सामने ला खड़ा करता है—और उसकी इसी क्रिया को हम कविता आदि के नाम से पुकारते हैं—उसके द्वारा भौतिक जगत् में से, उद्भावित किया हुआ जीवन का यह आदर्श अपने को प्रकाशित करने के लिए, सपदि, शब्द के सूक्ष्म पट पर प्रतिफलित हो जाता है, जो पट, जगत् अर्थात् अर्थ के साथ साथ उसी के समान सदा से अविच्छिन्न बना चला आता है। बस, एक चतुर कवि का सब से बड़ा काम है स्थूल तत्त्वों के आदर्श को—और इसी का पारिभाषिक नाम अर्थ है—और सूक्ष्म शब्दमय जगत् के ऊपर पड़ने वाले उसके प्रतिबिंब को अपनी वाणी अथवा लेखनी द्वारा जगत् के संमुख ला उपस्थित करना।

मूर्त तत्त्व और शब्दपट

उक्त तत्त्व के हृद्गत होते ही हमें इस बात की उपलब्धि हो जाती है कि जिस प्रकार हमारा बाह्य अर्थमय जगत् मूलरूप से एक अविभाज्य है, अर्थात् व्यक्तिरूपेण पृथक् पृथक् होने पर भी समष्टिरूपेण वह सारा अनवच्छिन्न एक है, उसी प्रकार उसका अनुरूपी शब्द-जगत् भी एक एक शब्द की दृष्टि से पृथक् पृथक् होने पर भी शब्दधारा की दृष्टि से अविभाज्य है, अर्थात् जिस प्रकार कवि के द्वारा उद्भावित जीवन-आदर्श एक अखंड वस्तु

शब्द और अर्थ की अविभाज्यता

है। इसी तत्त्व के आधार पर हमारे प्राचीन दर्शनकारों तथा वैयाकरणों ने जहाँ व्याख्येय बाह्य जगत् को अखंड माना है, वहाँ उसके अनुरूपी, उसकी व्याख्या करने वाले शब्दरूप वेद भगवान् को भी नियतानुपूर्वीसहित नित्य माना है। जिस प्रकार हम सृष्टि के आदि कवि भगवान् की रचना के भाव-पक्ष, अर्थात् बाह्य जगत में किंचित् परिवर्तन करते ही उसके सौंदर्य को खंडित कर देते हैं, जिस प्रकार हम एक सुरूप रमणी के केशपाशों को सिर से उतार उन्हें उसकी जंघाओं पर चिपका देने पर उस रमणी को रमणी से राक्षसी में परिवर्तित कर देते हैं, इसी प्रकार इस भाव-पक्ष का व्याख्यान करने वाले शब्द-रूप वेद की आनुपूर्वी में किंचित् भी भेद डालकर हम उसकी स्वाभाविक रसिकता को भंग कर देते हैं। ठीक यही बात हम एक महान् कवि की रचना के विषय में कह सकते हैं।

यथार्थ कविता का अनुवाद क्यों नहीं होता

जिस प्रकार कालिदास की रचना का भाव-पक्ष अखंड है, जिस प्रकार उसके द्वारा उद्भावित किया गया जीवन का आदर्श अटूट एक है, उसी प्रकार भाव का अनुरूपी महाकवि का शब्द-पक्ष भी—अर्थात् वह शब्दमुकुर, जिस पर उसके द्वारा सींचा हुआ जीवन का आदर्श प्रतिबिंबित हुआ है—एक अखंड तथा अटूट पट है। जिस प्रकार कालिदास के शकुंतला नाटक में आप उसके भावपक्ष में लेशमात्र भी भेद डालकर उसके स्वाभाविक सौंदर्य को नष्ट कर देंगे, उसी प्रकार उसके भाव-पक्ष को प्रदर्शित करने वाली उसकी शब्दानुपूर्वी में भी आप नाममात्र का परिवर्तन कर उसके सौंदर्य को मलिन कर देंगे। अर्थ और शब्द की इस तदात्मता के कारण ही एक यथार्थ कवि की रचना का अन्य भाषा में अनुवाद [नहीं] किया जा सकता। इसलिए जब हम महाकवि बाणभट्ट की अनुपम रचना कादंबरी का किसी अन्य भाषा में अनुवाद पढ़ते हैं, तब हमारे

संमुख उसके भाव-पक्ष का कंकाल बड़ी ही करुण दशा में आ उपस्थित होता है। प्रातः और सायं समय के वर्णन जिन्हें पढ़ हमारे आत्मा में एक साथ विविध रंगों और अनुरागों की पिचकारियाँ छूटने लगती थीं, अब निर्जीव, नीरस और उखड़े-पुखड़े दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार जब हम अंग्रेज़ी के महाकवि शेक्सपीयर का अनुपम रचनाओं को हिन्दी आदि के अनुवाद में पढ़ते हैं, तब हमें उनका सहस्रों विशेषताओं में से एक का भी आभास नहीं होता और हम कह उठते हैं कि क्या इन्हीं यथों रचनाओं के आधार पर इन्हें विश्व के दो या तीन कवियों में से एक बताया जाता है! आप अनुवाद करते समय रचना के भाव-पक्ष को तो हिलाते ही हैं, उसके कला-पक्ष को तो आप समूल ही तोड़ फेंकते हैं।

जब हम शब्द और अर्थ की इस दार्शनिक अविभाज्यता को भलीभाँति हृद्‌गत कर लेते हैं, तब साहित्य-शास्त्रियों का यह सिद्धांत हमारी समझ में सहज ही आजाता है कि शब्दों का अपना स्वतन्त्र अर्थ कोई नहीं है, और वे परस्परोद्दीपन (interinanimation or interpenetration) अथवा परस्पर-प्रवेश के द्वारा ही—अर्थात् वाक्य में आनुपूर्वीविशेष के साथ रक्खे जाने पर ही अर्थ को व्यक्त करते हैं, आनुपूर्वीविशेषों में रक्खे हुए एक ही अर्थ को नहीं, अपितु अर्थों की अगणित विधाओं को व्यक्त कर सकते हैं। जिस प्रकार एक स्थूल पदार्थ की, दूसरे अर्थों के नितांत अभाव में, स्वतंत्ररूपेण सत्ता नहीं कही जा सकती, इसी प्रकार एक शब्द की भी अन्य शब्दों के अभाव से स्वतंत्र अर्थात् अर्थरूपा सत्ता नहीं सोची जा सकती। जिस प्रकार चित्रकार का एक बिंदु अन्य बिंदुओं के अभाव में निरर्थक होता है, उसी प्रकार साहित्यकार का एक शब्द भी अन्य शब्दों की अनुपस्थिति में सुतरां निरर्थक हो जाता है। और

शब्दों का परस्परोद्दीपन और परस्पर प्रवेश

जिस प्रकार चित्रकार के विविध बिंदु, क्रमविशेष में विन्यस्त होकर ही आकारविशेष को अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार एक सुकवि का शब्द-जगत् भी आनुपूर्वीविशेष में विन्यस्त होकर ही अर्थविशेष को अभिव्यक्त किया करता है। इस लिए एक सुकवि की रचना में पदों की संगति के साथ साथ वाक्य की संगति भी अनिवार्य रूप से हुआ करती है।

कहना न होगा कि कलापक्ष को सुरूप बनाने में शब्दों की और शब्द-विन्यास की प्राकृतिकता तथा स्वाभाविकता आवश्यक वस्तु हैं। ये दोनों बातें साहित्यिक पुरुष की आंतरिक स्वाभाविकता पर निर्भर हैं। यदि वह कलाकार स्वयं प्रकृतिप्रिय है, यदि उसके भावों में और अंतर तथा बाह्य जगत् में अनुरूपता है तो वह अनुरूपता उसके शब्दों में स्वयमेव प्रतिफलित हो जाती है, और हमें उसकी रचना को पढ़ते समय कहीं भी रुकना नहीं पड़ता; उसमें हम अप्रतिहत हो बहे चले जाते हैं। इस तत्त्व को ध्यान में रख जब हम महाकवि कालिदास के रघुवंशांतर्गत अजविलाप को पढ़ते हैं, तब हमें उसमें स्वयं प्रकृति रोती दीख पड़ती है, रघुवंश का शब्द शब्द रोता सुनाई पड़ता है; कालिदास और अज दोनों एक हो रोते दिखाई पड़ते हैं। और जब हम इस दृष्टि से उनके शकुन्तला नाटक में प्रवेश करते हैं, तब हमें वहाँ आश्रम का पत्ता पत्ता, वहाँ के पशु-पक्षी, यहाँ तक कि उस खंड की संपूर्ण समष्टि शकुन्तला और दुष्यन्त के साथ एक ही प्रेमरूपक की ओर अग्रसर होती दीख पड़ती है। विश्व-प्रेम के उस कथानक को खड़ा करते समय महाकवि की जिह्वा पर वे ही शब्द उतरे हैं, जो स्वयं प्रेम के प्रतिरूप हैं और जो तपस्वियों के आश्रम में प्रेम-दीक्षा लेने वाले दुष्यंत और शकुन्तला की नाईं अपने आप भी प्रेम में पगे एक दूसरे के साथ संगत होकर विन्यस्त पड़े हैं। कला-पक्ष का यही रुचिर परिपाक हमें महाकवि तुलसीदास तथा

कविता और शब्दविन्यास

शेक्सपीयर की रचनाओं में उपलब्ध होता है।

साहित्य की स्वाभाविकता और यथार्थता

किसी रचना में प्राकृतिकता तथा स्वाभाविकता होने पर यथार्थता स्वयमेव आ जाया करती है। हम अपने आधुनिक हिंदी-कवियों को अँग्रेज़ी तथा बंगला-कविता का विवेकशून्य अनुकरण करने की कुप्रवृत्ति के कारण एक असह्य दोष से ग्रस्त हुआ पाते हैं। इनमें से मैथिलीशरण, पंत तथा प्रसाद जैसे कतिपय सुकवियों को छोड़ शेष सभी की रचनाएँ अप्राकृतिकता, अस्वाभाविकता तथा अयथार्थता में फँसी पड़ी हैं। इनमें से बहुतों में प्रतिभा का लेश नहीं, सूक्ष्मदर्शिता का नाम नहीं, फिर दार्शनिक दृष्टि का तो कहना ही क्या। जहाँ हृदय में तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुई विशदता तथा गंभीरता नहीं, वहाँ सच्ची रागात्मक दृष्टि उत्पन्न ही कैसे हो सकती है। कविता को सृजन करने वाले इन सब तत्त्वों के अभाव में इनमें से बहुसंख्यक कविमन्य कहीं अंग्रेज़ी की नकल कर और कहीं बंगला अथवा मराठी की नकल कर जनता के संमुख ऐसे बेसुरे राग अलाप रहे हैं, जिनका न कोई सिर है और न पैर। जिधर देखो उधर ही चालू प्रेम की चीख है और नुमायशी अग्नि-ज्वाला की चौंध है। इस प्रकार के कवि हृदय की छोटी सी चिनगारी को शब्दाडंबर द्वारा जनता के संमुख ज्वाला बना कर रखते हैं, वे कृत्रिम प्रेम को कबीर, रवीन्द्र तथा शैले का प्रेम बना कर दर्शाते हैं, इनकी रचनाओं में जहाँ शब्दों का भारी आटोप और आडम्बर है, वहाँ अंग्रेज़ी तथा बंगला से उधार ली हुई नई नई लाक्षणिकताओं का विडम्बन भी है। हृदयगांभीर्य न होने के कारण ये लोग तुच्छ सी बात पर चीख उठते और अपने पाठकों तथा श्रोताओं को अपनी चीख के द्वारा प्रभावित करना चाहते हैं। हिंदी साहित्य की वर्तमान में सब से बड़ी आवश्यकता उसके रचयिताओं में यथार्थता को उत्पन्न करना है।

यथार्थता के होने पर सामान्य शब्द भी सजीव बन जाते हैं, और उसके अभाव में शब्दों का ओजस्वी आटोप भी ढोल की पोल रह जाता है।

एकता में कलापक्ष के सब गुणों का अंतर्भाव

कालिदास

तुलसीदास

शेक्सपीयर

कलापक्ष के इन सब तत्त्वों के साथ साहित्यिक रचना में एकता अथवा सामंजस्य का होना आवश्यक है। इसके अभाव में कोई भी कला-तत्त्व परिपूर्ण नहीं हुआ करता। साहित्य की सब विधाओं में इसकी समान आवश्यकता है। मान लीजिए, आपकी रचना का प्रमुख ध्येय बुद्धितत्त्व अर्थात् विचारों को जाग्रत करना है; तो उसमें यह आवश्यक है कि पाठक को एक ही परिणाम की ओर अग्रसर किया जाय; यदि आपकी रचना एक महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य है तो उसमें गौण कथाओं तथा घटनाओं को मुख्य कथा का परिपोषक बनाते हुए उसी एक का परिपाक करना चाहिए; यदि आपकी रचना आत्माभिव्यंजिनी गीति है तो उसमें एक ही मनोवेग को प्रधानता देनी चाहिए; और यदि आपकी रचना एक उपन्यास है—जिसमें अनेक पात्रों, घटनाओं तथा कथानकों का समावेश है—तो उसमें भी आप को प्रधान नायक तथा नायिका की कथा को प्रधान बनाना चाहिए, और गौण पात्रों तथा कथानकों के द्वारा उनकी पुष्टि करनी चाहिए। विचारों को उद्बुद्ध करने वाली ऐतिहासिक रचनाओं में एकता अथवा सामंजस्य उत्पन्न करना सहज है, किंतु महाकाव्यों तथा उपन्यासों में इसका निभाना किंचित् कठिन हो जाता है; क्योंकि इस कोटि की रचना के द्वारा कलाकार विश्व के बहुविध तथ्यों और मानव अन्तर् की बहुरूप भावनाओं को व्यक्त किया करता है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों की यह एकता हमें महाकवि कालिदास, तुलसीदास तथा शेक्सपीयर की रचनाओं में अत्यंत ही रुचिर रूप में संयत हुई दृष्टिगत होती है।

ही सुन्दर निदर्शन किया है ।

एकता का मूल

किसी रचना के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों में समान मे एकता तभी आ सकती है, जब कि उसके कं में बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और समवेदना के मा पूर्णरूप से विकसित हो चुके हों और वह अपनी व्यापिनी अंतर्दृष्टि से जीवन को समष्टि में देख एक साथ प्रतीप प्रवृत्ति वाले अनेक पात्रों की कल्पना कर सकता हो, उनके पारस्परिक संबन्ध को देख सकता हो, उनमें कौन मुख्य है और कौन उसके परिपोषक, इस बात को समझ सकता हो, संक्षेप में जीवन को संकुल (complex) परिस्थिति को एक निगाह में निहार सकता हो, और अन्त में इन सब बातों को तदनुसार संक्षिप्त भाषा में व्यक्त कर सकता हो । किसी भी कला को पूर्णरूप से प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसमें उक्त बातों का होना आवश्यक है, फिर साहित्य-कला का तो कहना ही क्या ।

एकता, पूर्णता, व्यवस्था, संवादिता

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रचना के इस एकता नामक गुण में उसके अन्य सभी गुण आ जाते हैं, क्योंकि पूर्णता, व्यवस्था तथा संवादिता आदि के बिना किसी भी रचना में एकता की उत्पत्ति असंभव है। किसी रचना को पूर्ण कहने से हमारा यह तात्पर्य है कि उसमें सभी आवश्यक तत्त्वों का समावेश है, उसमें कोई बात बीच में नहीं छूटी है और न तो किसी अनावश्यक तत्त्व का उसमें समावेश हो पाया है। नाटक के समान अनेक पात्रों तथा घटनाओं के वर्णन में भी पूर्णता का होना आवश्यक है और गीतिकाव्य के समान एक भाव को व्यक्त करने वाली रचना में भी इसका होना वांछनीय है। कवि की अंतर्दृष्टि में पूर्णता आते ही उसकी रचना में एकता आ जाती है;

आवश्यक बातें उससे छूटती नहीं और अनावश्यक बातों को उस में स्थान नहीं मिलता।

व्यवस्था — व्यवस्था से हमारा आशय रचना के विभिन्न भागों को सामंजस्य के साथ एक दूसरे के समीप संनिहित करने से है। कथानक अथवा घटना की पराकोटि (climax) अनिवार्य रूप से यह नहीं चाहती कि रचना के अंत तक पाठक अथवा द्रष्टा के मनोवेग उत्तरोत्तर उत्कट होते चले जाएँ और अंत में उनका परिपाक हो। इसके विपरीत बहुत सी उत्कृष्ट रचनाओं में यह पराकोटि रचना के अवसान से कुछ पहले हो चुकी होती है और रचना के अंतिम प्रकरण में पाठक अथवा द्रष्टा का मनोवेग शनैः शनैः शांत होता जाता है। शेक्सपीअर के दुःखांत नाटकों में पराकोटि का यही निर्धान मिलता है।

संवादिता — संवादिता में हम प्रासंगिता तथा प्रस्तावौचित्य के साथ साथ अन्य बहुत सी बातें संमिलित करते हैं। एक संवादी रचना में न केवल अप्रासंगिक बातों का निराकरण किया जाता है, अपितु ऐसी बहुत सी प्रासंगिक बातों को भी छोड़ दिया जाता है, जो घटना के अनुकूल होने पर भी या तो मनोभावों में विरोध उत्पन्न करती हों अथवा अपनी उपस्थिति से रचना के भावना-संबंधी प्रभाव को निर्बल बनाती हों। रचना में संवादिता उत्पन्न करने के लिए कभी कभी कलाकार ऐतिहासिक तथ्य की सीमा को लाँघ उसके विपरीत चला करता है। वह अपनी रचना की प्रमुख धारा को ध्यान में रख उस से संबंध रखने वाली बहुत सी ऐतिहासिक घटनाओं में, उनमें प्रमुख कथा के साथ अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए—बहुत से परिवर्तन भी कर डालता है। इस संवादिता की सम्पत्ति के लिए ही कवि लोग विविध

बीस गुणों के तीन हुए और उनके नाम भामह के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद रखे गए। आगे चल कर मम्मट ने बताया कि शृंगार, करुण और शांत रसों में जो एक प्रकार की आह्लादकता रहती है जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है, उसका नाम "माधुर्य" है; वीर, रौद्र और बीभत्स रसों में जो उद्दीपकता रहती है जिसके कारण चित्त जल उठता है, उसे "ओज" कहते हैं, और जो सूखे ईंधन में अग्नि के समान, और स्वच्छ शर्करा तथा वस्त्रादि में जल के समान चित्त को रस से व्याप्त कर देता है, उस विकास-तत्त्व का नाम "प्रसाद" है। फलतः गुण मुख्यतया रस के धर्म हैं और औपचारिक रूप से रचना के। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिए शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार माने गए हैं, जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुरूप ही—मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा कहाती हैं। इन्हीं तीन गुणों के आधार पर वाक्य-रचना की तीन रीतियाँ मानी गई हैं: वैदर्भी, गौडी और पांचाली। इस प्रकार माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति; ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति; और प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति निर्धारित की गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि शृंगार, करुण और शांत रसों में माधुर्य गुण का, और वीर, रौद्र तथा बीभत्स रसों में ओज गुण का उपयोग संगत है और प्रसाद गुण सभी रसों का समान रूप से परिपोषक करता है। किन्तु विशेष विशेष प्रसंगों पर इनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है; जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य है; पर यदि नायक धीरोदात्त निरुत्तर हो, अथवा विशेष परिस्थिति में उद्दीप्त हो उठा हो, उनके में ओज गुण का होना आवश्यक है। इसी प्रकार रौद्र और वीर रसों में गौड़ी रीति उपादेय बताई गई है, किन्तु अभिनय में जो [illegible] वातावरण में दर्शकों के ऊब उठने की आशंका है। ऐसे

प्रसंगों पर नियत सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना दोष नहीं गिना जाता, प्रत्युत रचनाकार की चातुरी का द्योतक बन जाता है।

गुण और शैली के विवेचन के उपरांत अब अलंकारों के विषय में किंचित् दिग्दर्शन करा देना उचित प्रतीत होता है।

अलंकारों का स्थान

आचार्यों ने अलंकारों को काव्यशोभाकर, शोभातिशायी आदि कहा है, जिससे स्पष्ट है कि अलंकारों की वृत्ति पहले से ही सुन्दर अर्थ को और अधिक सुन्दर बनाना है। जिस प्रकार आभूषण रमणी के शरीर को पहले से अधिक रमणीय बना देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा और अर्थ के सौंदर्य की वृद्धि करते, उनका उत्कर्ष निखारते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। आचार्यों ने अलंकारों को शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म बताया है; इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार आभूषणों के बिना भी शरीर का नैसर्गिक सौंदर्य बना रहता है, उसी प्रकार अलंकारों के अभाव में भी शब्द और अर्थ की सहज सुन्दरता बनी रहती है। पहले विस्तार के साथ बताया जा चुका है कि काव्य की आत्मा तथा उसके शरीर में भेद है; फिर अलंकार तो इन दोनों को अलंकृत करने वाले ठहरे; फलतः इन्हीं को चंद्रलोककार के के समान काव्य की आत्मा बना देना अनुचित है। हम कह चुके हैं कि साहित्य की आत्मा रागात्मक तत्त्व, कल्पनात्मक तत्त्व तथा बुद्धितत्त्व में संनिहित है; और वास्तव में साहित्य की महत्ता इन्हीं के द्वारा प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार साहित्य की इस महत्ता को पुष्ट कर सकते हैं; वे अपने उपजीवी साहित्य-तत्त्वों के प्रतिनिधि नहीं बन सकते।

ऊपर कहा जा चुका है कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी आधार पर अलंकारों के दो भेद किये गए हैं; एक शब्दालंकार,

राजा के यश की धवलता को चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं उसकी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जाएँ अथवा प्रभात होने पर कौवों के काँव काँव का कारण इस भय को बताता है कि कहीं कालिमा को कीलने में प्रवृत्त हुआ सूर्य उन्हें भी काला देख उनका भी नाश न कर डाले।" ऐसी सूक्तियों से अनेक सुभाषित-संग्रह भरे पड़े हैं, जिन्हें सुनकर थोड़ी देर के लिए श्रोता के मन में कुछ कुतूहल चाहे हो, जाय, पर उनमें उसे काव्य का रागात्मक तत्त्व न मिलेगा। इसके विपरीत यदि किसी उक्ति की तली में उसके प्रवर्तक के रूप में कोई गहरी हूक पैठी हुई है; तो चाहे उस उक्ति में वैचित्र्य हो या न हो, उसमें काव्य की सरसता बराबर पाई जायगी। हम मानते हैं कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उस के मर्म का जो स्पर्श होता है; वह उक्ति ही के द्वारा होता है। पर उक्ति के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह सदा चमत्कृत हो, वह अनोखी अनूठी और लोकोत्तर हो। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी मार्मिक भावना में विलीन न हो अकस्मात् उक्ति के अनूठेपन में अटक जाता है, काव्य नहीं एक सूक्तिमात्र है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझते हैं। किन्तु दोनों के मौलिक अन्तर को सदा स्मरण रखना चाहिए। जो उक्ति श्रोता के हृदय को रस से आप्लावित कर दे, उसकी आंतरिक वीणा को शतधा मुखरित कर दे, उसमें वैचित्र्य हो या न हो, सच्चा काव्य है। इसके विपरीत जो उक्ति आत्मा में रस को न संचरित करती हुई एक मात्र कथन के अनूठेपन से श्रोता की बुद्धि को चकाचौंध कर देती हो, उसे हम सूक्ति कहते हैं।

अपने हिन्दी-साहित्य में हमें काव्य और सूक्ति दोनों ही अपने विशु रूप में प्राप्त होते हैं। जब हम हिन्दी के मर्मी अब

अलंकार और साधक कवियों की रचनाओं का पारायण करते हैं, व

हिन्दी के मर्मी कवि — हमारे सम्मुख शृंगार रस अपने अत्यन्त ही सघन तथा रहस्यमय रूप में उपस्थित होता है। शृंगार के इस रहस्यमय विलास में हमारा पिंड किसी दूसरे पिंड से नहीं मिलता, हमारा मूर्त शरीर अपने प्रणयी के मूर्त तत्त्वों में नहीं समाता; यहाँ तो हमें उस अनिर्वचनीय एकता के दर्शन होते हैं, जो इस बहुरूपी, बहुविच्छिन्नतामय भौतिक जीवन का भीतरी ऐक्य-सूत्र है और जो पिंडीभूत बहु को एक बना कर टिकाए हुए है; उसको एकता के सूत्र में पिरो कर थामे हुए है। इसी की गाढ़ अनुभूति से मर्मी कवियों का काव्य-धारा बही थी। पुष्प के प्रांतस् में जिस ऐक्य को देखकर हम प्रफुल्लित होते हैं, वह उसके पिंड में नहीं है—वह उसकी गहराई में अंतर्हित ऐसे सत्य में है, जो समस्त विश्व में एक के साथ दूसरे को निभृत सामंजस्य में धारण किए है। मर्मी कवियों की रचनाओं में उसी एक का लय लहरा रहा है, उसी एक का प्रकाश फूटा पड़ रहा है। मर्मी कवि कबीर, दादू आदि ने जीवन की बहुविधता से पराङ्मुख हो, धर्मध्वजियों की कपोलकल्पनाओं से पीड़ित हो, और आचार-विचारों की चारदीवारी से खिन्न हो इनकी निचली स्तर में प्रवाहित होने वाले एक सत्य शिव और सुन्दर को अपनी वरमाला पहनाई थी। स्वयंवर की उस वरमाला में पत्र हैं, पुष्प हैं, उदीर्ण भाव हैं, निगूढ़ अनुभूति है, ऐक्य को वहन करने वाली भारत की वाणी है। उसमें अलंकार नहीं, किसी प्रकार का प्रयत्नजन्य चमत्कार नहीं; उक्तियों का अनूठापन नहीं। यह सब होता भी कैसे, ये मर्मी साधक प्रायः समाज की उस श्रेणी में जन्मे थे, जो शास्त्र के प्रकाश से सदा वंचित रही है; जिसके जीवन निशीथ में कभी ज्ञान का दीपक जला ही नहीं। इन्होंने जो कुछ भी सीखा था—और वही था जीवन का चरम सार—वह स्वयं सीखा था; ऊपर नीचे मूक भाव से फैले हुए, जीवन-तंतुओं की समष्टि में से छान कर प्राप्त किया

अपनी आँखों के संमुख प्रत्येक वस्तु को एक स्थूल अथवा सूक्ष्म प्रकार की गति में भ्रमित होता पाते हैं; और इस गति के साथ ही उसके जन्म, स्थिति और भंग के रहस्यमय नाटक को अभिनीत होता देखते हैं। किंतु इस अनवरत गति के मूल मे, परिवर्तनों की इस अविच्छिन्न सतति के पीछे *हमें यह भी भान होता है कि गति और परिवर्तनशील वस्तु के व्यक्तिरूपेण* नष्ट होने पर भी उसका सतानवाही आत्मतत्त्व निर्विकार बना रहता है, परिवर्तनों की उद्दाम कल्लोलिनी मे सदा निश्चल पड़ा रहता है।

यावज्जीवन कर्म में रत रहते हुए भी संसार से पृथक् रहना

हमारे भारतीय दर्शन ने इसी आधार पर हमे इस संसार में ससार ही की भांति यावज्जीवन क्रियाशील रहते हुए भी उसके मूल में निहित आत्मा की स्थायिता को अनुभव करने का आदेश दिया है; और जिस प्रकार कनक, कुंडल आदि व्यक्तिरूप में प्रवर्तित होकर विलीन होते हैं, किन्तु उनके मूल मे प्रवाहित होने वाला सुवर्ण-तत्त्व उनमें रहकर भी उन से पृथक् रहता है और सदा एक रस बना रहता है, इसी प्रकार आत्मा को, इस "ससार" अथवा "जगत्" में प्रवाहित होते रहने पर भी इससे स्वतन्त्र रहने की, इससे मुक्त होने की, अपना निर्वाण पाने की इच्छा बनाए रखनी चाहिए। हमारे गृह-धर्म, हमारे संन्यास-धर्म, हमारे आहार-विहार के सारे यम-नियम और वैरागी भिक्षुकों के ज्ञान से लेकर बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियों के शास्त्र-चिंतन पर्यंत, सर्वत्र ही समान रूप से इस भाव का आधिपत्य स्थापित हुआ दीख पड़ता है। कृषक से लेकर पंडित तक सभी इस बात को कहते आए हैं कि हम लोगों ने दुर्लभ मानव-जीवन इसीलिए पाया है कि समझ बूझकर हम मुक्ति का मार्ग पकड़ें, संसार के अनन्त आवर्तों के आकर्षणों से अपने को पृथक् रखें।

... में हमारे साहित्यकारों ने बड़े ही भव्य
प्रकार से उपपादित किया है। स्थल स्थल पर जहाँ हमें
मीकि, व्यास, वैदिक साहित्य कर्मण्यता तथा कर्मठता की ओर अग्रसर
लिदास करता है वहाँ वह हमें अपने आदि संत आत्मा का
आभास दिलाकर मुक्ति का मार्ग भी दर्शाता है। इसी
य मे उसने अपने नासदीयसूक्त में भव बन्धन अथवा भवबन्धुओं के
र मूल पर ऐसा विशद प्रकाश डाला है, जैसा हमें अन्यत्र किसी भी
त्य में नहीं दृष्टिगोचर होता। वाल्मीकि की रामायण और व्यास के
ारत में हमें यही तत्त्व और भी अधिक स्पष्ट तथा परिष्कृत रूप में
ध होता है। श्रीराम ने रावण के वध के उपरान्त सिंहासनारूढ़ हो
को वन में प्रस्थापित करके, और धर्मराज युधिष्ठिर ने कौरवों पर
प्राप्त करके, सिंहासन को भोग, बन्धु-बांधव सहित स्वर्गारोहण करके
त्र की गरिमा को और भी गुरुतर बनाया है। बौद्धों के साहित्य धम्म-
दि में तो कर्म करते हुए मुक्ति की यह लालसा और भी स्वच्छ रूप
मित हुई है। वहाँ तो बुद्ध भगवान् ने आत्मा और अनात्म के विवे-
न एवं कर्म के द्वारा ही निर्वाण का पथ-दर्शन कराया है। हमारे
कवि भगवान् कालिदास ने तो अपनी अमर रचनाओं में, कर्म करते
होने का इस अभिलाषा का अत्यन्त ही ललित रूप में मुखरित
। उन्होंने अपनी रचना को सौंदर्य के सार में निर्मित करके भी
राङ्मुख बनाए रखा है। जिस प्रकार हम महाभारत को एक ही
और वैराग्य का काव्य कहते हैं, उसी प्रकार कालिदास भी एक
ों के उपासक और भोग से पराङ्मुख कवि कहे जा सकते हैं।
ना सौंदर्य-भोग में नहीं समाप्त होती। कवि उस को पार करके ही
हुए हैं; उन्होंने अपनी लेखनी को अन्तिम समय वैराग्य-सागर में ही

विलीन किया है। "उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना शकुन्तला में हम उनकी तापस-नायिका शकुन्तला पर एक गम्भीर परिणति अवतीर्ण होती देखते हैं। वह परिणति फूल से फल में, मर्त्य से स्वर्ग में और स्वभाव से धर्म में होने वाली दिव्य परिणति है मेघदूत में जैसे पूर्व-मेघ और उत्तर मेघ हैं, अर्थात् पूर्वमेघ में पृथिवी के विचित्र सौंदर्य का पर्यटन करके उत्तरमेघ में अलकापुरी के नित्य सौंदर्य में उत्तीर्ण होना होता है, वैसे ही शकुन्तला में एक पूर्वमिलन और दूसरा उत्तरमिलन है। प्रथम अंक के उस मर्त्यलोकसंबंधी चंचल, सौंदर्यमय तथा अटपटे पूर्वमिलन से स्वर्ग के तपोवन में शाश्वत तथा आनन्दमय उत्तरमिलन की यात्रा ही वास्तव में शकुन्तला नाटक है। यहाँ केवल विशेषतया किसी भाव की अवतारणा नहीं है और न विशेषतः किसी चित्र का विकास ही है। यह तो सारे काव्य-लोक को इहलोक से अन्य लोक में ले जाना और प्रेम को स्वभाव-सौंदर्य के देश से मंगलसौंदर्य के अक्षय स्वर्गधाम में उत्तीर्ण करना है।" जो बात शकुन्तला में है वही बात कवि ने कुमारसंभव में भी संपन्न की है। दोनों काव्यों के विषय प्रच्छन्नभाव से एक ही हैं। दोनों ही काव्यों में कामदेव ने जिस मिलन-व्यापार को परिपूर्ण करने की चेष्टा की है, उसमें दैवशाप ने विघ्न उपस्थित कर दिया है। *वह मिलन असंपन्न और असंपूर्ण होकर अपने परम सुन्दर मिलन-मंदिर में* ही देवाहत होकर मर गया है। उसके अनन्तर दारुण दुःख और दुःसह विरह-व्रत द्वारा जो मिलन संपन्न हुआ है; उसकी प्रकृति कुछ और ही है। वह सौंदर्य के अशेष बाह्य आडंबरों को छोड़कर निर्मल वेश में कल्याण की कमनीय काति से जगमगा उठा है।

हिन्दी काव्य

जीवन के इस तत्त्व को ध्यान में रखते हुए जब हम अपने हिन्दी-कवियों की ओर अग्रसर होते हैं, तब हमें उनकी रचनाओं में भी इसका सुन्दर परिपाक हुआ दृष्टिगत

हिन्दी साहित्य के सुवर्ण युग में महात्मा रामानन्द क
परंपरा में एक ओर कबीर हुए, जिन्होंने निर्गुण परमात्मा के
रूप को ज्ञान के द्वारा प्राप्त करने का उपदेश दिया और दूस
भक्तवत्सल गोस्वामी तुलसीदास हुए, जिन्होंने जन साधारण
निरंजन ब्रह्म के दर्शन पाना असंभव समझ, श्रीराम के रूप में
सगुण रूप की गरिमा गाई। इसी काल में भारतीय अद्वैतवाद तथा
मंतव्यों के संकलन से रहस्यवादी प्रेममार्ग का सूत्रपात हुआ, जो कु
तथा जायसी आदि प्रेमगाथाकारों की, प्रस्तुत में अप्रस्तुत का उद्
करने वाली भावोन्मुख कृतियों में परिनिष्ठित हुआ। इन्हीं दिनों वल्ल
चार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की प्रेरणा से कृष्णभक्ति संप्रदाय
आविर्भाव हुआ, जिसकी परिनिष्ठा भक्त शिरोमणि सूरदास की दिव्य वा
में हुई। इस प्रकार हमें तत्कालीन भक्ति की एक ही मंदाकिनी कबीर आ
संत कवियों की ज्ञानाश्रयी शाखा निर्गुणोपासना, तुलसीदास की सगुण
रामभक्ति, जायसी की सगुण-निर्गुण ब्रह्मनिष्ठा और सूरदास की सगुण
कृष्णोपासना इन तीन धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होती दृष्टिगत
होती है।

तुलसीदास

भक्तिकाल की उक्त रचनाओं में सौंदर्य तथा त्याग का ऐसा वर्णनातीत सामंजस्य बन आया है कि उसकी प्रतिमा हमें किसी और साहित्य में कठिनता से ही मिल सकेगी। हमारे राष्ट्रीय कवि तुलसीदास ने रामसीता के प्रेम को;
वन में बिताए उनके गृहस्थ-जीवन को और अंत में रावणवधोपरांत
सीतारानी के पुनर्मिलन में विलसित हुए भोग तथा योग को, लक्ष्मण और
भरत के तपोमय ब्रह्मचर्य और अंत में सीतारानी के वन-गमन और वहाँ
झेले हुए उनके तपःपूर्ण विरह के मंडप में ढक कर हमारे समस्त जीवन-

समष्टि की एक अभूतपूर्व तपोमयी उत्पानिका संपादित की है। वे अपनी रचना मानस में भौतिक जगत् का सर्वतोमुखी व्याख्यान करते करते क्षण भर में उसे अपनी भक्तिरूप अंजनशलाका से रंजित करके आत्मजगत् में परिवर्तित कर देते हैं और पाठक मानवीय जगत् में बैठे मनुष्य के ऊपर बीतने वाली घटनाओं पर हँसते रोते क्षण भर में उस लोकोत्तर क्षेत्र में पहुँच जाता है, जहाँ उसके सब ईहितों तथा चेष्टितों का अवसान है, जहाँ उसके पार्थिव जीवन की सदा के लिए इतिश्री है। तुलसीदास की रचना में यह जो धर्म की मंगलमयी निर्मल मंदाकिनी निर्झरित होती है इस में कैसी श्री, कैसी शान्ति, और कैसी सपूर्णता है इसे सहृदय पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं।

रवीन्द्र तथा गांधी

भारतीय जीवन के आधारभूत इस धर्मतत्त्व को ध्यान में रखते हुए यदि हम बंगला, मराठा अथवा गुजराती साहित्य का अध्ययन करें तो वहाँ भी हमें साहित्य का परिपाक धर्म में ही होता दीख पड़ेगा और इस विषय में हम महाप्रभु चैतन्य, रामदास, मीरा और नरसिंह मेहता की भक्ति धर्म भरित रचनाओं पर कुछ न लिखते हुए पाठकों का ध्यान बंगला और गुजराती के श्रेष्ठ लेखक श्रीरवीन्द्र तथा महात्मा गान्धी की रचनाओं की ओर आकृष्ट करेंगे, जिन्होंने राजनीति, समाज, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा इन सबसे उत्पन्न हुई अभूतपूर्व उथल-पुथल के क्रान्तिकारी, आदर्श-विहीन इस आधुनिक युग में भी वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा तुलसीदास की भाँति हमारे जीवन और हमारे साहित्य का धर्म के साथ अभूतपूर्व सामंजस्य उपस्थित किया है। दोनों ही में पौरस्त्य तथा [illegible] का अद्भुत संकलन हुआ है। दोनों ही [illegible] गोद में पले हैं, दोनों ही विद्वान, [illegible]

अभिनव सामग्री में जीते हैं, किन्तु दोनों ही ने अपनी धार्मिक अंतर्दृष्टि द्वारा इन सब बातों पर आधिपत्य प्राप्त किया है। भारतीय जीवन का आदर्श इन दोनों की रचनाओं में पराकोटि को पहुँचा है, भारतीय साहित्य का उन दोनों की रचनाओं में सब से अधिक रमणीय प्रदर्शन हुआ है।

आर्य जाति की दो धाराएँ

प्राचीन आर्य-सभ्यता की एक धारा जहाँ भारत में प्रवाहित हुई, वहाँ उसकी दूसरी धारा ने यूरोप को सरसाया है। जिस प्रकार भारत में बहनेवाली धारा रामायण और महाभारत इन दो महाकाव्यों में इस देश के वृत्तान्तों और संगीतों को सचित किए चली आ रही है, उसी प्रकार यूरोप की धारा 'इलियड' और 'ओडेसी' इन दो महाकाव्यों में यूरोप के वृत्तान्तों और संगीतों को मुखरित करती प्रवाहित हो रही है।

ग्रीक साहित्य

और यद्यपि ग्रीस में ईसा से ५५० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए महाकवि होमर द्वारा एकत्र किए गए इलियड और ओडेसी इन दो महाकाव्यों में सत्य, सौंदर्य, तथा स्वातंत्र्य का प्रायः ही अनूठा सम्मिश्रण संपन्न हुआ है, तथापि उनमें भारत के समान घटनावलियों का आधार धर्म न होकर राजनीति तथा स्वतंत्रता में उद्भावित किया गया है। हम मानते हैं कि सत्य और सौंदर्य ही मनुष्य को स्वतंत्र करते हैं, सत्य और स्वातंत्र्य ही जीवन को सुन्दर बनाते हैं और सौंदर्य तथा स्वातंत्र्य ही से सत्य की रक्षा संभव है। किंतु साथ ही हमारी दृष्टि में इन तत्त्वों के अंतस्तल में एक ऐसा समष्टिभूत तत्त्व निहित रहता है, जिसे हम "धर्म" इस नाम से पुकारा करते हैं। इस तत्त्व का ग्रीक की रचनाओं में वैसी सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हुई जैसी कि रामायण तथा महाभारत में संपन्न हुई है। और इसमें एक कारण भी है। हम जानते हैं कि ईसा के जन्म से ८०० वर्ष पहले के ग्रीस देश की दशा में एक परिवर्तन

हुआ था, जिसने इस देश के महाकाव्यों को निर्बल बना दिया था। होमर की प्रतिभा अंधकार-युगीय ग्रीस में चमकी थी, जब कि कवियों के विचार रसविहीन वर्तमान से उपरत हो रसाप्लावित मृत की ओर झुक रहे थे। किंतु आठवीं बी. सी. तथा उसके पश्चात् आने वाली सदियों में उत्पन्न हुए ग्रीक नागरिक राज्य, तथा उस देश में विकसित होने वाले औपनिवेशिक आंदोलनों ने ग्रीक विचारधारा को नवीन क्षेत्रों में प्रवाहित कर दिया। अब ग्रीक कवियों तथा विचारकों का ध्यान उस काल की अशांत परिस्थिति के विश्लेषण में लग गया और उन्होंने अपने साहित्य में उसी प्रकार के अशांत भावों को मुखरित किया, जिनमें वे जी रहे थे। फलतः ७०० वीं बी. सी. के पश्चात् ग्रीक में महाकाव्य का स्थान शोक-प्रधान अथवा आत्माभिव्यंजनी कविताओं ने ले लिया, जिनकी विशेषता इस बात में थी कि वे महाकाव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक संक्षिप्त होती थीं और उनमें उस विविधता तथा वैचित्र्य का उद्‌गम न हो पाता जिन में होमर की रचनाएँ आमूलचूल डूबी हुई हैं। इस काल के पश्चात् होने वाली सभी रचनाओं में राजनीति और जातीयता का आधिपत्य है जिनकी सरिता ने ग्रीस देश से निकल कर शनैः शनैः आज सारे यूरोप और अमेरिका को आप्लावित कर दिया है। इस प्रकार जहाँ हमें भारतीय साहित्य में धार्मिक रागों की वीणा ध्वनित होती सुनाई पड़ती है, वहाँ यूरोप के साहित्य में राष्ट्र-निर्माण तथा उसके साथ संबंध रखने वाली भौतिक तत्त्वों की अशांत उठ-बैठ दीख पड़ती है। यदि भारत के निर्माताओं ने अनेक चेष्टाओं और परिवर्तनों के भीतर से समाज में धर्म को अनेक रूप देने की भव्य चेष्टा की है, तो यूरोप के राष्ट्र-निर्माताओं ने अनेक चेष्टाओं और परिवर्तनों के भीतर से राष्ट्र-संघटन की कर्मण्य चेष्टा की है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि भारत में धार्मिक चेष्टा ने अन्य

सभी प्रकार की चेष्टाओं पर स्वामित्व प्राप्त किया है, तो यूरोप ने

पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य के दृष्टिकोण में भेद

चेष्टा ने अन्य सभी ईहितों पर आधिपत्य किया है। धर्म का आंशिक उदय तो वहाँ भी था, किंतु शनैः शनैः वह भी राष्ट्र का ही ए बन गया है।

यूरोप की इस भौतिक प्रवृत्ति ने, उसकी इस राष्ट्र-निर्माणेच्छा ने, जीवन की किन किन दारुण घाटियों में उतारा है, उसको नरघात मनस्ताप की कैसी दुःसह घड़ियाँ दिखाई हैं इस बात पर प्रकाश डालने यहाँ आवश्यकता नहीं है। उनकी इस प्रवृत्ति ने, उनकी इस अंध मृग-, उनके साहित्य में दीख पड़ने वाली अन्य बहुत सी भव्य प्रवृत्तियों इस प्रकार दबा रखा है, यह बात फ्रेंच, इंग्लिश तथा जर्मनी साहित्य नुशीलन से भलीभाँति प्रकट हो जाती है।

कविता क्या है ?

साहित्य पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि साहित्य उन रचनाओं का नाम है, जिनमें श्रोता अथवा पाठक के मनोवेगों को प्रस्फुरित करने की स्थायी शक्ति विद्यमान हो, और जिनमें रागात्मक, बुद्ध्यात्मक तथा रचनात्मक तत्त्वों का संकलन हो। साहित्य की इस शक्ति को हमारे आचार्यों ने रसवत्ता के नाम से पुकारा है, और यह रसवत्ता, रचना की जिस किसी भी विधा में संपन्न होती हो, उसे उन्होंने संज्ञा देते हुए उसमें कविता, नाटक, चंपू, उपन्यास तथा आदि सभी का समावेश किया है। प्रस्तुत प्रकरण में काव्य ग कविता पर विचार किया जायगा।

कविता का सर्वांग-पूर्ण लक्षण ढूँढना अत्यंत कठिन है। जिस प्रकार कवित्व-रचनाओं की अगणित विधाएँ हैं, उसी प्रकार उसके लक्षणों की भी भारी संख्या है। कविता का लक्षण देने वालों में हमें दो प्रकार के विद्वान् दीख पड़ते हैं; प्रथम वे जो कविता को हृदय का एक उच्छृंखल स्फुरण समझते हुए उसकी अवज्ञा नहीं तो उपेक्षा अवश्य करते हैं। दूसरे वे—और इनमें कविता के पुजारी कवियों की संख्या अधिक है—जो कविता को मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट भावों का सर्वोत्तम भाषा में प्रकाशन समझते हुए उसे संसार की सब कलाओं और विभूतियों का अधिराज बताते हैं। कविता के ये पुजारी उसे इतना अधिक उत्कृष्ट तथा पावन मानते हैं कि उनकी दृष्टि में उसका कोई लक्षण हो ही नहीं सकता। इन की मति में कविता जनसामान्य की दृष्टि-परिधि से बाहर रहने वाली देवी और उनकी दिनचर्या से दूर रहने वाली एक अप्सरा है। सामान्य पुरुषों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं और उसके दरबार में जनसामान्य की पहुँच नहीं।

कविता के प्रति दो दृष्टिकोण

प्रथम कोटि के पुरुष—और इन की संख्या कविता की पूजा करने वाले कवियों से कहीं अधिक है—कविता को केवल *चित्तरंजन का एक साधन* समझते हैं। इन की दृष्टि में कविता ऐसे पुरुषों के मस्तिष्क की उपज है जिनका संसार में कोई लक्ष्य-विशेष नहीं है। ये लोग कविता को किसी सीमा तक हेय वस्तु समझते हैं। इनके विचार में कविता मनुष्य को आचार से च्युत करती है, वह उसकी मानसिक शक्ति को निर्बल बनाती है, उसके अध्यवसाय तथा निर्धारिणी वृत्ति को शिथिल करती है, वह मनुष्य की बुद्धि में जड़ता उपजा उसे उमंगों तथा भावनाओं की भँवरों में डालती है, और इस प्रकार उसे सत्य के मार्ग से विमुख नहीं तो उसका उपेक्षी अवश्य बना देती है। इनकी दृष्टि में कविता एक विषैली सुरा है; वह एक अनिर्वचनीय

[illegible] स्वार्थ है। इसको वे यह गुण जीवन और काव्य की प्रति का अन्तरात्मा का अनुराग ज्ञान देती है। वर्ड्सवर्थ के मत कविता की प्रति काल से इसी सदैव की दृष्टि से देखते आए हैं। इस बात में उनका व्यावहारिक रूप में [illegible] गुणों के साथ द्वंद्व रहा आता है।

जहाँ कविता पर इस प्रकार के आक्षेप करने वालों की कमी नहीं, वहाँ दूसरी ओर ऐसे विद्वानों की भी न्यूनता नहीं जो कविता का समर्थन करते हुए उसे ऐसी आश्चर्यमयी कला के रूप में उपस्थित करते और उसके महत्व को ऐसे बढ़ा चढ़ाकर दिखाते हैं कि संसार में उसके समान दूसरी वस्तु का मिलना नहीं ठहरता। शेली के अनुसार कविता "प्रकृति तथा उत्तम आत्माओं के रमणीय क्षणों का लेखा है" तो मैथ्यू आर्नल्ड की दृष्टि में वह न केवल "मनुष्य की परिष्कृततम वाणी ही है" अपितु वह उसकी ऐसी वाणी है, जिसमें और जिसके द्वारा वह सत्य के निकटतम पहुँच जाता है।" जब कवि लोग अपने दाय की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं, तब जनसाधारण के मन में एक प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है और वह इस दाय को यथार्थ रूप में देखने के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऊपर निर्दिष्ट किए गए दोनों ही दृष्टिकोण किसी अंश में सच्चे हैं तो दूसरे अंशों में असत्य है। दोनों में सामंजस्य उपस्थित करने के लिए जहाँ हमें कवियों के लक्षणों में से चमत्कार तथा भावना के नीहार को ध्वस्त करना होगा वहाँ दूसरी कोटि के दृष्टिकोण की उस वृत्ति को भी पराभूत करना होगा जिस से आविष्ट रहने के कारण व्यावसायिक अपने प्रतिदिन के उद्योगधंधों की उधेड़बुन से बाहर नहीं निकल पाते और इस प्रकार जीवन की उन मंगलमयी विभूतियों से वंचित रह जाते हैं, जिनके अभाव में मनुष्य का जीवन मरुभूमि बन जाता है। और इस उद्देश्य से हमें कविता के लक्षणों पर किंचित् विस्तार के साथ विचार करना होगा।

कविता का लक्षण

साहित्य की व्याख्या करते हुए हमने उसे दो भागों में विभक्त किया था; प्रथम उसका आत्मा अर्थात् भावपक्ष और दूसरा उसका शरीर, अर्थात् कलापक्ष। कविता भी साहित्य ही का एक चमत्कृत रूप है; फलतः इसे भी हम इसके आत्मा और शरीर इन दो भागों में बाँट सकते हैं। कविता का लक्षण करने वाले आलोचकों में से कतिपय ने उसके आत्मा अर्थात् भावपक्ष पर अधिक बल दिया है और दूसरों ने उसके शरीर अर्थात् कलापक्ष पर; और यही कारण है कि दोनों ही कोटि के लक्षण संतोषजनक नहीं निष्पन्न हो पाए।

आलंकारिकों के लक्षण में भी कविता का लक्षण नहीं मिलता

इसमें संदेह नहीं कि "कविता" इस शब्द के कान में पड़ते ही जन-सामान्य की बुद्धि में उस छंदोमयी भाषा का उत्थान होता है, जिसमें विशेष प्रकार का लय अथवा ताल निहित हो। इनकी दृष्टि में जो गद्य नहीं वही कविता है; और अपने मत की पुष्टि में वे आलंकारिकों द्वारा किए गए कविता के उन लक्षणों को प्रस्तुत करते हैं, जिनके अनुसार कविता विविध विचारों को व्यक्त करने वाली छंदोमयी ललित तथा चमत्कारपूर्ण भाषा ठहरती है। कहना न होगा कि कविता का यह लक्षण अतिव्याप्ति से दूषित है; क्योंकि हमारे यहाँ गणित, ज्योतिष तथा व्याकरण आदि नीरस विषयों की भी छंदोमयी भाषा में आयोजना का गई है; किंतु कोई भी रसिक पाठक गणित की पुस्तक लीलावती को, उसके छंदोबद्ध होने पर भी कविता नाम से न पुकारेगा।

कविता के कलापक्ष को छोड़ जब हम उसके भावपक्ष पर ध्यान देते हुए उसका लक्षण ढूँढते हैं, तब भी हमें उसका कोई संतोषजनक लक्षण नहीं प्राप्त होता। इस दृष्टि से किए गए लक्षणों में से कुछ में अव्याप्ति और

दूसरों में अतिव्याप्ति दोष तो है ही, ध्यान से देखने पर हम उन्हें सच्चा लक्षण भी नहीं कह सकते; क्योंकि इनमें से किसी में भी कविता का लक्षण नहीं, अपितु कुछ में उस की मनोहारिणी शक्ति की प्रशंसा, कुछ में उसके रमणीय गुणों का निदर्शन और अन्यों में कवि की चित्तवृत्ति का, उसके उन विचारों और भावों का वर्णन किया गया है, जिनसे कविता की उत्पत्ति होती है।

भावपक्ष की दृष्टि से कविता का लक्षण ढूँढने में कठिनता।

जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने ज्ञानवाची √कू धातु से कवि शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके सर्गात पक्ष पर अधिक बल दिया है उसी प्रकार प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने निर्माण वाची √Poies धातु से Poet शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके कल्पना और आविष्कार-पक्ष पर अधिक बल दिया है। फलतः हम बेन जॉनसन तथा चेपमैन को, अरस्तू का आश्रय लेकर, कविता के आविष्कार तथा छंदोविचयन-पक्ष पर बल देता हुआ पाते हैं। मिल्टन की इस उक्ति में कि "कविता सरल, ऐंद्रिय तथा भावपूर्ण होनी चाहिए" कविता के सभी तत्वों का समावेश हो जाता है, किंतु यह भी कविता का वर्णनमात्र है, उसका लक्षण नहीं। गोइटे तथा लैंडर की दृष्टि में कविता प्रत्यक्षतः एक कला है; उन्होंने इसकी रचना-शैली तथा चमत्कारिनी प्रकाशन-शक्ति पर बल दिया है। दूसरी ओर कतिपय कवियों ने कविता के भाव तथा कल्पना-पक्ष पर बल देते हुए उसके आत्मा को परिपुष्ट किया है। इस वर्ग के नेता संभवतः महाकवि ' सवर्थ हैं। उनके अनुसार कविता "राग के द्वारा सत्य का हृदय में सजीव · है।" दूसरे वाक्य में वे कविता को "ज्ञान का आदिम तथा चरम ' बताते हैं। एक दूसरे प्रकरण में कविता उनके अनुसार "ज्ञान-समष्टि

कवि शब्द की ग्रीकोभारतीय व्युत्पत्ति के अनुसार कविता के विविध लक्षण

का उच्छ्वास और उसका सूक्ष्म आत्मा" बन कर हमारे संमुख आती है। किंतु अंत में अपने परिपक्व विचारों को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं कि "कविता सबल भावों का स्वतःप्रवर्तित प्रवाह है; इसकी उत्पत्ति प्रशाद में एकत्र हुए मनोवेगों से होती है।" रस्किन ने भी वर्ड्सवर्थ का अनुसरण करते हुए कविता को "कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करने वाली" बताया है।

स्वतंत्र कविता के लक्षण

कतिपय अन्य विद्वानों ने कविता का लक्षण करते हुए उसके रहस्यमय पक्ष पर अधिक बल दिया है। इस कोटि के लेखकों में शैले ने कविता को "श्रेष्ठ तथा रुचिरतम हृदयों के श्रेष्ठ तथा भव्यतम उन्नत व्युत्पत्ति से क्षणों का लेखा" बताकर उसे "कल्पना का प्रकाशन" निर्धारित करते हुए उसकी प्रकाशिनी तथा उद्दीपिनी शक्ति पर बल दिया है। कविता की निर्माणमयी वृत्ति पर अधिक ध्यान न दे उसकी उद्दीपन शक्ति को मन में रख कर ही एमर्सन ने उसे "वस्तुजात के आत्मा को प्रकाशित करने का सतत उद्योग" निर्धारित किया है। इसी दिशा की ओर एक पग और आगे बढ़ा ब्राउनिंग ने कविता को "विश्व की देव के साथ, भूत की आत्मा के साथ, और सामान्य की आदर्श के साथ होने वाली संगति का उत्थान" निर्देशित किया है। मैथ्यू आर्नल्ड का वह लक्षण, जिस के अनुसार कविता "कवीय सत्य और कवीय सौंदर्य के नियमों द्वारा निर्धारित की गई परिस्थितियों में किया गया जीवन का व्याख्यान है" रमणीय होने पर भी अस्पष्टता दोष से दूषित है। क्योंकि हम क्या जानें कि जीवन का व्याख्यान किसे कहते हैं, और जब तक हम "कविता क्या वस्तु है" इस बात को न जान जाएँ, तब तक हमारे लिए कवीय सत्य और कवीय सौंदर्य का पहचान लेना असंभव है। हर्बर्ट रीड के अनुसार कविता "मनोवेगों को अनिरुद्ध छोड़ देना नहीं, अपितु

उन से मुक्ति पाना है; यह व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं, अपितु व्यक्तित्व
मुक्ति पा जाना है।" सुप्रसिद्ध इटालियन विद्वान् विको कविता को "असं
को विश्वसनीय बनाने वाली" बताता है। कतिपय विद्वानों के संमुख कवि
का रहस्यमय पक्ष इतना अधिक अभिचारी बन कर आया है कि उन्हों
उसको निदर्शित करने का प्रयत्न ही करना छोड़ दिया है। उदाहरण
लिए, डाक्टर जॉहंसन, जिन्हें मूर्त निदर्शनों का बड़ा ही शौक था—कवित
के विषय में कुछ न कह कर उसकी सारवत्ता को इस प्रकार के पंगु शब्दों
में व्यक्त करते हैं, "हम जानते हैं कि प्रकाश क्या वस्तु है, किंतु हम में
से कोई भी यह नहीं बता सकता कि वह क्या है और कैसा है।" इसी तरंग
में बहते हुए महाशय कोलरिज लिखते हैं "कविता का पूरा पूरा आस्वादन
तभी मिलता है, जब वह भली-भाँति समझ में न आ सके।" प्रोफेसर
हाउसमान भी अपनी इस उक्ति में कि "कविता वह वस्तु है, जो उनकी
आँखों में आँसू भर देती है" इसी निराश्रयता का अंचल पकड़ते हैं।

दूसरी ओर कतिपय विद्वानों ने कविता के आवश्यकता से अधिक लंबे
लक्षण किये हैं। इन विद्वानों में हंट भी एक हैं, जिन्होंने अपने 'कविता क्या
है' नामक प्रबन्ध में लिखा है कि "कविता सत्य, सौंदर्य तथा शक्ति के लिए
होने वाली वृत्ति का अनुसरण है; यह अपने भाव को प्रत्यय, कल्पना तथा
भावना के द्वारा खड़ा करती और निदर्शित करती है; यह भाषा को विविधता
तथा एकता के सिद्धांत पर स्वर-लय-संपन्न करती है।" इसी प्रकार अध्यापक
स्टेडमान कविता को "मानवहृदय के आविष्कार, रुचि, विचार, वृत्ति तथा
अंतर्दृष्टि को प्रकाशित करने वाली लययुक्त, कल्पनामयी भाषा" बताते हैं।

ऊपर निर्दिष्ट किए गए कविता के सभी लक्षण अच्छे हैं, किंतु इनमें से
एक का भी साहित्य के उस लक्षण के साथ प्रायश संबंध नहीं है, जिस पर
हम प्रस्तुत पुस्तक के पहले प्रकरण में विचार कर आए हैं, और जिसका,

उक्त लक्षणों में दोष : कविता का सरल लक्षण

क्योंकि कविता भी साहित्य ही का एक अंग है, इस लिए इसके साथ प्रत्यक्ष संबंध होना सुतरां आवश्यक है। प्रसिद्ध समालोचक कोलरिज—जिन का अनुशीलन इस प्रकार के विषयों में अत्यंत विशद तथा गहन होता है—लिखते हैं 'कविता का प्रतीप गद्य नहीं, अपितु विज्ञान है;'' और यह बात है भी सच। किंतु यदि प्रस्तुत पुस्तक के आरंभ में दिया गया साहित्य का लक्षण दोषरहित है तो न केवल कविता का, अपितु सारे साहित्य ही का विज्ञान के साथ प्रातीप्य ठहरता है। हमने कहा था कि किसी रचना को हम साहित्य उसकी मनोवेगों को स्फुरित करने वाली शक्ति के आधार पर कहते हैं। साहित्य की कुछ विधाओं का—जैसे कि इतिहास का—प्रमुख ध्येय मनोवेगों को तरंगित करना न होकर कुछ और ही हुआ करता है; उसकी कुछ और विधाओं में—जैसे कि वक्तृता में—मनोवेगों को तरंगित करना स्वयमेव ध्येय न होकर उद्देश्य-विशेष को प्राप्त करने का साधनमात्र होता है। किंतु साहित्य की एक विधा यह भी है, जिसका प्रमुख लक्ष्य मनोवेगों को तरंगित करना और उसके द्वारा श्रोता अथवा पाठक के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना है। साहित्य की इस विधा में वे सभी (कविता आदि) रचनाएँ संमिलित हैं, जो पाठक को किसी प्रकार का उपदेश देती हैं तो वह भी अप्रत्यक्ष रूप से; यदि वे उसकी इच्छा अथवा आचार को नियमित करती हैं तो वह भी अनजाने में; और जिनका प्रमुख लक्ष्य उसके हृदय में निहित हुई आनंददायिनी भावनाओं को स्वयं उन्हीं के लिए उद्दीप्त करना होता है। साहित्य की इस विधा के लिए हमारे पास कोई संज्ञाविशेष नहीं है; हम चाहें तो इसे भावनाओं का साहित्य अथवा विशुद्ध साहित्य इस नाम से पुकार सकते हैं। साहित्य की इस विधा को हम चाहे जो भी नाम दें, हम इसे इसकी रचनाशैली के अनुसार

अर्थात् मनोवेगों को तरंगित करना कविता के क्षेत्र में आ उसक
प्रमुख लक्ष्य बन जाता है; और रचना की शैली जो साहित्य की अन
विधाओं में सामान्य रूप से परिष्कृत होती है, यहाँ आकर सौंद
तथा चमत्कार की पराकोटि पर पहुँच जाती है।

कविता के इस लक्षण पर आपत्ति और उसका परिहार

कविता के उक्त लक्षण पर यह आपत्ति की जा सकती है कि य
आवश्यकता से अधिक संकुचित है और इसकी उ
पद्यबध रचनाओं में अव्याप्ति है, जिन का प्रमु
ध्येय पाठक के हृदय में आनन्द-प्रसृति न होकर उ
उपदेश देना है, जैसे संस्कृत में भर्तृहरि के तीन शत
और अंग्रेजी में पोप का "एस्से ऑन मैन"; किंतु इन दो
रचनाओं को सभी देशी और विदेशी पाठक चलती कविता मानते आ
हैं। किन्तु ध्यान से देखने पर उक्त आपेक्ष निराधार ठहरता है; क्यों
सब प्रकार की यथार्थ कविताओं का प्रमुख लक्ष्य, चाहे वे कितनी
उपदेशपर क्यों न हों, प्रत्यक्षतः मनोवेगों को तरंगित करना होता
न कि उपदेश देना। उपदेश देना तो उनकी गौण वृत्ति होती है। अ
यदि सचमुच इनका प्रमुख लक्ष्य उपदेश देना ही होता तो इनकी रच
पद्य में न होकर गद्य में होनी अधिक उपयुक्त होती; क्योंकि निःसन्
उपदेश देना पद्य की अपेक्षा गद्य में कहीं अच्छी तरह किया जा सक
है। हम मानते हैं कि सभी प्रकार के साहित्य का चरम लक्ष्य जीवन
सत्यान्वेषी बनाना है, किन्तु जहाँ गद्य-रचनाएँ जीवन को सत्याभि
बनाने के लिए सत्य का प्रवेश हमारे मस्तिष्क में करती हैं, वहाँ कवि
उसका प्रवेश हमारे हृदय में करके उसे वहाँ चिरस्थायी बना देती
किन्तु सत्य का यह प्रवेश भी कविता की मुख्य वृत्ति न हो उसकी गौ
वृत्ति हुआ करती है।

हम मानते हैं कि उपदेशपरक कविता भी यथार्थ कविता हो सकती है, किन्तु यथार्थ कविता होने पर भी वह कविता के उस उन्नत आदर्श पर नहीं पहुँच पाती जहाँ हमारा जीवन एकान्ततः भावनाओं का सदन बन जाता है; जहाँ धर्माधर्म, सुख-दुःख, तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य के द्वन्द्व दलित होकर आत्मा की सत्ता चिदानन्दमात्र रह जाती है।

एक बात और; सब जानते हैं कि हमारे मनोवेगों में उत्कट तरंगें तभी उठती हैं, जब हम कलाकार के द्वारा उत्पादित किए गए व्यक्तियों और उन पर बीती घटनावलियों को मूर्त रूप में अपने संमुख संदित होता देखते हैं। अमूर्त तथा भावरूप सत्य को अग्रसर करने वाली उपदेशप्रद कविता में यह बात उतनी भव्यता से नहीं संपन्न हो पाती। इस प्रकार की कविता से उत्पन्न होने वाले मनोवेगों में वह उत्कटता और घनता नहीं आ पाती, जो मूर्त व्यक्तियों और उन पर बीतने वाली घटनाओं को निर्दिष्ट करने वाली कविता में परिपक्व हुआ करती है।

कविता और अन्य साहित्य में भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि कविता और उससे भिन्न प्रकार के साहित्य में यह भेद है कि जहाँ कविता का प्रकाशन छन्दों में होता है, वहाँ साहित्य की दूसरी विधाओं का प्रवाह गद्य में रहा करता है। किन्तु कविता के इस प्रकार के कलापक्ष की उत्पत्ति किन्हीं बाह्य आवश्यकताओं तथा तत्त्वों से नहीं होती; इसका उत्थान तो कविता की अपनी आंतरिक आवश्यकता तथा शक्ति से संपन्न होता है। क्योंकि जहाँ गद्य में प्रवाहित होने वाले साहित्यसामान्य का लक्ष्य विशेष विशेष बिन्दुओं पर मनोवेगों को कीलित करना होता है; वहाँ कविता प्रतिपंक्ति और प्रतिपद मनोवेगों की धारा बन कर खड़ी होती है। और यह एक सामान्य तथ्य है जब हमारे मनोवेगों में उत्कटता आती है, तब ... में भी

तदनुसारिणी नियमितता स्वयमेव उपस्थित हो जाती है और भाषा की इसी नियमबद्धता को हम उसके परिष्कृत रूप में छन्द इस नाम से पुकारते हैं। इसी लिए हम देखते हैं कि जब हम कभी भी उत्कट मनोवेगों को मुखरित करने वाली छन्दोमयी रचना को गद्य में परिवर्तित किया चाहते हैं, तभी उसके विन्यास और सौष्ठव में वक्रता आ जाती है और उसकी छन्दोबद्धता में संपुटित हुआ आनन्द फीका पड़ जाता है।

कविता और संगीत

और इस तथ्य के समर्थन में कि उत्कट भावनाओं की अभिव्यक्ति गद्य की अपेक्षा पद्य में भव्य बन पड़ती है हम कहेंगे कि *जब हमारे भावना-तंतुओं के साथ किसी भी अन्य* साहित्यिक तत्त्व (विचार आदि) का संकलन नहीं होता, तब वे संगीतपट पर ग्रथित हो घन बन जाते हैं और हमारी भाषा मूकता में परिणत हो जाती है। तब केवल संगीत तथा भावना शेष रह जाते हैं और साहित्य की निष्पत्ति नहीं होती। इस के विपरीत ज्यों ही भावनाओं के इस आवेश में साहित्य के बौद्धिक तत्त्व विचार आदि की अर्चना आ जाती है, त्यों ही वह आवेश कविता के रूप में प्रवाहित हो पड़ता है और हमारी भाषा संयमित तथा सुघटित हो छंदोमयी बन जाती है। फलतः यदि हम कविता को उत्कट भावनाओं की संतति स्वीकार करते हैं तो छंदोमयता उसका नैसर्गिक गुण अथवा अवयव बन जाता है और कविता के भाव और कला दोनों पक्ष एक दूसरे से अविभाज्य बन जाते हैं।

कविता और उपन्यास

और जब हम अपने मस्तिष्क में इस तथ्य को आरूढ़ कर लेते हैं कि कविता मनोवेगों की भाषा है, तब कविता और उपन्यास में दीख पड़ने वाला आंशिक भेद हमारे सामने और भी अधिक विशद हो जाता है। और इस विषय में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि कविता उपन्यास

की अपेक्षा संक्षिप्त होती है; यह इसलिए नहीं कि मनुष्य के मनोवेग अल्पजीवी होते हैं, भावों की अल्पजीविता तो आत्माभिव्यंजिनी कविता को संक्षिप्त करने में कारण बनती है, क्योंकि यहाँ कवि जीवन की किसी एक उत्कट भावना को लेकर उसके आधार पर अपनी तूलिका चलाता है, और उस भावना के मंद पड़ जाने पर अपनी तूलिका थाम देता है किंतु आत्माभिव्यंजिनी रचना को जन्म देने वाले मनोवेगों से भिन्न प्रकार के प्रलंब मनोवेग भी होते हैं, जिनकी संतति को यदि कवि चाहे तो पर्याप्त समय तक उत्कट बनाए रख सकता है; और उसकी इस जीवन प्रलंबिनी प्रक्रिया में ही महाकाव्यों का उदय होता है। किंतु इन प्रलंबित मनोवेगों की भित्ति पर अंकित किए गए महाकाव्य की अपेक्षा उन्हीं के आधार पर खड़ा होने वाला उपन्यास कहीं अधिक बृहत् तथा विपुलकाय होता है; क्योंकि जहाँ कविता को – क्योंकि वह निसर्गतः मनोवेगों को उद्दीप्त करने वाली माना है— कथा के भीतर आने वाली उन सब बातों को तज देना होता है, जिनका मनोवेगों के साथ प्रत्यक्ष संबंध न हो, वहाँ उपन्यास के भीतर ऐसी सब प्रासंगिक बातों का समावेश हो जाना अपेक्षित होता है, जो किसी न किसी प्रकार से चरित्र-चित्रण में सहयोग देती हों। अब, यदि हमारी प्रस्तुत कविता एक महाकाव्य हुआ तो वह कथा के उन्हीं अंगों पर ठहरेगी, जिनके भीतर कथा का आत्मा घनीभूत होकर अनुप्राणित हुआ है। कविता में अंतर्भूत हुई घटनाएँ भी उपन्यास की अपेक्षा न्यून होंगी, किंतु जो होंगी वे होंगी सबल और शक्तिसंपन्न। एक कवि को अपने कथावस्तु में अनावश्यक बढ़ाव और संकुलता लाने की स्वतंत्रता नहीं होती, क्योंकि ऐसा करने पर कविता में बहुत से ऐसे प्रसंगों का लाना अनिवार्य हो जाता है, जिनका कवित्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं होता और जिनके प्रविष्ट हो जाने पर कविता की रचना शिथिल जाती है। इसी कारण कविता के भीतर वर्णित हुई घटनाओं

को व्यंजनागर्भ होने पर भी विश्लेषण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि आवश्यकता से अधिक मात्रा में होने वाला विश्लेषण भी कविता के प्रभाव को सांद्र तथा सजीव नहीं रहने देता। कविता में मनोवेगों का निदर्शन कराया जाता है, उसका वर्णन नहीं; फलतः किसी भी प्रकार का मनोभावों का वर्णन अथवा उनका विश्लेषण कवि के लिए हेय नहीं तो अनावश्यक अवश्य है; और इसीलिए कविता में होने वाला गिरि नदी आदि का वर्णन भावमय होना चाहिए; उसमें स्थान-निदर्शन आदि परित्याज्य हैं। और यह बात स्पष्ट है कि भावमय वर्णन विस्तृत न होकर सदा नियमित हुआ करते हैं, वे पोले न होकर सदा ठोस और सजीव हुआ करते हैं।

कविता और उसका संस्थान

कहना न होगा कि जिस क्षण हम कविता को मनोवेगों की भाषा स्वीकार करते हैं उसी क्षण हम उसकी सरणि तथा संस्थान (diction and structnre) को भी उसका आवश्यक अंग मान लेते हैं। जहाँ कविता की भाषा अपनी छंदोमयता के कारण गद्य की भाषा से भिन्न प्रकार की होता है, वहाँ अपनी संगीतमयता के कारण भी वह उससे पृथक् रहा करती है।' और यद्यपि वर्ड्सवर्थ जैसे महाकवियों ने भी गद्य और पद्य की भाषा में होने वाले अंतर का प्रत्याख्यान किया है, तथापि जनसामान्य के अनुभव में जो एक प्रकार का विशेष संगीत पद्य में पाया जाता है वह गद्य की ललित से ललित भाषा में भी उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए बाण भट्ट की सर्वगुण-विभूषित कादंबरी के अत्यंत चमत्कृत गद्य में उस संगीत की श्रुति नहीं होती जो हमें कालिदास के मेघदूत में आद्योपांत लहराता दीख पड़ता है। इसी प्रकार अंगरेज़ी की रुचिरतम रचनाओं में से एक रिलिजिओ मेडिसि नामक रचना के विविधगुण-विभूषित गद्य में हमें उस संगीत की लय नहीं सुनाई देती जो हमें शेक्सपीयर अथवा शेले की पद्यमयी रचनाओं में

उपलब्ध होती है। इस बात का कारण यह है कि जहाँ गद्य के निर्वाचि
अंशों में मनोवेगों को तरंगित करने की क्षमता होती है, वहाँ आदर्श प
की प्रतिपंक्ति में और प्रतिपद में यह योग्यता संनिहित रहती है। कवि
समष्टिरूप से मनोवेगों की भाषा है, तो गद्य आंशिक रूप
भावनाओं को स्फुरित करता है।

और क्योंकि कविता प्रत्यक्ष रूप से मनोवेगों की भाषा है, इसलिए उ
निर्माता में एक प्रकार की देवज्ञता का आ
कवि देवज्ञ होता है स्वाभाविक है। जगत् को उस की समष्टि में दे
के कारण कवि किसी अंश तक भूत, भविष्यत्
वर्तमान का निर्माता बन जाता है। उसकी इस निर्माणमयी अंत
के कारण ही ग्रीक आचार्यों ने उसे निर्माता इस नाम से पुकारा है,
हीब्र्यू भाषा में तो कवि और भविष्यवक्ता दोनों के लिए शब्द ही एक
और जब हम कवि की इस निर्माणमयी दिव्यशक्ति पर ध्यान देते
कविता के ये लक्षण कि वह ज्ञान का उच्छ्वास और उसका स
रुचिर आत्मा है—वह जीवन की आलोचना है बड़े ही अर्थ
रहस्यमय दीख पड़ते हैं। जब हम किसी विश्वकवि की रचना को प
तब हमें उसके रचयिता में दिव्यद्रष्टृत्व का भान होता है मानो व
अपने हाथों अपना जगत् बनाकर उसकी व्याख्या करता है, वह अ
काल्पनिक जगत् में हमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी की झलक दि
है। यदि ऐसा न हो तो रामायण पढ़ते समय हम सहस्रों वर्ष पूर्व
को आज भी अपनी आँखों के संमुख खड़ा हुआ कैसे देखें; और कैसे
कि भविष्य में भी इसी प्रकार की सृष्टि चलेगी जैसी रामायण के युग
रही थी। वाल्मीकि की रचना को पढ़ते समय प्राप्त हुआ यह अिक
विचारों के साथ संबन्ध नहीं रखता; यह तो हमारे मनोवेगों की

द्वारा घनीभूत होकर हमारी आँखों का विषय बन जाता है। हम कालिदास की शकुन्तला को पढ़ते समय दुष्यंत और शकुन्तला की कथा नहीं पढ़ते; उस समय तो वे अपने भौतिक शरीर में परिणद्ध हो हमारे संमुख आ विराजते हैं और उन सब घटनाओं की फिर से आवृत्ति करते हैं, जो उन्होंने आज से सहस्रों वर्ष पहले कभी की थीं। कवि की दृष्टि में इस निर्माणमयी त्रिकाल-दर्शिता की उपपत्ति इस बात से होती है कि वह जीवन को उसके भिन्न भिन्न व्यक्तिरूपों में नहीं देखता; वह तो भूत, वर्तमान और भविष्यत् के अगणित जीवनों की समष्टि को देख उनकी तली में से जीवन का ऐसा प्रतिरूप उत्थापित करता है, जो प्रतिक्षण परिवर्तित होने पर भी तिल भर नहीं बदलता, जो तीनों कालों और सब देश तथा परिस्थितियों में सूर्य के समान अविच्छिन्नरूप से प्रकाशित होता रहता है। हम देखते हैं कि हमारा जीवन प्रतिक्षण बदलता रहता है, हमारे चहुँ ओर परिस्थित द्रव्यजात भी प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। इस परिवर्तन का नाम ही तो संसार, जगत् तथा जीवन है, कवि इस परिवर्तनशील अनंत जगत् के किसी एक परमाणु को ले, उसे अपनी अंतर्दृष्टि के सूक्ष्मदर्शक नाल (magnifying glass) द्वारा शतधा, सहस्रधा विशाल बना कर, उसके वर्तमान क्षण में, उसके अमित अतीत तथा अतुल भविष्य को प्रतिबिंबित करके दिखा देता है बस इसी में उसकी निर्माणकता और भविष्य-वक्तृता का रहस्य है।

कविता आदर्शमयी भाषा है

और जब हम कविता में उद्भूत होने वाले उच्च तत्त्वों को भली-भांति हृद्गत कर चुकते हैं तब हम कविता के उच्चतम लक्षण की ओर अग्रसर होते हैं, जो कविता और जीवन के मध्य विराजमान संबंध को बहुत ही सम्य रूप में उपस्थित करता है। इस लक्षण के अनुसार कविता आदर्शित भाषा

अभाव में, जिसके द्वारा कि वह अपने आप को इन्द्रियों का विषय बनाता और इस प्रकार हमारे मनोवेगों को तरंगित करता है, विज्ञान का विषय है न कला का। दूसरी ओर, अकेला चमत्करण, उस आदर्श अथवा ढाँचे के अभाव में, जिस पर मुद्रित हो वह अपने आपको मूर्त बनाता है—नहीं के तुल्य है। आदर्श और चमत्कार के इस सामंजस्य में ही सौंदर्य का उद्भव है और दोनों के मार्मिक संकलन में ही कला को अर्थवत्ता है। कविता का उक्त लक्षण तो साहित्य की सभी विधाओं पर घटाया जा सकता है किंतु कविता का वह अपना निजू गुण, जो उसे साहित्य की अन्य श्रेणियों से परिच्छिन्न करता है, यह है कि कविता अपने विधान (Construction) तथा चमत्करण में आदर्श के नियमों पर खड़ी होती है और एक आदर्श का रहस्य इस बात में है कि उसमें आवृत्ति (Repeat) नामक तत्व निहित रहा करता है। आदर्श का उद्भव होता है एक आवृत्त अवयव (unit) से; और आदर्श को उत्थापित करने वाले की कलावत्ता केवल इतने ही से व्यक्त नहीं होती कि उसने आवृत्त (Repeat) को यंत्र-निर्माण (mechanism) की दृष्टि से संपन्न करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है, प्रत्युत आवृत्त (Repeat) को इस प्रकार उपयुक्त करने में होती है कि उसके सारे क्षेत्र में, जिसमें कि आवृत्त का प्रसार है, अपना एक निजू सौंदर्य तथा अपनी एक अनोखी एकता, जो आवृत्त (unit) अवयव के गुणों से निष्पन्न होने पर भी उन से भिन्न प्रकार की है, उत्पित हो जाय। सब जानते हैं कि समानाकार बिंदुओं की एक पंक्ति आदर्श का एक अनुद्भूत रूप है। इन बिंदुओं को वर्ग के रूप में लाकर उस वर्ग की आवृत्ति की जा सकती है। इन आवृत्त वर्गों अथवा संघों का फिर से एक विशालतर विधान (design) के रूप में वर्गीकरण किया जा सकता है, और फिर उसकी भी आवृत्ति की जा सकती है;

और इस प्रकार यह शृंखला बनाई जा सकती है। इतना ही नहीं, इस आदर्श की स्तुति यंत्र से न कर हाथ द्वारा की जाती है तब उसमें एक प्रकार की नति (flexibility) का आ जाना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में श्रापण की शला में किंचित् अंतर आ जाने पर भी उसके आदर्शत्व में तब तक भेद नहीं पड़ता जब तक कि हमें तदंतर्वर्ती आवृत्ति का, उसके मार्मिक अंशों में, अनुभव होता रहे। सच पूछो तो कला से उत्पन्न हुए सभी सच्चे आदर्शों (pattern) में इस प्रकार की नति का होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य सा है। यह नति इतनी अधिक हो सकती है कि आवृत्ति को पाने के लिए उसे ढूँढना पड़े, और यह एकमात्र सूक्ष्मदर्शियों के देखने की वस्तु बन जाय।

चित्रकला और संगीत कला के विषय में तो यह बात अनायास समझ में आजाती है किंतु कवित्वकला के विषय में इसका समझना किंचित् कठिन है। किंतु इसमें संशय नहीं कि जिस प्रकार उन दोनों कलाओं पर यह बात लागू है उसी प्रकार यह कविता पर भी घटती है। मिल्टन के शब्दों में कविता "वह भाषा है, जिसका आत्मा पद्य में व्याप्त रहने वाला लय है"। यह लय गद्य में भी रहता है और संभव है कादंबरी तथा पिलिग्रिम्स प्रो[illegible] जैसी रमणीय रचनाओं के गद्य में यह अत्यंत सुन्दर तथा संकुल (intrica[illegible] भी संपन्न हुआ हो। किंतु गद्य का ताल पद्य के ताल से भिन्न प्र[illegible] का है। जहाँ पद्य के ताल में आवृत्ति (Repeat) का रहना अनि[illegible] है वहाँ गद्य में उसका अभाव होता है। यहाँ तक कि जब गद्य [illegible] की ओर झुकता है तब उस में एक प्रकार की वक्रता आजाती है और पाठकों को खलने लगता है। वस्तुतः गद्य शब्द का अर्थ ही यह [illegible] है, जो अपने ताल में (व्यावहारिक भाषा के समान) बिना आ[illegible]

पद्य तथा गद्य के ताल में भेद है

सीधी चलती हो, जब कि पद्य का वाच्य वह भाषा है जिसमें आवृत्ति हो।

गद्य और पद्य इन शब्दों की व्युत्पत्ति के अनुसार दोनों के वाच्य में मौलिक भेद का होना अनिवार्य है। किंतु इन दोनों के बीच में रहने वाला भेद उस भेद जैसा नहीं है जो गद्य तथा कविता में दीख पड़ता है। क्योंकि जहाँ हम किसी भी गद्यमयी रचना को कविता नहीं कह सकते वहाँ सब पद्य भी कविता नहीं कहा सकते। माना कि सभी आदर्शित भाषा (patterned language) पद्य है, किंतु उसे कविता का रूप देने के लिए आदर्श का विधान दक्षता के साथ होना अभीष्ट है और उसमें सौंदर्य की पुट देनी आवश्यक है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि पद्य और कविता एक ही वस्तु हैं तो हमें कविता में सुरूप तथा कुरूप दोनों ही प्रकार की रचनाओं का समावेश करना होगा; किंतु इसकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा हो कि हम कुरूप कविता को कविता के नाम से ही न पुकारें।

सब पद्यमयी रचनाएँ भी कविता नहीं हैं

आदर्श का यह क्षेत्र, भाषा तथा सामग्री की दृष्टि से जिसके द्वारा कि मानवीय कलाकारिता अपने आप को व्यक्त करती है, बहुत विस्तृत है। इसका विकास एक देश से दूसरे देश में, एक युग से दूसरे युग में और एक संप्रदाय से दूसरे संप्रदाय में भिन्न भिन्न होता है, यहाँ तक कि एक ही कलाकार के हाथ में भिन्न भिन्न समयों पर, भिन्न भिन्न उद्देश्यों के लिए किए गए इसके व्यवहार में भेद पड़ जाता है। इसमें वृद्धि और ह्रास होते रहते हैं, वृद्धि के पश्चात् निश्चेष्टता तथा संहार का युग आता है, और इसमें से नवीन युग की झाँकी दीख़ा करती है। किसी भी राष्ट्र की किसी भी समय की सभ्यता का निदर्शन हमें उसकी ललित कलाओं के मानदंड

आदर्श और कला

(standard) से हो जाता है, क्योंकि ललित कला
प्रगति की एक वृत्ति है; यह उसका एक मौलिक अंश है।

कला और जीवन

सामान्य दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि कला की सत्ता कला के लिए है, किंतु जीवन के उदात्त लक्ष्य पर ध्यान देते हुए कला की सत्ता भी जीवन के लिए ठहरती है, जिसका कि कला भी एक प्रकार का ललित अवयव है। जिस प्रकार प्रगति की विस्तृत विभिन्नताओं तथा उत्ताल तरंगों में भी हम जातीय आत्मा की स्थूल रूपरेखा को देख सकते हैं उसी प्रकार जाति की प्रगतिशील ललित कलाओं के बहुमुखी विकास में भी हम जातीय जीवन का अध्ययन कर सकते हैं। आदर्शों में कुछ आदर्श तो सब के लिए समान होते हुए भी प्रबल होते हैं; इन पर प्रत्येक कलाकार अपनी कल्पना और कुशलता के अनुरूप अपनी तूलिका चलाता है। इन प्रबल आदर्शों के अरुण में से चहुँ ओर भिन्न दिशाओं में अन्यान्य आदर्शों की रश्मियाँ फूटा करती हैं, जो अविच्छिन्न रूप से आविष्कार, परिष्कार तथा परिवर्तन की प्रक्रिया में गुज़रती रहती हैं। इनमें से कुछ आदर्श तो कवियों के प्रयत्नमात्र होते हैं जिनका परिणाम कुछ नहीं निकलता, दूसरे आदर्श राष्ट्रीय जीवन में जड़ पकड़ जाते और बल पाकर सामान्य आदर्श को बदल डालते हैं। इस प्रकार कवित्वकला वैयक्तिक प्रतिभाओं के प्रभाव से नव-नव रूपों में अभिव्यक्त होती हुई प्रतिक्षण नवीनता धारण करती रहती है।

उक्त विवेचन के परिणामस्वरूप कविता की सामान्य परिभाषा ... दार्शनिक भाषा (Patterned language) अर्थात् कला के द्वारा ... आदर्शों में परिणत हुई शब्द-सामग्री ठहरती है। इस कविता से ... ऐंद्रिय तथा बौद्धिक रस की उपलब्धि होती है। यदि हम उक्त ... के पारिवारिक पद को छोड़ उसके सार पर ध्यान दें तो कह ...

है कि कविता यह कला अथवा प्रक्रिया है, जो भाषा की अर्थसामग्री में से आदर्श घड़कर हमारे संमुख प्रस्तुत करती है और यह अर्थ-सामग्री है एक शब्द में जीवन। हर सच्ची कविता जीवन के किसी अंश या पक्ष को आदर्श के रूप में हमारे संमुख उपस्थित करती है; और विश्वजनीन कविता तो जीवन समष्टि के आदर्शधन का निर्माण करके हमें एक क्षण में सर्वद्रष्टा बना देती है।

कविता की इतिकर्तव्यता

जिस क्षण हम कवित्वविषयक उक्त सत्य को भली भाँति हृद्गत कर लेते हैं उसी क्षण हमें उन सब बातों का भान हो जाता है जो कवियों ने अपनी रचना कविता के विषय में कही हैं। जीवन का—जैसा उखड़ा पुखड़ा यह हमारे सम्मुख आता है—कोई आदर्श नहीं, कम से कम ऐसा आदर्श नहीं जो निश्चित हो, निर्धारित हो, जिसे हम समझ सकते हों। यह एकांततः बहुमुखी तथा बहुरूपी है; इसके नियम यदि हम उन्हें नियम शब्द से पुकार सकते हैं तो अनियमित तथा औंधे हैं यह हमारी आशाओं तथा आकांक्षाओं को नहीं सरसाता; कभी कभी यह हमें ध्येय-विहीन दीख पड़ता है। बहुधा यह, हैमलेट के शब्दों में उखड़ा-पुखड़ा निरी उठ बैठ ही दीख पड़ता है। यह किसी भी आदर्श को नहीं जन्माता, फिर सुन्दर आदर्श का तो कहना ही क्या। कविता का सर्वोच्च ध्येय, उसका सब से अनोखा कर्म, नियमों के इस अभाव को, प्रकाश की इस चौंध को, आदर्श में परिणत करना है; उसका कर्तव्य है जीवन के उस अंश अथवा पक्षविशेष को, जिस पर कि उसने अपने कल्पनारूप दृष्टतालयंत्र को केन्द्रित किया है, जीवन के समतल से उभार देना, उसे हमारी आँखों के संमुख कर देना; उसे अन्धकार में दीपशिखा की नाई अचल बनाकर जगमगा देना। और यही काम विश्व के महान कवि जीवन-समष्टि के विषय में किया करते हैं।

नकी कल्पना का स्वातंत्र्य जीवन के किसी अंशविशेष पर न ...
मष्टि पर पड़ता है; उनकी दिव्य रचनाओं में हमें जीवन के किसी परिमित
च विशेष के दर्शन नहीं होते; वहाँ तो हमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान
तीनों कालों के जीवन की समष्टि उत्पादित होती दृष्टिगत होती है। शेले
ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि कविता परिचित वस्तुओं
को हमारे संमुख ऐसे रूप में रखती है मानो वे हमारे लिए अपरिचित हों।
कविता हमारे संमुख अनुभूति के व्यस्त पट को एक अनोखे ऐश्वर्यो-
त्पादक प्रकाश में लाकर रखा करती है, इसके द्वारा हमें उसके
क्रमहीन संकुल तंतुसमवाय में भी विधाता के नियमित विधान का
दर्शन होता है। कविता हमें जीवन को, सौंदर्य की अगणित प्रणा-
लियों में प्रवाहित होने पर भी एक करके दिखाती; यह हमें व्यतिक्रम
और व्यत्यास भरे संसार में आशा के साथ जीना सिखाती है।

और इस उच्च दृष्टि से विचार करने पर हमें इस कथन में कि
कविता जीवन का उच्चतम विकास है कोई अत्युक्ति नहीं दीख पड़ती।
कविता जीवन के उस घनीभूत, विशदतम प्रयत्न अथवा नैसर्गिक बुद्धि की
पराकोटि है, जो समानरूप से अशेष विद्या, सकल अध्ययन, और सब प्रकार
की प्रगति के मूल में संनिहित है; और इसका लक्ष्य है जीवन की स्वाभाविक
महत्ता तथा शक्तियों को हृद्गत कराना, उसके द्वारा जगत् पर आधिपत्य
प्राप्त कराना और अपने प्रयत्न से प्राप्त की गई संपत्ति पर आत्मविश्वास के
साथ पाठक को डटाना; और इन्हीं सब बातों का नाम दूसरे शब्दों में
जीवन है।

कविता के भेद

साधारणतः काव्य के दो भाग किए जा सकते हैं; एक वह जिसमें एक-

मात्र कवि की अपनी बात होती है और दूसरा वह जिसमें किसी देश अथवा समाज की बात होती है।

विषयप्रधान कविता

केवल कवि की बात से यह आशय नहीं कि वह बात ऐसी है जो श्रोताओं की बुद्धि से बाहर हो। ऐसा होने पर तो उसे अनर्गल प्रलाप ही कहा जायगा। इस बात का आशय यही है कि कवि में ऐसा सामर्थ्य है जिसके द्वारा वह अपने सुखदुःख, अपनी कल्पना और अपनी अभिज्ञता के अंतस् से संसार के अशेष मनुष्यों के सनातन हृदयावेगों को और उसके जीवन की मार्मिक बातों को अनायास प्रकट कर देता है और पाठक उसकी रचना को पढ़ते समय उसमें अपने ही अंतरात्मा का इतिहास पढ़ने लगते हैं। यह तब होता है जब कवि संसारमंच पर खेल-कूद कर, रो-हँस कर, उसकी अशाश्वता तथा अंधाधुंधी को समझ कह उठता है "अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल" और अपने आत्मा के मंदिर में लौट ऐसा गाना गाता है, जिसमें संसार के मनुष्यमात्र का स्वर मिला रहता है। इस प्रकार की कविता में कवि का भाव प्रधान रहता है, इसलिए इसे हम भावात्मक, व्यक्तित्वप्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कहते हैं।

किंतु हम जानते हैं कि संसार के आदि पुरुषों में पराजय की यह वृत्ति न थी। वे अपने भौतिक जीवन को सुखसंपन्न बनाने के लिए बाह्य जगत् पर सर्वात्मना टूट पड़ते थे और अपने मार्ग में आने वाली कठिन से कठिन बाधाओं से भी विचलित न हो जीवन के संग्राम में अड़े रहते थे। उनके जीवन का लक्ष्य था कर्म और कर्म के द्वारा आधिभौतिक तथा आधिदैविक जगत् पर विजय प्राप्त करना। अभी उनके आत्मा की केंद्रप्रतिगामिनी शक्ति ही बलवती थी; उसे संसार में टक्करें खाकर केंद्रानुगामिनी बनने का अवसर न मिला था। इस अपेक्षाकृत कम सभ्य वीर पुरुष के कर्मयय जीवन का

इनका एक रचयिता न होने के कारण किसी एक के व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं होता। ये सारे समाज की समान दाय हैं; ये विपुल मानवजीवन की—जिसमें कि सदियों का सार समाया हुआ है; घनीभूत बोलती मूर्तियाँ हैं; परिवर्तनों के बीच में विकास को प्राप्त हुई जातीय उन्नति के प्रस्फुट पदचिह्न हैं। यदि इस कोटि की रचनाएँ किसी एक कलाकार की कृतियाँ हों, तो भी उनमें अतीत युगों की बहुविध रूढ़ियों का एकत्रीकरण होता है। हमने देखा कि समस्त भारत में व्याप्त हमारे रामायण और महाभारत महाकाव्य अपने रचयिताओं के नाम लुप्त कर बैठे हैं। जनसाधारण आज रामायण और महाभारत के नाम लेने के अतिरिक्त उनके रचयिता वाल्मीकि और व्यास के नाम नहीं लेते। इन दोनों में उस समय का भारत प्रतिफलित है। भारतवर्ष की जो साधना, आराधना और जो संकल्प है उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्यप्रासादों के सनातन सिंहासन पर विराजमान है।

हमारे देश में जैसे रामायण और महाभारत हैं वैसे ही ग्रीस में इलियड और ओडीसी हैं। ये सारे ग्रीस के हृदयकमल से उत्पन्न ... ग्रीस के महाकाव्य हुए थे और आज भी सारे ग्रीस के हृदयकमल में विराजमान हैं। होमर कवि ने अपने देशकाल के कंठ में भाषा दी थी—उसने अपने देशकाल की अवस्था को भाषाबद्ध किया था। उनके वाक्य निर्झर के समान अपने देश के अंतस्तल से निकलकर चिरकाल से उसे आप्लावित करते आए हैं।

... प्रकार ग्रीस का प्रतिफलन होमर-रचित इलियड और ओडीसी में ... उसी प्रकार इटालियन महाकवि वर्जिल की प्रख्यात रचना (Aeneio) में रोम की, लैटिन जाति की, लैटिन साम्राज्य की, और ... आंतरिक वाणी प्रवाहित हुई है। अपने अभ्युदय के पश्चात्

से, वर्जिल समस्त लैटिन जगत् का, उसके जीवन के सभी पटलों में सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता माना गया है। यदि हम लैटिन जगत् में से वर्जिल को पृथक् कर दें तो हमारे लिए उसकी इस अभाव से उत्पन्न हुई दुरवस्था का अनुमान करना कठिन होगा। हम कह सकते हैं कि वर्जिल से पहले लैटिन जगत् में जो कुछ भी हुआ था, उस सब का लक्ष्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से वर्जिल था; उसके पश्चात् वहाँ जो कुछ भी हुआ उस पर वर्जिल का उत्कट प्रभाव पड़ा, उसके भावों पर उसकी कथनशैली पर, यहाँ तक कि उसकी भाषा पर भी वर्जिल की मुद्रा छपी हुई है। वर्जिल ने अपनी रचना में रोम ही नहीं अपितु समस्त इटालियन जगत् को मुखरित किया था।

रोमन महाकवि वर्जिल

जिस प्रकार रोमन जाति की संयत तथा उदात्त वाणी वर्जिल में बही है, उसी प्रकार अंग्रेज़ जाति को विओवुल्फ, स्पैंसर-रचित फेयरी क्वीन, मिल्टन-रचित पैरेडाइज़ लॉस्ट, और टेनीसन-रचित इडिल्स ऑफ दि किंग नामक रचनाओं में मुखरित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पहली रचना में विओ-वुल्फ नामक किसी वीर के दर्पकृत्यों का वर्णन है, दूसरी तथा तीसरी रचना में नवोद्बोधकाल (Renaissance) के प्रतिबिंब के साथ साथ क्रमशः वीरता तथा मध्ययुग की रूढ़ियों की पुष्टि, और ईसाइयत की कथा तथा प्राचीनता का निदर्शन है, जब कि टेनीसन ने अपनी रचना में आर्थरियन कथानकों का प्रबंध बाँधा है। जिस प्रकार भारत, ग्रीस, रोम तथा इंग्लैंड का सामूहिक जीवन क्रमशः उनके रामायण—महाभारत, इलियड—ओडीसी, एनाइड तथा डिवाइन कमेडी, और वियोवुल्फ आदि विषयप्रधान रचनाओं में प्रतिफलित हुआ है, उसी प्रकार अन्य देशों का सामूहिक जीवन भी उनके अपने विषयप्रधान काव्यों में मुखरित होता आया है।

अंग्रेज़ महाकवि

निदर्शन पहले पहल चारणों द्वारा गाए जाने वाले गानों में हुआ, जो शनैः शनैः परिष्कृत तथा परिवर्धित होते हुए उस काव्य रूप में आए, जिसे हम विषयप्रधान, वर्णनप्रधान अथवा बाह्यविषयात्मक कविता कहते हैं। और क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से विषयप्रधान कविता का उदय पहले हुआ है; अतः पहले हम इसी पर विचार करेंगे।

विषयप्रधान कविता

विषयप्रधान कविता की विशेषता

विषयप्रधान कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका प्रत्यक्ष संबंध बाह्य जगत् के साथ होता है और उस जगत् का वर्णन करने के कारण यह वर्णनात्मक होती है। इसमें कवि अपने अंतरात्मा की अनुभूतियों का निर्देश न कर बाह्य जगत् में जाता और उसकी अंतस्तली में पैठ उसके साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित करता है। संक्षेप में हम इसे कवि के व्यक्तित्व से बाहर घटने वाली घटनाओं का रागमय लेखा कह सकते हैं। इस पर कवि के व्यक्तित्व की प्रकट छाप नहीं होती; दूसरे शब्दों में यह किसी एक कवि की रचना न होकर देश अथवा जाति की रचना होती है, इसके निर्माण में बढ़ती हुई पौराणिक कथाओं का बड़ा हाथ होता है, और यद्यपि इसमें, इसको अंतिम रूप देने वाले महाकवि की कला का कुछ आभास अवश्य होता है, तथापि आत्माभिव्यंजिनी कविता के समान इसे वैयक्तिक रचना नहीं कहा जा सकता। इसमें किसी एक कवि का दृष्टिकोण काम नहीं करता, इसमें तो एक जाति अथवा एक युग का प्रतिफलन हुआ करता है। इस श्रेणी की रचनाओं के अन्तरतल में सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके सदा के लिए समादरणीय बना देता है।

इसी श्रेणी की रचनाओं को उनका वर्तमान रूप देने वाले कवियों को महाकवि कहा जाता है। "सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती इनका आश्रय ले सकती है। ये जो रचना करते हैं, वह किसी व्यक्तिविशेष की रचना नहीं मालूम होती। कहने का अभिप्राय यह है कि उनकी उक्तियाँ देशमात्र और जातिमात्र को मान्य होती हैं। उनकी रचना उस बड़े वृक्ष का सा होती है जो देश के भूतलरूपी जठर से उत्पन्न होकर उस देश को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा रहता है। कालिदास का शकुन्तला और कुमारसंभव में कालिदास की लेखनी का कौशल दिखाई पड़ता है। किंतु रामायण और महाभारत ऐसे प्रतीत होते हैं मानो हिमालय और गंगा की भाँति ये भारत के ही हैं—व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष मात्र हैं। भावार्थ यह है कि उनके पढ़ने से भारत झलकने लगता है, व्यास और वाल्मीकि उन में दृष्टिगोचर नहीं होते।"

विश्वप्रधान कविताओं में सारा देश अथवा जाति प्रतिबिंबित होते हैं

हमने अभी संकेत किया था कि किसी देश अथवा जाति के वीर कृत्यों की प्रख्याति करने वाले नानादेशीय चारणों के परंपरागत गीत ही आगे चल कर किसी विशिष्ट प्रतिभावाले महाकवि द्वारा संपादित हो महाकाव्य का रूप धारण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन परंपरा-प्राप्त गीतों के समान उनमें उत्पन्न हुये महाकाव्य में भी अतीत युगों का प्रतिफलन होता है, समग्र सभ्यताओं का चित्रण होता है, मनुष्य के विचारमय जीवन के नानाविध स्थायी पटलों का निदर्शन होता है। महाकाव्य में उनको रचने वाली जाति का स्वभाव और कल्पना निहित होती है, इसमें इस जाति के अतीत, वर्तमान और भविष्यविषयक स्वप्नों का संक्षेप होता है। इस कोटि की रचनाओं में,

रामायण और महाभारत अपने रचयिताओं के नाम लुप्त कर बैठे हैं

से, वर्जिल समस्त लैटिन जगत् का, उसके जीवन के सभी पटलों में सर्व-श्रेष्ठ व्याख्याता माना गया है। यदि हम लैटिन जगत् में से वर्जिल को पृथक् कर दें तो हमारे लिए उसकी इस अभाव से उत्पन्न हुई दुरवस्था का अनुमान करना कठिन होगा। हम कह सकते हैं कि वर्जिल से पहले लैटिन जगत् में जो कुछ भी हुआ था, उस सब का लक्ष्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से वर्जिल था; उसके पश्चात् वहाँ जो कुछ भी हुआ उस पर वर्जिल का उत्कट प्रभाव पड़ा, उसके भावों पर उसकी कथनशैली पर, यहाँ तक कि उसकी भाषा पर भी वर्जिल की मुद्रा छपी हुई है। वर्जिल ने अपनी रचना में रोम ही नहीं अपितु समस्त इटालियन जगत् को मुखरित किया था।

रोमन महाकवि वर्जिल

जिस प्रकार रोमन जाति की संयत तथा उदात्त वाणी वर्जिल में वही है, उसी प्रकार अंग्रेज़ जाति को बिओवुल्फ, स्पेंसर-रचित फेयरी क्वीन, मिल्टन-रचित पैरेडाइज़ लॉस्ट, और टेनीसन-रचित इडिल्स ऑफ दि किंग नामक रचनाओं में मुखरित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पहला रचना में बिओ-वुल्फ नामक किसी वीर के दर्पकृत्यों का वर्णन है, दूसरी तथा तीसरी रचना में नवोद्बोधकाल (Renaissance) के प्रतिबिंब के साथ साथ क्रमशः वीरता तथा मध्ययुग की रूढ़ियों की पुष्टि, और ईसाइयत की कथा तथा प्राचीनता का निदर्शन है, जब कि टेनीसन ने अपनी रचना में आर्थरियन कथानकों का प्रबंध बाँधा है। जिस प्रकार भारत, ग्रीस, रोम तथा इंग्लैंड का सामूहिक जीवन क्रमशः उनके रामायण—महाभारत, इलियड—ओडीसी, एनाइड तथा डिवाइन कमेडी, और बियोवुल्फ आदि विषयप्रधान रचनाओं में प्रतिफलित हुआ है, उसी प्रकार अन्य देशों का सामूहिक जीवन भी उनके अपने विषयप्रधान काव्यों में मुखरित होता आया है।

अंग्रेज़ महाकवि

महाकाव्यकारों की दैव में आस्था

मनोविज्ञान बताता है कि प्राचीनकाल के पुरुष को जहाँ कहीं भी क्रिया दृष्टिगत होती थी, वह वहीं, जिस प्रकार अपने भीतर वैसी ही बाहर भी; एक अधिष्ठात्री देवता की कल्पना कर लेता था। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, यहाँ तक कि नभ में, जल में, और थल में, सभी जगह उसे किसी देवविशेष के दर्शन होते थे। इस सब देवताओं के साथ, इन सबके ऊपर एक देवता का आधिपत्य था, जिसे वह भाग्य अथवा नियति के नाम से पुकारता था। इस देवता के संमुख उसका सारा शौर्य तथा पराक्रम क्षीण हो जाता था और जिस प्रकार वायु के प्रबल झोंके पर्वत से टकराकर लौटते और अपने भीतर की क्रिया में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार भाग्य के साथ टकराकर पराजित हो वह अपने भीतर, अपनी ही निसर्गजात कर्मशीलता से उत्पन्न हुई, काम में अड़े रहने की हठ में घुल-घुलकर रह जाता था। उसके जीवन का आधा भाग उसके सहचर मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ संबद्ध रहता था तो दूसरा अर्धभाग इन देवी-देवताओं की सेवा तथा इन के भय में बीता करता था।

रामायण और महाभारत में दैव का हाथ

फलतः जहाँ हम अपनी रामायण और महाभारत में यथाचर भारत का सर्वांगी निदर्शन पाते हैं, वहाँ साथ ही उनमें हमें अपना सारा जगत् देवी-देवताओं के हाथ में कठपुतली की भाँति नाचता दीख पड़ता है। जहाँ महर्षि वाल्मीकि कैकेयी के द्वारा श्रीराम को वन में प्रस्थापित करा, उससे संपन्न हुए दशरथ के निधन पर अपनी रचना-भित्ति खड़ी करते हैं, वहाँ साथ से उस भित्ति की आड़ में, मथरा को लोकहित की दृष्टि से दुर्बुद्धि देने वाले देवताओं का उद्भावन करते हैं। और जब हम रामायण में आने वाले लोकोत्तर मूलों पर ध्यान देते हुए उसका पारायण करते हैं तब हमें उस महाकाव्य में एक भी घुटाली घटना ऐसी नहीं दीख पड़ती, जिसका प्रत्यक्ष अथवा

अप्रत्यक्षरूप से किसी देवता के साथ संबंध न हो। यही नहीं; रामायण में भाग लेने वाले सभी पात्र हमारे संमुख छोटे आकार में नहीं; अपितु एक अमानुष दिव्य आकार में आते हैं; उनमें से प्रधान पात्र तो स्वयं एक प्रकार के देवता बन गए हैं और उनके अनुचरों में से आधे रीछ, तथा बंदर आदि बन कर रहते हैं। श्रीराम का विरोधी हमारे जैसा मनुष्य नहीं, अपितु एक दश शीशधारी दानवराज है, जो सोने की लंका में बसता है। हमारे नायक वहाँ पहुँचने के निमित्त समुद्र को लाँघने के लिए नौका आदि का उपयोग नहीं करते; वे उस पर सेतु बाँधते हैं; और नल तथा नील के हाथ में जो कुछ भी आ जाता है, वही पानी पर तैरने लगता है। लौटते समय श्रीराम उस पुल पर से नहीं लौटते; वे सीतासमेत पुष्पकविमान में आते हैं और खेत में काम आए उनके सब साथी श्रीराम के हाथों अमृत पा फिर जी उठते हैं। घूम फिर कर ऐसी ही बातें हमारे संमुख महाभारत में आती हैं। यहाँ भी सुदर्शनचक्र की महिमा अपार है और यहाँ भी देवता दिन-रात मनुष्यों का ईहा में पूरा पूरा भाग लेते दिखाई देते हैं।

किंतु रामायण और महाभारत के ये तत्त्व मनुष्य के जीवन को अकिंचन नहीं बनाते; उलटा ये उसे देवताओं के समान भद्रता की ओर प्रवृत्त करते हैं, उसे मंगलमय भारतीय आदर्श की ओर आकृष्ट करते हैं।

जिस प्रकार भारत में उसी प्रकार ग्रीस में भी हमें इलियड और ओडीसी के वीर पात्र देवताओं के साथ कंधे से कंधा लगा ग्रीक और रोमन कर कैम्पों और युद्धक्षेत्रों में आपस में भिड़ते और राज-महाकाव्यों में देव दरबारों तथा प्रासादों में सामंतजनोचित आमोद और का हाथ प्रमोद करते दिखाई पड़ते हैं। इतिहास और पौराणिक उपाख्यानों का यही सम्मिश्रण हमें वर्जिल आदि महा-कवियों की रचनाओं में दीख पड़ता है।

हमने प्रारंभ में कहा था कि सृष्टि के आदिम पुरुष का जीवन कर्म-प्रधान था और उसके उस जीवन का वागात्मक व्याख्यान उसकी सर्व-प्रथम रचना अर्थात् विषयप्रधान महाकाव्यों में हुआ था। मानसिक जगत् की दृष्टि से उसका जीवन कितना भी परिसीमित तथा संकुचित क्यों न रहा हो, उसके जीवन का भी कुछ उद्देश्य था और ध्येय था; उसकी अपनी आदिम रचना में हमें उस ध्येय का प्रतिफलन स्पष्ट दीख पड़ता है।

भारतीय तथा यूरोपीय महाकाव्यों के दृष्टिकोण में भेद

हमारे ऋषियों ने जीवन को समष्टि के रूप में देख कर उस में मंगल-मयी भावनाओं का प्राधान्य दर्शाते हुए उसका अंत सत्य, शिव तथा सुन्दर में किया था। रामायण और महाभारत में हमारे ऋषियों का यह तत्त्व बड़े ही रमणीय रूप में उद्भासित हो उठता है। दोनों ही के मनोज्ञ पात्र क्लेशबहुल कर्ममय जीवन में से गुज़र कर अंत में प्रेम-परिपूर्ण ज्ञान के द्वारा निर्वाण प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य विचारकों ने अपने दृष्टिकोण को इहलोक की विभूति और पराभूति तक ही परिसीमित रख उस में अनिवार्यरूप से सामने आने वाले दैवजन्य क्लेश में ही जीवन का अंतिम पटाक्षेप किया है। ग्रीस की सर्वोत्तम निधि इलियड और ओडीसी में हमें यही बात उपलब्ध होती है, मानव जाति के भाग्यचित्र को घबड़ाहट के साथ देखने वाले महाकवि होमर का सार अखिल्लेस के इस वाक्य में आ जाता है कि "निर्बल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है; उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा क्लेश में मियें और वे स्वयं (देवता) आनन्द में रहें।" होमर के सभी पात्र समानरूप से दैव के हाथ की कठ्पुतली हैं; वा उन्हें जैसा चाहता है, नचाता है, और अंत में कांदिशीक बना धूलिशा कर देता है; उन्हें उद्यमजन्य क्लेश में छोड़ देता है। यूरोप के इस दुःखा

जीवन में क्लेश पर क्लेश आने पर भी लड़ाई में अड़े रहने की प्रवृत्ति को वर्जिल ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में यों व्यक्त किया है "सभी मनुष्यों के लिए जीवन का काल छोटा है, जीवन फिर नहीं लौटा करता; इस छोटे जीवन में यशःप्राप्ति करनाः बस वीरता के हाथ में इतना ही है।" अपने समय में दीख पड़ने वाली जीवनपरिस्थिति को होमर स्वीकार करता है; किंतु अतीत सभ्यता को चित्रण करने वाली उसकी रचना में हमें उस उत्कट महत्त्व वाले सत्य की प्राप्ति होती है, जिसे होमर अशेष मानव जीवन में अनुभव कर रहा था। इलियड का वर्ण्य विषय युद्ध है और वह सब कुछ जो युद्धों में होता है, उसके कारण और उसके परिणाम समेत। ओडीसी का वर्ण्य विषय है वैयक्तिक साहसिक कृत्यों से भरा हुआ जीवन और उसका प्रातीप्य, अर्थात् घर के लिए उत्कंठा और अपनी रक्षा की चिंता। इन दोनों वर्ण्यविषयों में जीवन के भले बुरे सभी-अनुभव आ जाते हैं; कवि इनका वर्णन करता है और साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से जीवन के प्रति अपना दृष्टि-कोण भी दर्शाता है, जिसका चरम निष्कर्ष है जीना और बहादुरी से जीना, चाहे सिर पर मंडराता दैव कितने ही क्लेश क्यों न दे, और चाहे मृत्यु कल की होती आज ही क्यों न हो जाय।

विषयप्रधान कविता के प्राकृतिक तथा आनुकारिक नाम के दो उपभेद

विषयप्रधान महाकाव्य के तत्त्वों का दिग्दर्शन हो चुका, अब पाश्चात्य दृष्टि से उसके दो उपभेदों पर कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। विषयप्रधान महाकाव्य दो भागों में बाँटे जा सकते हैं; एक प्राकृतिक और दूसरा आनुकारिक (Imitative); उदाहरण के लिए जैसे अंग्रेजी के महाकाव्य बिओवुल्फ और मिल्टन-रचित पैरेडाइज़ लॉस्ट। व्यापार और प्रकाशन की आदिम प्रवृत्ति के मुखरित होने में ही साहित्य का बीज निहित है। आदिम विचारों तथा मनोवेगों के स्रोत से ही

वीरगाथाओं तथा विषयप्रधान महाकाव्यों की धारा नहीं है; दोनं
रूप से स्वाभाविक विकास है; उन उन विचारों तथा भावना
है जो तत्कालीन मानव जाति की सामान्य दाय में श्रौ
देखने पर हमें भारतीय रामायण तथा महाभारत में श्रौ
हुए इलियड में उन बातों का वर्णन मिलता है, जो उस
तथा बीर में जीवन का निष्कर्ष मानी जाती थीं। दोनों देशों
समाज की इन महाकाव्यों में वर्णन की गई बातों में पूरी पू
अब, एक ऐसी रचना, जो इन्हीं सिद्धांतों के श्राधार पर र
अपने आकार, शैली और दृष्टिकोण में इन्हीं के समान हो
रचना ऐसे समाज तथा युग में संपन्न हुई हो, जिसकी रामायण
में वर्णित की गई प्रथाओं और विश्वासों में आस्था न हो श्र
संस्थान और रंगरूप में उक्त मौलिक महाकाव्यों से भिन्न प्रक
यह रचना अपने समसामयिक व्यक्तियों के जीवन का लेखा
नहीं है इसमें उनके मानसिक जीवन का प्रतिबिंब हो।
मौलिक महाकाव्य से भिन्न प्रकार की है, यह प्राकृतिक होने
काल्पनिक अधिक है।

यथार्थ महाकाव्य का सद्भाव किस युग में होता है

किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के इतिहास में एक अवस्थान
है, जो महाकाव्यनिर्माण के लिए सुतरां अनुकू
उस अवस्थान के बीतते ही महाकाव्य कं
अप्राकृतिकता श्रा जाती है; क्योंकि महाकाव
करने वाले अवस्थान में जीवन अपनी श्रा
में होता है, और उस युग में प्राकृतिक क
जूझना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य होता है। साथ ही इस
में साधारण नियम, प्रथा और संस्कृति का अभाव सा

इस युग के व्यक्तियों में प्राकृतिक गुणों की अधिकता होती है, जैसे निर्भयता, सहनशीलता, और साहसप्रियता; कलाएँ भी घर बनाना, नौका चढ़ना आदि अत्यावश्यक पदार्थों तक ही सीमित होती हैं; इस युग का हर व्यक्ति केवल अपने किए का उत्तरदायी होता है; क्योंकि वह संघटित समूहशक्ति से उत्पन्न होने वाले नियमों के अभाव में, हर बात में अपने पैरों खड़ा होता है। संक्षेप में हर व्यक्ति अपना जीवन अपने आप बनाता है। ऐसे युग में मनुष्यों के लिए लोकोत्तर बातों में विश्वास करना और देवीदेवताओं के साथ अपने जीवनतंतु को बँधा देखना स्वाभाविक होता है; क्योंकि उनकी विचारशक्ति अविकसित होती है और उनके लिए "जो नहीं दीखता वही देव बन जाता है" समाज की इस परिस्थिति में महाकाव्य खूब फलता फूलता है, किंतु इस परिस्थिति के नष्ट होते ही जीवन समाज तथा राष्ट्र के द्वारा निर्धारित किए गए नियमों में बँध जाता है और उसके साथ ही यथार्थ महाकाव्य का युग एक प्रकार से चल बसता है।

रामायण और महाभारत के युग में और आज के युग में भेद

आज हमारा जगत् वाल्मीकि तथा होमर के जगत् से कहीं अधिक विपुल तथा कहीं अधिक विशाल बन गया है। आज कोई भी कवि अपने महाकाव्य के लिए इस प्रकार का विषय नहीं ढूँढ सकता जिसके द्वारा उसकी रचना में रामायण और इलियड जैसी विश्वप्रियता आ जाय। युद्ध को भी आज सब व्यक्ति समान रूप से साहसकृत्य नहीं समझते, और ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो अपनी बहादुरी से पोल पर जाकर अपनी विजयपताका न गाड़ दे सब की दृष्टि में समान रूप से 'वीर नायक' नहीं माना जा सकता। हमारे अगणित मति-भेदों, धार्मिक भेदों, आचार-भेदों, व्यवसाय-भेदों तथा जीवन के प्रति होने वाले दृष्टिकोणों के भेदों से परिच्छिन्न हुए जीवनपट में से कोई भी साहित्यिक ऐसा स्थल नहीं निकाल

सकता जो सब व्यक्तियों को समान रूप से रुच सके; और स्मरण रहे इस सर्वप्रियता में ही विषयप्रधान महाकाव्य का सर्वस्व निहित रहा करता है। कहना न होगा कि इस परिवर्तित परिस्थिति में रचे गए महाकाव्य मौलिक महाकाव्यों से भिन्न प्रकार के होंगे; उनकी यह भिन्नता रचनाशैली में ही परिसीमित न रह उनके प्रसार, उनके आशय और उनकी अपील में भी उद्भूत होगी।

रामायण महाभारत तथा शिशुपाल वध आदि महाकाव्यों में भेद

मिल्टनरचित पैरेडाइज लॉस्ट की कथा हमारे लिए उतनी ही अविश्वसनीय है जितनी की इलियड की; किंतु अपनी गरिमा तथा अपील में मिल्टन की रचना एक सच्चा महाकाव्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि महाकाव्य का वर्ण्य विषय ऐसे कथानक तथा आख्यान होते हैं जिन में तात्कालिक समाज का पूरा पूरा विश्वास होता है; किंतु पैरेडाइज़ लॉस्ट में यह बात नहीं है। इसकी कथा में इसके रचनाकालीन व्यक्तियों का भरोसा न था; यह तो केवल संन्यास के व्यक्तियों ही को मान्य थी। यही बात रामायण और महाभारत की कथाओं को दुहरानेवाले आधुनिक संस्कृत और हिन्दी महाकाव्यों के विषय में कही जा सकती है। और जहाँ कि प्राकृतिक महाकाव्यों में उनके रचयिताओं का व्यक्तित्व नहीं दीख पड़ता था, वहाँ मिल्टन के पैरेडाइज़ लॉस्ट में हम स्वयं मिल्टन को विराजमान हुआ पाते हैं। निष्कर्ष इस बात का यह है कि जिस प्रकार अंग्रेजी का पैरेडाइज़ लॉस्ट आकार प्रकार में तो आदि महाकाव्यों के समान है, किंतु वस्तुतत्त्व में उन से सुतरां भिन्न, उसी प्रकार हमारे शिशुपालवध आदि संस्कृत महाकाव्य और प्रियप्रवास तथा साकेत आदि हिंदी महाकाव्य आकार प्रकार में तो रामायण और महाभारत के समान हैं, किंतु वस्तुतत्त्व में उन से सुतरां भिन्न।

महाकाव्यों की रचनाशैली : उन से तथा नाटक और उपन्यास में भेद

महाकाव्य के प्राकृतिक तथा आनुकारिक नामक दोनों उपविभागों का दिग्दर्शन हो चुका; अब उनकी रचनाशैली के विषय में कुछ जान लेना उचित होगा। महाकाव्य का वचन-प्रबंध वर्णनशैली में प्रवाहित होता है। जिस प्रकार वर्णनात्मक कविता अपने से प्रथम उदित हुए साहित्य से आगे उन्नति का एक पग है, उसी प्रकार वर्णनात्मक कविता में इससे आगे आने वाले और इससे भी कहीं अधिक विकसित नाटकीय साहित्य के बीज निहित हैं। नाटक के समान महाकाव्य में क्रिया की अग्रसरता का विकास होता है और दोनों ही समान रूप से अपने पात्रों के विकास में दत्तचित्त रहते हैं। किन्तु क्रिया और पात्रों को संप्रदर्शित करने का दोनों का अपना अपना ढंग पृथक् पृथक् है। नाटक में प्रमुख क्रिया को पराकोटि पर नियत समय में पहुँचना होता है; और समय की इस संयतता के कारण ही नाटककार को अपने संकुचित पथ से इधर उधर जाने का अवसर नहीं मिलता। उसकी चतुरता इस बात में है कि कहाँ तक अपने प्रधान पात्रों को निर्धारित परिधि में संकुचित करता हुआ उन्हें मुखरित कर सका है, और कहाँ तक अपनी रचना को प्रमुख पात्रों की पुष्टि में अग्रेसर कर सका है। महाकाव्य में समय और देश का ऐसा कोई बन्धन नहीं है। इसमें कवि को अपने प्रधान वक्तव्य से इधर उधर जाने का अधिकार है, वह अपनी रचना को प्रसंगागत ऐतिहासिक तथा वंशसम्बन्धी सूचनाओं से चारु बना सकता है। वह उसमें वन, पर्वत, नदी, समुद्र, ऋतु आदि सभी बाह्य जगत् का वर्णन कर सकता है। उस में मानवजाति के युद्ध, उन के शस्त्रास्त्र, उनके घरबार, उनके यातायात-साधन आदि सभी बातों का निर्देश कर सकता है। साथ ही महाकाव्य की गति में नियंत्रण भी है। इसे शीघ्र ही

समाप्त नहीं होना चाहिए, चमत्कार, तुलना तथा निदर्शन आदि के द्वारा उसका सुसज्जित होना आवश्यक है। कहना न होगा कि जहाँ वर्णन की इस स्वतंत्रता में अनेक लाभ हैं, वहाँ साथ ही इस में अनेक कठिनाइयाँ भी हैं। इस स्वतंत्रता के आकर्षण में मस्त हो कवि अपने विषय के साथ लगाव न रखने वाली बातों में लग अपनी प्रमुख घटना को भुला सकता है; और यह अकेला दोष ही किसी रचना को भद्दी बनाने के लिए पर्याप्त है। कवि के द्वारा उद्भावित किए गए परिष्कार के इन उपकरणों द्वारा कथा को अग्रसर होने में सहायता मिलनी चाहिए, न कि उन से उसका गति-अवरोध होना चाहिए। इसमें संशय नहीं कि किंचित् काल के लिए कथा में व्याघात अथवा निरोध डाल देने से उसका प्रभाव बढ़ जाता है, क्योंकि इसके द्वारा कथा के विषय में हमारी पूर्वबुद्धि (anticipation) तीव्र हो जाती है; किंतु कथा को आवश्यकता से अधिक देर तक निरुद्ध कर देना तो उसके प्रति होने वाले पाठक के प्रेम को तोड़ देना है। महाकाव्य का लक्ष्य होना चाहिए कवि के द्वारा इतिहास, उपाख्यान अथवा काल्पनिक जगत् में से एकत्र किए हुए पात्रों और घटनाओं के प्रति पाठक के मन में शनैः शनैः किंतु स्वाभाविकता के साथ प्रेम उत्पन्न करना किन्तु यद्यपि उक्त उपकरणों द्वारा महाकवि की वर्णनसामग्री में बहुविधता आ जाती है, तथापि वह उस सामग्री पर "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा" के अनुसार अव्यवस्थित प्रबन्ध नहीं खड़ा करता; वह तो अपनी इस बहुरूपिणी प्रचुर सामग्री को अपनी रचना के प्रवाह में लाकर उसे ऐसे एकतानमय भाव में परिवर्तित करता है कि सहृदय पाठक उनमें अलग अलग कर नहीं पाते। विषय-प्रधान महाकाव्य लिखने वाले महाकवि की विशेषता इसी बात में है।

भावप्रधान कविता

विषयप्रधान कविता का स्रोत हम ने आदिम पुरुष की उस कर्ममय प्रवृत्ति में देखा था; जिससे प्रेरित हो वह गिरिगह्वर में से खिलखिला कर सामने पड़ी चट्टान पर फूटने वाले निर्भर के समान देव के द्वारा सजाए गए जीवन-संग्राम में बराबर रत रहता था और बार बार इस संग्राम में मुँह की खाने पर भी उस में अड़ा रहता था। अभी उस कर्मवीर ने पराजय का पाठ नहीं पढ़ा था।

विषयिप्रधान कविता का स्रोत : उसका क्षय

शनैः शनैः सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ साथ उस की कर्मण्यता मन्द पड़ती गई और उसकी विचार-वृत्ति, अथवा केंद्रानुगामिनी शक्ति विकसित होती गई। अब वह बाह्य जगत् को पीड़ा और टीस से अनुविद्ध हुआ देख कर अपने भीतर प्रविष्ट हुआ। उस के अन्तर्मुख होने पर उसके मुँह से जो कविता निकली, उसी के विविध रूपों को भावप्रधान कविता कहते हैं।

विषयिप्रधान कविता और मनोवेग

भावप्रधान कविता का स्रोत गायक के उत्कट मनोवेगों में है। प्रारम्भ में मनुष्य ने अपने इन मनोवेगों को अव्यक्त ध्वनि द्वारा प्रकाशित किया था; हमारा वर्तमान विशुद्ध संगीत उसी ध्वनि का संयत हुआ विकसित रूप है। प्रारम्भ में इस ध्वनि के साथ नृत्य का समिश्रण था; साहित्य का पहले-पहल प्रवेश इसमें बार बार आवृत्त होने वाले एक स्वर शब्दों के रूप में हुआ। सभ्यता के आनुक्रमिक विकास के साथ साथ आदिम पुरुषों के इन्हीं तत्त्वों से भिन्न भिन्न कलाओं का उद्भव हुआ; इन्हीं कलाओं में भावप्रधान कविता भी एक है; जिसका सरल लक्षण है शब्दों के द्वारा उत्कट मनोवेगों का संगीतमय प्रदर्शन। कहना न

होगा कि भावप्रधान कविता का निष्कर्ष कवि के उत्कट मनोवेगों में है; उनके द्वारा उच्चारित हुए शब्दों में बांधे गए वस्तुप्रतिरूप तो उसके मनोवेगों को स्पष्ट करने अथवा उन्हें बाहर बहाने के साधनमात्र हैं। शब्दों में संपुटित हुए प्रतिरूपों में कवि का मनोवेग इस प्रकार उच्छ्वसित होता है, जैसे प्यारने प्यार को शब्द द्वारा बहाने वाले चातक का आत्मा उसके गले में उच्छ्वसित हुआ करता है। शब्दायमान चातक का जो कुछ प्यार को दीखता है वह उसका बाह्य रंग और उसकी क्रिया है; जो प्यार सुनते हैं वह उसका गीत है; उसका मनोवेग, जिसकी कोई प्रतिमा नहीं, एकमात्र अनुभूति का विषय है, इन्द्रियों का नहीं। भावप्रधान कविता के अर्थ का सार कवि के मनोवेगों में है, जो शब्दों में बँधे हुए प्रतिरूपों द्वारा प्रस्फुटित होते हैं। और चाहे भावप्रधान कविता कैसी भी व्यक्तित्व-प्रधान क्यों न हो—और स्मरण रहे इस कोटि की सभी रचनाएँ व्यक्तित्वप्रधान हुआ करती हैं—यह उस मनोवेग के द्वारा जो मनुष्यमात्र में समानरूप से एक है—विश्वजन का दाय बन जाती है; और इसका परिणाम यह होता है कि कवि की तान में पाठक की तान मिल कर एक हो जाती है।

जीवन मनोवेगों की एक शृंखला है। मनोवेग में चंचलता है; वह उठता है, बढ़ता है, और फिर कहीं विलीन हो जाता है; बार बार नष्ट होकर वह बार बार आता है। जीवन की नदी इन लहरियों की एक समष्टि है। जीवन के ये मनोवेग जब घनीभूत हो शब्द-आदर्श में परिणत होते हैं तब गीतिकाव्य का जन्म होता है। गीतिकाव्य इन अव्यक्त मनोवेगों को व्यक्ति प्रदान करता है; वह रसाप्लावित हुए कवि के आत्मा को कंठ दे देता है। यही उसकी युक्ति है, इसी में उसका कलापन है, और यही उसकी उपयोगिता है।

गीतिकाव्य में एक ही मनोवेग अथवा विचार की प्रधानता होती है।

जब कविकुलगुरु कालिदास ने वर्षा के आरम्भ में स्निग्ध गम्भीर घोष करने वाले जलधर का पीन कलेवर देखा था, तब उनके मन में न जाने क्यों, जन्म-जन्मान्तरव्यापी विरह का एक *अपूर्व भाव संचरित हो गया था* और उनका आत्मा मेघदूत नामक कविता के रूप में वह निकला था। उस विरह से आविष्ट होने पर उन्हें चराचर जगत् उसी में पीड़ित हुआ दीख पड़ा था। क्या जंबूकुञ्ज का श्यामता समृद्धि, क्या सजल नयन की पुलक, क्या हरित कपिश वर्ण वाले कदंब वृक्ष, क्या उनको एक टक निहारने वाले हरिण, सभी समान रूप से उसमें बिंधे दीख पड़े थे। मेघदूत में आदि से अंत तक मानव हृदय का वही युगयुगांतव्यापी विरह-भाव मुखरित हुआ है।

विषयिप्रधान रचना के मनोवेग की एकता

हम प्रतिदिन हंसों को आकाश में उड़ता देखते हैं, हमने अगणित बार बादलों से भरे आकाश में बकपंक्तियाँ उड़ती देखी हैं। किंतु जब एक भावुक कवि कलनादिनी नदी के निर्जन तट के ऊपर से हंस श्रेणी को उड़ता देखता है *तब उसका हृदय एक अपूर्व सौंदर्य की तरंगों से आप्ला*-वित हो जाता है और वह अनायास कविता के रूप में वह निकलता है तब वह हंसश्रेणी पक्षियों की एक श्रेणी नहीं रह जाती, तब वह परलोक का दिव्य दूत बनकर उसके संमुख आती और उसे वहाँ का रहस्यमय संदेश दे उधर पहुँचने का मार्ग दिखाती है।

भावप्रधान रचना का परिपाक करुण रस में होता है

भावप्रधान कविताओं का परिपाक उस शोकमय वेदना में है, जिसे महाकवि भवभूति ने करुण रस के नाम से पुकार सभी रसों का आधार बताया है। कभी कभी इस कोटि की रचना में मनोवेग को विजयी भी दिखाया गया है; किंतु बहुधा मनोवेग निरर्थक रहता

है, क्योंकि वह मनुष्य पराजीवी है; और हम में सभी ने अपने की आत्मीय अथवा उनका अन्तर बिछुड़ जाता अपने जीवन में एक बार देखा है। किंतु अपने प्रेमियों की आत्मा के इस दुःखद अंत को दूर करने के लिए अनेक रचना का परिणाम शांत रस में किया जाता है। हमारे रामायण और महाभारत का अंत इसी शांतरस द्वारा हुआ है। पश्चिम में भी मिल्टन ने लीसिडस (Lycidas) के मित्र के अनंत निद्रा के स्वर्ग की कल्पना करके अपनी रचना का शांत रस में परिणाम किया है। इसी प्रकार टेनीसन ने अपनी इन मेमोरियम नामक रचना में इसकी निष्पत्ति अतीव दैवी इच्छा के साथ मिल कर एक हुए प्रेम की नित्यता को निर्दिष्ट करने वाले विश्वदेववाद में और शैले ने अपनी एडोनेस (Adonais) नामक रचना में इसकी निष्पत्ति इस आशा में कि उसका आत्मा भी देहपंजर को छोड़ एक दिन उसी जगत में पहुँचेगा जहाँ एडोनेस पहुँच चुका है, उस जगत् में जहाँ से कीट्स का आत्मा अनन्त में छिपे नक्षत्र की नाईं उन्मुख हो उसे अपनी ओर बुला रहा है, और अपनी प्रोमेथियस अनबाउंड नामक रचना में पीड़ित मानवसमाज के संमुख आगामी सुवर्णयुग की स्थापना करके की है।

भावप्रधान रचना की पराकाष्ठा से एकमात्र कवि और उसके भाव रह जाते हैं।

यह तो हुई अपेक्षाकृत विपुल रचनाओं की बात। सभी भावप्रधान कविता में कवि को किसी भी ऐसे सांत्वना देने वाले स्वर्गादि की कल्पना नहीं करनी पड़ती। वह तो किसी कलनादिनी नदी के निर्जन तट के ऊपर से उड़ती हुई बकपंक्ति को देख कर उस आंतरिक सौंदर्य के स्रोत में लीन हो जाता है, जो अशेष बाह्य सौंदर्य का चरम आगार है, उस समय उसकी गति ऐसी होती है जैसे विजया को पीकर मस्त हुए प्रेमी की; उस आंतर प्रेम से आविष्ट

होने पर बाह्य जगत् उसकी आँखों में नाच नाच कर तिरमिराता हुआ शनैः शनैः लुप्त हो जाता है; नदी का रव चुप हो जाता है, *निर्जन तट बह जाता है, बकपंक्ति विलीन हो जाती है*, बस वह रह जाता है, और उसके रहस्यमय तरल स्वप्न रह जाते हैं। जहाँ विषय-प्रधान कविता रचते समय कवि के संमुख विषय पंक्तिबद्ध हो खड़े हो गए थे और वह उन्हें चीन्ह रहा था, वहाँ विषयिप्रधान कविता करते समय एकमात्र कवि रह जाता है, बाह्य प्रकृति उसके आत्मा में अपना आदर्श अथवा प्रतीक छोड़ कर तरल बन जाती है, अथवा अनुभूति के अत्यधिक निगूढ़ हो जाने पर सुतरां लुप्त हो जाती है। और जिस प्रकार कालीबाड़ी में मस्त होकर *नाचने वाले सच्चे बंग वैष्णव अपने आपे को भूल जाते हैं, इसी प्रकार* विषयिप्रधान रचना में फूटते समय भावुक कवि अपने आपे को भूल जाते हैं। और जिस प्रकार दिव्य अप्सराएँ नदियों में से मधु तथा क्षीर तभी संचित करती हैं जब वे डियोनीसस के मंत्र में बँधी होती हैं—अपने आपे को भूली होती हैं—अन्यथा नहीं, इसी प्रकार भावुक कवि का आत्मा गीति-काव्य के रूप में तभी प्रवाहित होता है जब वह प्रेम में अपने हृदय को पूरी तरह घुला चुका होता है। जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ मधुमद से मत्त हो भरी दुपहरी, *निर्जन में, फूल से फूल पर मँडराती और उनमें से मधु इकट्ठा* करती फिरती हैं, उसी प्रकार प्रतिभा की सुरा में मस्त हो सच्चा कवि भी सरस्वती के उपवनों तथा कदराओं में बहने वाले मधुमय स्रोतों से अपने गीतरूपी मधुकणों को एकत्र करता हुआ उड़ा करता है। और जिस प्रकार उन मधुमक्षिकाओं द्वारा संचित किए मधु को उनसे बलात् छीनकर हम उनके सभी प्रयत्नों तथा आकांक्षाओं को धूलिसात् कर देते हैं—पर फिर भी वे, क्यों कि उनका स्वभाव ही मधुसंचय करना है, पुष्पों के अंतरात्मा में धुस वहाँ के *अमृत को पीना ही* उनका जीवन है—मधुसंचय करती ही रहती हैं, उसी

कार एक सधा कवि अपने प्रपत्रों के विफल होने पर भी बराबर
स मंगलरूपी उपवन के व्यक्तिरूप पुष्पों की अंतस्तली में पैठ वहाँ
के अमृतमय एकल रस को पीता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि
आकांक्षाओं की विफलता ही में जीवन का आरंभ है और एक सच्चे
विषयिप्रधान कवि की रचना में विफलता को ही जीवन के गीत का
आधार बनाया जाता है।

जिस प्रकार विषयिप्रधान कविता में उसी प्रकार नाटक और उपन्यास में भी एकता का होना आवश्यक है। किंतु साहित्य की पिछली दोनों विधाओं में कलाकार को एकतास्थापन के लिए संचित रहना पड़ता है। एकता के इस उद्देश्य को ध्यान में रख वह अपने सभी पात्रों और घटनाओं को प्रमुख घटना का अनुसारी बनाया करता है; उस घटना के एक तागे में उन सब को पिरोया करता है। यहाँ हमें कलाकार का हाथ एकत्रीकरण की दिशा में चलता हुआ दिखाई देता है। इसके विपरीत विषयिप्रधान रचना में कवि की सब वृत्तियाँ विषयी के रूप में अनुगत हो स्वयमेव एक बन जाती हैं और उनका प्रकाशन भी अप्रवर्तितरूपेण एक तान और एक लय के रूप में फूट पड़ता है। यहाँ उसे किन्हीं निर्धारित नियमों का पालन नहीं करना पड़ता; यहाँ तो उसका एकमात्र ध्येय श्रोता को अपने साथ कर लेना होता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि अपने तथा श्रोता के मध्य ऐक्यस्थापन के लिए अपनी रचना को वह चाहे जिस प्रकार घड़ सकता है, उसे चाहे जिस छंद में बाँध सकता है। किन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं कि जिस प्रकार उसके मन में विषयिप्रधान कविता के उद्बोधक मनोवेग का प्रकंप एकदम ही आता है, उसी प्रकार उसकी भी रचना अनायास निष्पन्न हो जाती है। नहीं, रचनानिष्पत्ति के लिए उसे

विषयिप्रधान कविता की एकता तथा नाटकीय एकता में भेद है

भी प्रयास करना पड़ता है। किन्तु कवितानिष्पत्ति हो चुकने पर कलाकार का हाथ अपनी कला में छिप जाता है और उसकी रचना उसके स्वाभाविक समुच्छ्वसन के रूप में आविर्भूत होती है।

भाव प्रधान कविता की स्वतःप्रवर्तितता

विषयिप्रधान रचना के प्रारंभिक रूपों में कवि हमारे संमुख कलाकार के रूप में बिलकुल नहीं आता। वेदों की ऋचाओं में हमें उनको निर्माण करने वाला हाथ किंचित् भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जिस प्रकार धरणी के वन्ध्य वक्षःस्थल में जल का उत्साव आविर्भूत होकर ही हमें प्रत्यक्ष होता है, वह कहाँ से आया, कैसे आया और किस रूप में आया इत्यादि की हमें जिज्ञासा तक नहीं होती—इसी प्रकार वे गीत तो ऋषियों की हृदयस्थली से मुखरित होने पर ही प्रत्यक्ष हुए थे, जलभरनत जीमूत में चपला प्रत्यंचा के समान चमक कर ही दीख पड़े थे। उनके रचने वालों के मन में, उन्हें किस रूप में रचा जाय, यह प्रश्न उठा ही न था। किन्तु इस कोटि की रचना के एक बार प्रस्फुटित होने पर कवि का कर्तव्य है कि वह अन्त तक उसे उसी रूप में निभाता जाय; उसके छंद और रीति आदि में किसी प्रकार का खलने वाला भेद न आने दे।

विषयिप्रधान कविता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य पर एक दृष्टि

जब हम विषयिप्रधान कविता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास का अनुशीलन करते हैं तब हमें इसकी परंपरा अनेक स्थलों पर खंडित हुई दीख पड़ती है। हिन्दी साहित्य का विषयप्रधान वीरगाथाकाल खुमानरासो; बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, आल्हा और विजयपालरासो में बीत कर उसका विषयविषयिप्रधान भक्तिकाल कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की रचनाओं में हमारे संमुख आता है। इन में कबीर तथा सूर की रचनाओं को हम किसी सीमा तक विषयिप्रधान

रह सकते हैं; क्योंकि इन दोनों की रचनाओं में हमें कवियों का प्रयत्न आत्मा विहृत हुआ दीख पड़ता है। जायसी की रचना लाक्षणिक अथवा रूपकमय है और तुलसी का मानस विषयप्रधान। भक्तिकाल के पश्चात् हम हिन्दी के रीतिकाल में आते हैं, जिसकी रचनाएँ बहुधा विषयप्रधान हैं। इन रचनाओं में हमें कविता का उसके निखरे रूप में दर्शन नहीं होता, और ध्यान से देखा जाय तो यह कविता नहीं, अपितु चमत्कारों तथा अलंकारों की जादूभरी पिटारी है। चिंतामणि, यशवंतसिंह, बिहारी, मतिराम, भूषण, कुलपति, देव, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि की रचनाओं में कहीं कहीं कविता का उत्कृष्ट रूप मिलने पर भी दृष्टिकोण साधारणतया शब्दाडम्बर और अलंकारों के विधान में लीन हुआ दीख पड़ता है। हिन्दी के रीतिकाल से चलकर हम उसके आधुनिक युग के प्रारंभिक काल (संवत् १९२४-१९६०) को छोड़ते हुए उसके मध्ययुग (१९६०-१९७५) में प्रविष्ट हो मैथिलीशरण गुप्त की वाणी में विषयिप्रधान कविता का उनके

बार बार तू आया
पर मैंने पहचान पाया

इत्यादि पदों के रूप में दर्शन करते हैं। मध्ययुग के पश्चात् आने वाले नवीनयुग में (१९७५ से १९९३) हिंदी की विषयिप्रधान धारा वर्मा, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी, सुमित्रानन्दन पंत, इलाचन्द्र जोशी, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, हरिवंश राय बच्चन आदि सुकवियों की मनोरम रचनाओं में बड़े ही अनूठे रूप में अवतीर्ण हुई है।

जिस प्रकार हिंदी में उसी प्रकार अंग्रेजी में भी विषयिप्रधान कविता का उत्थान और पतन हुआ दीख पड़ता है। एलीज़बेथन युग में संपन्न हुई रचनाओं पर फ्रेंच तथा इटालियन रचनाओं का प्रभाव पड़ा, जिससे उनमें नवीनता आई और इस श्रेणी की रचनाओं का उस देश में

की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य का सिंहावलोकन

पर्याप्त आदर भी हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि १६ वीं सदी के पिछले अर्ध में इस कोटि की रचनाओं के उस देश में अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। एलीजबीथन युग ने जिस प्रकार नाटकक्षेत्र में इसी प्रकार कवित्वक्षेत्र में भी बहुत सी कृत्रिम रचनाओं को जन्म दिया। इस का कारण था उस समय के कवियों की प्राचीन रचनाओं के पीछे चलने की बलवती इच्छा। मिल्टन के प्रख्यात गीतों के पश्चात् अंग्रेज़ी लीरिक उन विषयों में प्रवाहित हो गई जो उसके लिए उपयुक्त न थे, जैसे दर्शन धर्म। साथ ही उस समय की लीरिक में, लीरिक के रूप को आवश्यकता से अधिक संयत करने वाले आचार्यों के हाथ में पड़ जाने के कारण एक प्रकार की पंगुता आ गई। प्रकारवाद के इस युग में साहसवृत्ति के नष्ट हो जाने के कारण उससे उत्पन्न होने वाली विषयिप्रधान कविता भी दब गई। और जहाँ हमें परिष्कार के इस युग में नटी के समान बनी-ठनी सुसंयत कविता के प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं, वहाँ मनोवेगों के समान ही स्वतंत्रताप्रिय विषयिप्रधान कविता का अपेक्षाकृत अभाव सा दीख पड़ता है। इस युग में दीख पड़ने वाली काटछांट की प्रवृत्ति से उपरत हो, कवियों का ध्यान फिर सौष्ठववाद की ओर गया और उनके मन में मूर्त में छिपे अमूर्त सौंदर्य को; प्रस्तुत में संनिहित हुए अप्रस्तुत रहस्य को खोज निकालने की उत्कंठा जाग्रत हुई, जो आगे चलकर बर्न्स, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, बायरन, शैले और कीट्स जैसे महाकवियों की रचनाओं में अत्यंत ही रमणीय भंगियों के साथ कविता-मंच पर अवतीर्ण हुई।

आधुनिक हिन्दी कवियों की

कहना न होगा कि परिवर्तन की जिस उत्कट अभिलाषा और प्रवृत्ति ने साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र के परंपरागत बंधनों से उन्मुक्त हो चकवाक और बुलबुल की नाईं स्वतंत्र विचरने के लिए अंग्रेज़ी में बर्न्स, वर्ड्सवर्थ,

भावप्रधान रचनाएँ

शैले और कीट्स जैसे महाकवियों को प्रेरित किया था, सर्वतोमुखी स्वातंत्र्य की उसी उद्दाम अभिलाषा ने हमें हिन्दी में प्रसाद, पंत, निराला और वर्मा जैसे सुकवियों के दर्शन कराए हैं। इनके गीतों में धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक रूढ़ियों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ भारत का आत्मा एक बार फिर से स्वातंत्र्य के लिए बड़े ही करुण स्वर में चीख उठा है। आधुनिक युग में अनर्गल हुई सोने की चमक ने और उसको येन केन प्रकारेण जुटाने के आत्मघाती उपकरणों के जंजाल ने भारत के उदार प्रेममय आत्मा को दबा रखा था; इन कवियों के हृदयों में प्रेम का वही सनातन भाव आज फिर से फूट निकला है। भारत का यह चिरंतन राग अपने विशुद्ध रूप में, अपने अत्यन्त ही उदात्त तथा कमनीय रूप में रहे कालिदास; तुलसीदास तथा सूरदास की रचनाओं में उपलब्ध हुआ था। कबीर की रहस्यमयी प्रतिभा ने उसे मर्त्यलोक की निम्न तली में प्रवाहित करते हुए भी नील नभ की आकाशगंगा में पहुँचा दिया था। जायसी ने उसी अप्रस्तुत प्रेम तत्त्व को प्रस्तुत में निदर्शित करके भारतीय आदर्शवाद के दृष्टिकोण का मुलम्मा फेरा था। प्रेम हमारे संमुख अपने इन सभी रूपों में आया था, और खूब आया था। किन्तु अपने इन सभी रूपों में यह एक तल समुद्र की भाँति धीर था, गम्भीर था, अगम था; संसार में अस्थिर रूप से होने वाले उत्थान और पतन की परिधि से यह बाहर था। हमने राम और सीता के प्रेम में, कृष्ण तथा गोपियों के अनुराग में संकेत [illegible] निकली थी। संक्षेप में हमने अपने प्रेम को मानव सत्ता का अगम आदर्श बनाया था; उसे मनमन्दिर में सुवर्ण का मेरु बनाकर प्रतिष्ठापित किया था। प्रसाद, पन्त और निराला का प्रेम इससे कुछ भिन्न प्रकार का है। उसमें बचपन के प्रेम की भाँति ही निश्छलता, चंचलता और पवित्रता विद्यमान

है, पर साथ ही उसमें पश्चिम से आए प्रेम की सारी ही चपलता, स्फीतता मसृणता तथा तरलपन भी उपस्थित है। इन कवियों की अभिराम रचनाओं में भारत और पश्चिम का प्रेम एक अनिर्वचनीय द्विवेणी के रूप में प्रवाहित हुआ है। इन कवियों की विशेषता इसी बात में है।

१६३० में हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास लिखते समय हमने आधुनिक युग के इन कतिपय कवियों का सारासार विवेचन किया था, और इनकी रचनाओं में विश्वजनीनता के कुछ बीज छिपे देखे थे। उसी वर्ष, हमारे इतिहास से कुछ पीछे, काशी से प्रकाशित हुए दोनों इतिहासों में इन कवियों को उपेक्षा की दृष्टि से देख साहित्यक्षेत्र से बाहर निकाल दिया गया था। सौभाग्य से वह दृष्टिकोण अब बदल गया है, और हमारे आलोचकों ने अपने कवियों का आदर करना सीख लिया है।

स्वातंत्र्य प्रवृत्ति का कलापक्ष पर प्रभाव

हम ने अभी कहा था कि आधुनिक युग में उत्पन्न हुई स्वातंत्र्य-प्रवृत्ति ने उक्त कवियों की विषयिप्रधान रचनाओं को जन्म दिया है। स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति ने जहाँ उनकी रचना के भावपक्ष को नवनवोन्मेषी बनाया है वहाँ साथ ही इसने उसके कलापक्ष पर भी चार चाँद लगाए हैं। हम जानते हैं कि कबीर ने अपनी अटपटी वाणी में दोहे तक के नियमों को तोड़ डाला था और अन्य कवियों की रचनाओं में भी हमें छंदोभंग आदि दोष मिल जाते हैं। अतुकांत प्रणाली संस्कृत में पहले ही प्रचलित थी; हिन्दी के प्रेमी कवियों ने अपनी रचनाओं में इसी को अपनाया है। खड़ी बोली में अंत्यानुप्रास-रहित पद्य का सब से पहले स्वागत पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने किया था। उनका कंसवध नामक काव्य बरवा छंद में है, पर उसमें अंत में तुक नहीं मिलाई गई है। सूर्यकांत [illegible] ने इतने ही से सन्तुष्ट न हो अपनी [illegible] किया।

आपके स्वच्छन्द छन्द दो प्रकार के हैं। एक में तुक के नियम का पालन किया गया है। दूसरे में तुक का पालन भी नहीं है और ऊपर नीचे की पंक्तियों में मात्राएँ भी समान नहीं हैं। हर पंक्ति अपने ही में पूर्ण है और भावों की आवश्यकतानुसार संक्षिप्त अथवा विस्तृत बनाई गई है। किन्तु एक दृष्टि से प्रत्येक पंक्ति दूसरी पर आश्रित भी है। छन्द में मधुर लय का ध्यान रखा गया है, जिसके अनुशासन में सब पंक्तियाँ चलती हैं। यह बात निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी:—

> विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न—
> अमल-कोमल-तनु तरुणी-जुही की कली,
> दृग बन्द किए, शिथिल, पत्रांक में,
> वासंती निशा थी

छन्दःक्षेत्र में प्राप्त हुई स्वतन्त्रता ही से सन्तुष्ट न हो पंत जी ने लिंगों के विषय में भी स्वतन्त्रता बरती है। आप लिखते हैं—

"मैंने अपनी रचनाओं में, कारणवश, जहाँ कहीं व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ तोड़ी हैं, वहाँ कुछ उसके विषय में लिख देना उचित समझता हूँ। मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग, पुँल्लिंग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारांत इकारांत के अनुसार ही पुँल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गए हैं, और जिनमें लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता; उन शब्दों का ठीक ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता, और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित सी हो जाती है। वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण चरणों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है, और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि

यदि संस्कृत का देवता शब्द हिन्दी में आकर पुँल्लिंग न हो गया होता तो स्वयं देवता ही हिन्दी-कविता के विरुद्ध हो गये होते। प्रभात के पर्यायवाची शब्दों का चित्र मेरे सामने स्त्रीलिंग में ही आता है, चेष्टा करने पर भी मैं कविता में उनका प्रयोग पुँल्लिंग में नहीं कर सकता।..."बूँद" "कंपन" आदि शब्दों को मैं उभय लिंगों में प्रयुक्त करता हूँ। जहाँ छोटी सी बूँद हो वहाँ स्त्रीलिंग, जहाँ बड़ी हो वहाँ पुँल्लिंग, जहाँ हलकी सी हृदय की कंपन हो वहाँ स्त्रीलिंग जहाँ ज़ोर ज़ोर से धड़कने का भाव हो वहाँ पुँलिंग।"

पंत जी के ये विचार युक्तिसंगत हैं अथवा असंगत इस विषय में यहाँ वाद-विवाद नहीं करना। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि आधुनिक युग के कवियों में स्वातंत्र्य का प्रवृत्ति उद्दाम हो रही है और उनके लिए क्या भाव और क्या कला, किसी भी पक्ष में नियमों में बँधना असह्य हो रहा है। जिस प्रकार किसी जाति अथवा राष्ट्र के धारावाहिक इतिहास में ऐसे प्रसंग अनिवार्यरूप से आया करते हैं, इसी प्रकार उस इतिहास के वाणात्मक प्रकाशनरूप साहित्य में भी उनका आना अनिवार्य होता है। भारत का वर्तमान जीवन उथलपुथल का जीवन है; फलतः हमारे साहित्य में भी जिधर देखो उधर ही उथलपुथल मची दीख पड़ती है। निश्चय से क्रांति के पराकोटि पर पहुँच चुकने पर शांत जीवन के दर्शन होंगे, तब हमारा साहित्य भी अपने आप संयत तथा परिपूर्ण हो जायगा।

अंग्रेज़ी की विषयिप्रधान कविता को विद्वानों ने उसके संस्थान (structure), उसमें दीखने वाली भावपक्ष के प्रति कलापक्ष की अधीनता और उसमें व्यक्त होने वाले कवि के व्यक्तित्व की दृष्टि से अपने वर्गों में विभक्त किया है। कहना न होगा कि हमारे कवियों की रचनाएँ अभी उतनी स्थित तथा परिष्कृत नहीं हो पाई हैं; इसलिए यहाँ इस दृष्टि से उन पर विचार करना भी अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

कविता और आधुनिक जगत्

वर्तमान युग परिवर्तन का युग है। किसी एक देश, एक जाति अथ
एक श्रेणी में ही नहीं, अपितु एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब जगत्, स
जातियों और सभी श्रेणियों में परिवर्तन का दौर चल रहा है। न केव
भौतिक, अपितु मानसिक तथा चारित्रिक जगत् में भी इसका चक्र अनवर
घूम रहा है। प्राचीन मर्यादाएँ टूट रही हैं, चिरंतन विचारधाराएँ धूम रही हैं;
पुराने संघटनों का कायाकल्प हो रहा है; जीवन की निभृत शक्तियाँ, जो अ
तक अव्यक्त पड़ी थीं, प्रबलता के साथ अग्रसर हो रही हैं और परिवर्तन के
इस उद्दाम प्रवाह की हमें इयत्ता नहीं दीख पड़ती। आज हमारा और
प्राचीन प्रथाओं के खँडहरों में बीत रहा है। इन खँडहरों के धूलिधूस
मध्य में से हमें एक नवीन जगत् की झाँकी दिखाई देती है।

१६ वीं सदी का दृष्टिकोण

१६ वीं सदी—जो हम से कभी की बिछुड़ चुकी है और जि
इतिवृत्तमयता को अब हम केवल उसके प्रतिबिम्ब रू
देख पाते हैं—सिद्धांतों और उनके प्रति होने व
अनुराग का युग थी। इस के पोषक सिद्धांतों में प्रमुख
राजनीति, इतिहास की क्रमिक संतति और विज्ञ
द्वारा भौतिक जगत् पर विजय प्राप्त करना। इन मंतव्यों ने १६ वीं सदी
अपनी एक ऐसी छाप लगाई थी जिसके दर्शन हमें उससे पहले की स
में नहीं होते। इन्हीं सिद्धांतों को हम आज तक उन्नति और उस
नाम से पुकारते आए हैं। उन्नति के साथ साथ परिवर्तन का
अवश्यंभावी था, किन्तु परिवर्तन का यह दौर किसी परिवर्तन के
था उन सिद्धांतों के संस्थान के लिए आया था। इसी परिवर्तन का
इसने विकास रचा था, हमारे विज्ञान का मूलमंत्र लगभग यही था।
को हम ने उन्नति समझा था और इसी के आधार पर यूरोपीय

ने उदार दल (Liberalism) की स्थापना की थी। संक्षेप में १६ वीं सदी एक आशा का युग था। हमें प्रतीत होता था कि आने वाला युग सुवर्ण युग होगा।

एक पीढ़ी पहले मानवीय जगत् में एक और परिवर्तन आया। नवीन विचारों की धारा पुराने विचारों की धारा से, जिस में से उसकी उत्पत्ति हुई थी—कटकर अलग बहने लगी; क्योंकि विचारों में भी अन्य आंगिक वस्तुओं की नाईं विकास का होना स्वाभाविक है। १६ वीं सदी के सिद्धांतों में से कतिपय सिद्धांत कुछ अंशों में नष्ट हो गए, कुछ निरर्थक बन गए और कुछ इतने परिवर्तित तथा परिवर्धित हो गए कि आज हमारे लिए उनका पहचानना कठिन हो गया है। दूसरे शब्दों में विकास के नियम ने १६ वीं सदी के सिद्धांतों को भी अछूता न छोड़ा। विकास के इस सिद्धांत में हमें विकास के नहीं, अपितु अपने शासक और नियंता के दर्शन हुए। क्योंकि विकास की इस प्रगति पर हमारा नियंत्रण नहीं है; इसकी आंधी के सामने सभी पुराण प्रथाएँ, सारी ही चिरंतन रूढ़ियाँ, भागी चली जा रही हैं।

१६ वीं सदी की उन्नति और आज की उन्नति की परिभाषा में भेद

विकास की यह शक्ति अजेय है। उन्नति और प्रगति का नाम हम अब भी लेते हैं, किन्तु उन्नति के विचार, जो आज हमारे मन में हैं, उन्नति की उस भावना से सुतरां भिन्न हैं, जिसने हमारे पूर्वजों के हृदयों को उच्छ्वसित किया था, जिसने उनकी कर्मण्यता में त्वरा के चार चाँद लगाए थे। उनकी दृष्टि में उन्नति का आशय था सुधार और भद्रभावन। उनके मत में उन्नति के द्वारा मानव समाज त्वरा के साथ अपने दैविक दाय की ओर अग्रसर हो रहा था और उसके उस दाय में संसार की अशेष विभूतियों का वशीकरण था। किंतु आज

हमारा दाय—जो हमारे सामने बिखरा सा पड़ा है—यथार्थ दाय न हो एक प्रकार का अनिर्वचनीय भार है, हमारी पीठ पर कस कर बँधी एक बोझे की गठरी है। बहुत पहले हमारे पूर्वजों ने संसार पर शासन करने वाली शक्ति को संबोधित करके कहा था "भगवन्! तूने मनुष्यों की संख्या में भरपूर वृद्धि की है, किन्तु उनके सुखों को आगे नहीं बढ़ाया।" वह अजेय शक्ति, वह अनर्गल नियति अपनी प्रगति में प्रमत्त हुई हमें बरबस अपने आगे धकेले ले जा रही है, जिसका परिणाम यह है कि आम जनता में यह विश्वास दिनोंदिन घर करता जा रहा है कि संसार में उन्नति, कम से कम अपने पुराने अर्थ में, कोई तत्त्व ही नहीं है।

आज से पहले भी लोगों ने उन्नति का जीवन के अटल नियम के रूप में खंडन किया था, किन्तु उन लोगों का हम से इस बात में अन्तर था, क्योंकि वे अपने इस सिद्धान्त पर आचरण भी करते थे। वे इस बात पर अपना सर्वस्व वार देते थे कि उन तत्त्वों या सिद्धान्तों में—जिनमें उनकी आस्था थी—किसी प्रकार का परिवर्तन न आने पाये। मध्ययुग का रहस्य इसी चेष्टा में था। नवविद्वेषी (अर्थात् कंसर्वेटिव) अथवा समाज में उन्नति प्रतिरोधी अंग (reactionary) का काम यही था; वे १८ वीं सदी में होने वाली बौद्धिक क्रान्ति के विरुद्ध और उसके पश्चात् आने वाली औद्योगिक क्रान्ति और अन्त में राजनीतिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक क्रान्ति के विरुद्ध बराबर लड़ते रहे; चाहे अन्त में जाकर उनके ये प्रयास विफल ही क्यों न रहे हों। किन्तु नवविद्वेषिता का यह आन्दोलन भी—अपने पुराने अर्थ में—आज कोई बलशाली तथ्य नहीं रह गया है। परिवर्तन को सभी ने अजेय शक्ति के रूप में सिर-माथे रख लिया है। सभी के मन में परिवर्तन की अभिलाषा घर कर चुकी है और संप्रति दीख पड़ने वाली अशान्ति तथा ... के मूल में एकमात्र परिवर्तन की यही अन्धी इच्छा काम करती

को हम ने उन्नति समझा था और इसी ... [illegible]

ख रही है।

इस उटाऊ परिस्थिति के उत्पन्न करने मे अनेक शक्तियों का हाथ है। तायात के वैज्ञानिक साधनों ने देशविदेश का अन्तर मिटा दिया है। ग्रतः यदि कोई बात किसी एक देश अथवा जाति पर घटती है तो उसका भी देशों और जातियों पर समान प्रभाव पड़ता है; किसी एक देश अथवा ाति में आने वाले परिवर्तन का आवेग कूल तोड़कर सभी देशों और ातियों में समानरूप से प्रवाहित हो पड़ता है। अतीत घटनाओं के लेखों ौर ऐतिहासिक अनुसधाताओं के प्रयत्नों ने जनता को अतीत की बहार ार से दिखा दी है, और वे सभी लेखावलियाँ, जो आज तक अव्यवस्थित ्शा में पड़ी रहने के कारण किसी एक देश अथवा जाति को ही प्रभावित ारती थीं, अब संसार की सामान्य निधि बन जाने के कारण अखिल श्व पर अपनी मुद्रा लगा रही हैं। अतीत में होने वाले सख्यातीत रिवर्तनों के परिज्ञान ने जनता के मन में परिवर्तन का उन्माद भर दिया ै, यहाँ तक कि अब उन्हें कुछ भी परिवर्तन से परे नहीं दीखता, और ्वयं जीवन ही परिवर्तनों की एक शृंखलामात्र प्रतीत होने लगा है। मूर्त वज्ञान के विकास और यन्त्रकला की विष्वक् विभूति ने यह जता दिया है के परिवर्तन का यह सिद्धान्त कहाँ तक पसारा जा सकता है और कहाँ तक इसे निर्धारित लक्ष्य तथा अवेक्षित ध्येयों की अवाप्ति में सम्बद्ध किया ना सकता है। परिवर्तन के इन सब उपकरणों के साथ इसको संपन्न करने वाले उस उपपादक पर भी ध्यान दीजिये, जो है तो स्वयं अभावात्मक, किन्तु जिसने परिवर्तन को अग्रसर करने में सब से अधिक सहायता दी है, और वह है धर्म का अपने परंपरागत अर्थ में, इस जगत् से प्रयाण कर जाना। सभी जानते हैं कि धर्म शब्द का परंपरागत अर्थ विधान और निषेध है; इसका मूल एक अनिर्वचनीय भय में है और इसका प्रमुख

दीख रही है।

इस उठाऊ परिस्थिति के उत्पन्न करने में अनेक शक्तियों का हाथ है यातायात के वैज्ञानिक साधनों ने देशविदेश का अन्तर मिटा दिया है। फलतः यदि कोई बात किसी एक देश अथवा जाति पर घटती है तो उसका सभी देशों और जातियों पर समान प्रभाव पड़ता है; किसी एक देश अथवा जाति में आने वाले परिवर्तन का आवेग कूल तोड़कर सभी देशों और जातियों में समानरूप से प्रवाहित हो पड़ता है। अतीत घटनाओं के लेखों और ऐतिहासिक अनुसंधाताओं के प्रयत्नों ने जनता को अतीत की बहार फिर से दिखा दी है, और वे सभी लेखावलियाँ, जो आज तक अव्यवस्थित दशा में पड़ी रहने के कारण किसी एक देश अथवा जाति को ही प्रभावित करती थीं, अब संसार की सामान्य निधि बन जाने के कारण अखिल विश्व पर अपनी मुद्रा लगा रही हैं। अतीत में होने वाले संख्यातीत परिवर्तनों के परिज्ञान ने जनता के मन में परिवर्तन का उन्माद भर दिया है, यहाँ तक कि अब उन्हें कुछ भी परिवर्तन से परे नहीं दीखता, और स्वयं जीवन ही परिवर्तनों की एक शृंखलामात्र प्रतीत होने लगा है। मूल विज्ञान के विकास और यन्त्रकला की विष्वक् विभूति ने यह जता दिया है कि परिवर्तन का यह सिद्धान्त कहाँ तक पसारा जा सकता है और कहाँ तक इसे निर्धारित लक्ष्य तथा अवेष्टित ध्येयों की अवाप्ति में सम्बद्ध किया जा सकता है। परिवर्तन के इन सब उपकरणों के साथ इसको संपन्न करने वाले उस उपपादक पर भी ध्यान दीजिये, जो है तो स्वयं अभावात्मक किन्तु जिसने परिवर्तन को अग्रसर करने में सब से अधिक सहायता दी है और वह है धर्म का अपने परंपरागत अर्थ में, इस जगत् से प्रयाण कर जाना। सभी जानते हैं कि धर्म शब्द का परंपरागत अर्थ विधान और निषेध है; इसका मूल एक अनिर्वचनीय भय में है और इसका प्रमुख

को उद्भावित करना, अपनी काल्पनिक दृष्टि से अंध जगत् की त
में रहने वाले विन्यास तथा सौन्दर्य को, सत्य तथा ऋत
उन्मापना और अपनी निर्माणमयी वृत्ति द्वारा उसको कांदिशीक
मर्त्यसमाज के संमुख ला खड़ा करना। कविता मौलिक सत्य
उत्थान करके निराशा का प्रतीकार करती है, वह जीवन के सं
प्रवाह की नली में संनिहित हुए विन्यासयुक्त सौन्दर्य की झाँ
दिखाती है। वह शीर्ण हुए जीवन पट को फिर से बुन देती है;
उसके विकीर्ण तंतुओं में पीयूष का संचार कर देती है, वह जीवन
आशय तथा हृदय में नवीनता ला देती है।

अतीत के कवियों ने कविता के उच्च ध्येय को कहाँ तक पूरा किया है

यहाँ इस बात का निदर्शन करा देना अनुचित न होगा कि अतीत
महान् कवियों ने इस कर्तव्य को कहाँ तक पूरा किया
और किस प्रकार उन का निर्माणमय प्रभाव उनके
समय, देश और जाति तक ही परिसीमित न रह उ
पीछे आने वाले युगों, इतर देशों, जातियों, सभ्यता
संस्कृतियों पर मुद्रित होता चला आया है। कहने
आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार भारत की धर्म
वैदिक कविता ने, युग-युगान्तरों तक दास्य की जंजीर
जकड़ी हुई आर्यजाति के समुख आदर्शमय जीवन का प्रतिरूप खड़ा क
उसकी रक्षा की है। हीब्रू जाति का धार्मिक कविता, आज भी,
भाषाओं में अनूदित हो, विभिन्न मस्तिष्कों से निकले विविध व्याख्यान
अलंकृत होकर न केवल संसार के कोने कोने में फैली हुई हीब्रू
की संरक्षण कर रही है, अपितु वह संसारभर के ईसानुयायी
पैग़म्बर बनी हुई है। इलियड और ओडेसी नामक महाकाव्यों
होमर कवि प्रकांड शिक्षक और एक प्रकार से प्राचीन ग्रीस का

अग्रसर होते हैं तब यहाँ भी हम अपने संमुख रामायण और महाभारत में उसी आदर्श का प्रतिरूप उत्थित हुआ पाते हैं जो सदाकाल से इस देश का कंठहार रहता आया है। आदर्शवाद की यह धारा हमें भास, कालिदास तथा भवभूति आदि कवियों की रचनाओं में कभी मसृण तथा सुनहली बनकर दीख पड़ती है तो कभी गंभीर तथा गहन आशयवाली बनकर प्रवाहित होती दृष्टिगोचर होती है। आदर्शवाद का यही दाय हमें हिंदी कविता में पहले से भी कहीं अधिक मधुरूप में संपन्न हुआ दीख पड़ता है। यदि कबीर की डुगडुगी में बजने पर इस आदर्शवाद के संगीत की उदात्त लहरी कुछ भौंडी पड़ गई है तो तुलसी के विश्वजनीन नगाड़े पर आ वह बहुत ही गंभीर तथा प्रौढ़ सम्पन्न हुई है। सूर की वीणा में पड़ कर तो उस पर चाँद हो लग गए हैं। इनके पीछे रीतिकाल के कवियों की रचनाओं में पहुँच कर उस आदर्शवाद ने कामनियों के कुचकपोलकर्दम में कीलित होकर भौतिक सौंदर्य के उस चुभते हुए प्रतिरूप को हमारे सामने रखा है जो न चाहने पर भी हमारे मन में टीस और सीत्कार भर देता है और हमें किंचित् काल के लिए उद्दिष्ट पथ से विचलित सा कर देता है। इसके पश्चात् आधुनिक कवियों ने अपने परिवर्तित वातावरण में परिवर्तमान जीवन के जो प्रतिरूप उपस्थित किए हैं उनमें हम अपने सामने घटने वाली सभी भव्य तथा भौंडी बातों को खचित हुआ पाते हैं।

कवियों का कभी अन्त नहीं होता और सम्भव है हमारे आधुनिक कवियों में से ही कुछ कवि भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए कालिदास और कबीर सिद्ध हों और उनकी रचनाएँ हिन्दी जगत् में अमरता को प्राप्त कर लें। कवित्व का आदर्श और उसकी आवश्यकता तो आज ो वैसी ही बनी हुई है जैसी पहले युगों में थी और इस प्रकार की सभी विचार करने पर कविता का अनुशीलन मानवीय संस्कृति

त अंग बन जाता है और उस की कला का अभ्यास मानवीय
ता का एक मौलिक अवयव हो जाता है।

न् कवियों की वृत्ति (function) में सदा से भेद रहता आया
कि वे सभी, कवि होने के रूप में जीवन के आदर्श का निर्माण
अपनी रचना में ग्रथित करते हैं, उनके द्वारा उतारे गए जीवन
ादर्श कभी एक से नहीं उभरते; क्योंकि ये आदर्श जीवनपट पर
चलाने वाली उन वैयक्तिक प्रतिमाओं के निर्माण हैं जो जीवन के
दात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान होने के कारण, जीवन के ही समान
विशद तथा अत्यन्त विभिन्न बनी रहती हैं। इसीलिए सेंटयान ने
कि जीवन के व्याख्यान विभिन्न हैं, किन्तु आत्मा एक है। दो
ों के द्वारा किया गया किसी वस्तु का व्याख्यान कभी भी एक सा
ता और व्याख्येय सामग्री कभी भी दो कलाकारों के सम्मुख एक सी
नहीं आया करती। फलतः कविता का काम भी कभी पूरा नहीं हो
कविता है जीवन के आशय की समनुगत तथा अनंत सकलता
egration); और जब कि अतीतकालीन कविता हमारे लिए
नमोल पैतृक दाय है, वर्तमानकाल की कविता हमारे लिए सब से
ावश्यकता है। कुछ कवि निसर्गतः भविष्य के उद्बोधक हुए हैं तो
के लिए उनका ध्येय अतीत को उद्भावित करके उसे वर्तमान का
बनाना रहा है। कुछ ने वर्तमान पर आकर और सौंदर्य को मुद्रित
हुए हमारे समक्ष उन वस्तुओं अथवा तथ्यों के प्रतिरूप उपस्थित किए
हमारे अत्यंत समीप हैं। इस प्रकार कबीर का महत्त्व उसकी इस
र्शिता में है कि उसने अपने युग से आगे आने वाली बातों के प्रतिरूप
उपस्थित किए हैं; उसने अपनी सर्चलाइट से भविष्य के उन
र्भ को उद्भावित किया है, जो आज भी समधिरूपेण हमारे संमुख

नहीं आ पाया। दूसरे कवि कला की दृष्टि से उससे अधिक प्रवीण होने पर भी उतने ख्यातनामा न हो सके, क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय जीवन के उन निभृत कोनों को बनाया था, जहाँ हम कभी ही जाते हैं, अथवा जहाँ पहुँचने पर हमें पहाड़ खोदकर चूहा हाथ लगा करता है। सृष्टि की इस संकुल वेगवती धारा को और मनुष्यसमाज पर पड़ने वाले इसके प्रखर प्रभाव को पहचानना और उसे निरूपित करना कविता के अनुशीलन का एक भाग है और कविता की भी अपेक्षा यह है सभ्यता के अध्ययन का एक अंग। संसार को समग्ररूपेण पहचानने के साधनों में कविता प्रमुख है; संसार के साथ उचित व्यवहार करने, इसके मूल पर आधिपत्य स्थापित करने और इसकी अनवरत गति को वश में करने के संभारों में कविता सब से प्रधान है!

मानवीयता अथवा जीवन के मार्मिक अंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनुशीलन का—उस अनुशीलन का जो विचार, भावना तथा कल्पना में अनुस्यूत है—पर्यवसान कविता में है। और यहाँ यदि हम कविता पर, आधुनिक जीवन के साथ होने वाले इसके संबंध को ध्यान में रखते हुए विचार करें तो कुछ अप्रासंगिक न होगा। हमने अभी कहा था कि वर्तमान जगत् का प्रमुख लक्ष्य उसका परिवर्तन की भँवरों में फँसा रहना है। उन अनेक शक्तियों में से—जो समवेत होकर इसकी सचेष्टता में त्वरा उत्पन्न कर रही हैं—हमें दो एक को लेकर विचार करना होगा। ये शक्तियाँ, (उदाहरण के लिए) हैं विज्ञान की प्रधानता और व्यवसाय की संकुलता। आइए, अब इन दोनों के होने वाले कविता के संबंध को ध्यान में रखते हुए कविता और उसकी रुचि पर विचार करें।

कविता और विज्ञान

विज्ञान का जन्म आधुनिक युग में हुआ है और कुछ दिनों से इसके विकास में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। पिछली दो एक पीढ़ियों में विश्वविद्यालयों की उच्चश्रेणियों में इसका पठन पाठन आवश्यक बन गया है। जनता की मांगों को पूरा करने के लिए चारों ओर वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ खुल रही हैं। विज्ञान के अध्ययन का प्राचीन विश्वविद्यालयों में भी प्रवेश हो रहा है और नवीन विश्वविद्यालयों में तो शिक्षा का प्रमुख अंग ही विज्ञान बन गया है। विज्ञान के पृष्ठपोषक इतने पर ही संतुष्ट न हो इसके लिए इससे भी कहीं बड़ी माँगें पेश कर रहे हैं। उनका कहना है कि विज्ञान के शिक्षण का अभी उतना संतोषजनक प्रबन्ध नहीं हो पाता है जितना कि होना चाहिए, और उन विषयों को, जिनका महत्त्व विज्ञान के सम्मुख नहीं है और जिनको आधुनिक-युग में अपेक्षाकृत न्यून आवश्यकता है—आवश्यकता से कहीं अधिक महत्त्व दिया जा रहा है।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति में विज्ञान का प्रवेश

किसी अंश में इन मांगों की पूर्ति की जा चुकी है। वैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुसंधानों पर विपुल धनराशि व्यय की जा रही है। शिक्षण के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो चुका है। विद्यालय तथा महाविद्यालयों की पाठ-विधि में विज्ञान का पर्याप्त प्रवेश हो चुका है। भिन्न भिन्न विषयों के अध्ययन में निरीक्षण, प्रलेखन तथा परीक्षण के वैज्ञानिक ढंग स्वीकार किए जा रहे हैं और इस प्रकार शनैः शनैः विज्ञान मानवीय का एक बड़ा स्तंभ बन रहा है। किन्तु दुर्भाग्यवश उक्त परिवर्तनों

प्रवेश स्वागत के साथ न होकर वैमनस्य के साथ किया जा रहा है।
सी अंश तक विज्ञान के पृष्ठ-पोषकों की मांगों में कठोरता होने और दूसरे
शों में पुराण पाठावलि के पुजारियों की नवविद्वेषिता तथा रूढ़ि में बँधी
स्था के कारण दोनों दलों में एक संघर्ष सा उठ खड़ा हुआ है। लोग
चते हैं कि विज्ञान और कविता का वैमुख्य मौलिक है। दोनों ही पक्षों ने
नवीय ज्ञान के साकल्य और उसकी विभिन्न विधाओं में दीख पड़ने वाली
रस्परिक सहकारिता को भुला रखा है। इस वादविवाद में एक ओर खड़े
व्यवस्थित लाभ (vested interests), पुराण रूढ़ियाँ और असूया तथा
यों के भाव जो रूढ़िविशेष में पले हुए तथा जीवन के प्रतिरूपविशेष में धसे
ए मनुष्यों के मन में स्वभावतः एक नवीन वस्तु के विरुद्ध उत्पन्न हो जाय
रते हैं। इसके दूसरी ओर हैं उक्त व्यवस्थित लाभों और रूढ़ियों के विरुद्ध
ड़ी होने वाली क्रांति, नवविद्वेषिता से उत्पन्न होने वाली प्रवाहहीनता का
याख्यान, और जीवन की नवीन आवश्यकताओं तथा उनको पूरा करने के
धनों की बलपूर्वक पुष्टि। किंतु विज्ञान और ललित कलाओं—और
शेषतः कविता के मध्य होने वाला यह द्वंद्व मानवसमाज के लिए भयावह
। राष्ट्र के सर्वाङ्गीण जीवन की व्याख्या के लिए विज्ञान और कविता दोनों
की समान रूप से आवश्यकता है। यदि विज्ञान में राष्ट्र का भौतिक रूप
चित है तो कविता में उसका आत्मा तरंगित होता है। यदि नियतियची
चंगुल में फँस क्षतविक्षत हुए मानवसमाज को विज्ञान अपनी मरहमपट्टी
स्वस्थ बनाता है तो कविताकामिनी उसे अपनी कलित काकलि सुना
सके मन में आशामय जीवन का संचार करती है। जीवन के लिए दोनों ही
समान रूप से आवश्यकता है और दोनों ही जीवनपुष्प के सर्वाङ्गीण
स्फुटन में एक दूसरे के सहायक हैं। इसलिए राष्ट्रीय शिक्षापद्धति में दोनों
सामंजस्य में ही राष्ट्र का कल्याण है।

कविता और विज्ञान

विज्ञान का जन्म आधुनिक युग में हुआ है और कुछ दिनों में इसने विकास में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। पिछली दो एक पीढ़ियों में विश्व-विद्यालयों की उच्चश्रेणियों में इसका पठन पाठन आवश्यक बन गया है। जनता की मांगों को पूरा करने के लिए चारों ओर वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ खुल रही हैं। विज्ञान के अध्ययन का प्राचीन विश्वविद्यालयों में भी प्रवेश हो रहा है और नवीन विश्वविद्यालयों में तो शिक्षा का प्रमुख अंग ही विज्ञान बन गया है। विज्ञान के पृष्ठपोषक इतने पर ही संतुष्ट न हो इसके लिए इससे भी कहीं बड़ी मांगें पेश कर रहे हैं। उनका कहना है विज्ञान के शिक्षण का अभी उतना संतोषजनक नहीं जितना कि होना चाहिए, और उन विषयों को, जिनका सम्मुख नहीं है और जिनको आधुनिक युग में है—आवश्यकता से कहीं अधिक महत्त्व दिया जा रहा

किसी अंश में इन मांगों की पूर्ति की जा चुकी तथा अनुसंधानों पर विपुल

वर्तमान शिक्षा-पद्धति में विज्ञान का प्रवेश

शिक्षण के दृष्टिकोण में विद्यालय पर्याप्त प्रवेश हो चुका है में निरीक्षण, प्रलेखन स्वीकार किए जा रहे हैं और इस संस्कृति का एक बड़ा स्तंभ

यदि हम इस दृष्टि से इतिहास का अनुशीलन करें तो हमें ऐसे उदाहरण यूरोप में मिलेंगे, जहाँ विज्ञान और कविता दोनों ने साथ मिलकर जीवन की व्याख्या की है। प्राचीन ग्रीस ने विज्ञान को जन्म दिया था और साथ ही कवित्वकला का विकास भी उसी देश में हुआ था। एथेनियन कविता की उत्पत्ति— जो आज तक शिक्षित समाज की हृत्स्थलियों को अपनी पीयूषवर्षा से अनुप्राणित करती आई है— उस युग में हुई थी, जब कि ग्रीस में विज्ञान का, अर्थात् वस्तुजगत् के आशय तथा उसके पारस्परिक संबंध को ढूँढ निकालने की इच्छा का सूत्रपात हो रहा था। इसमें संदेह नहीं कि उस समय भौतिक विज्ञान अपने शैशव में ही था, किंतु उसके मूल में काम करने वाली गवेषणी बुद्धि को पर्याप्त प्रगति मिल चुकी थी और भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण तो भली भाँति प्रस्फुट भी हो चुका था।

अतीत इतिहास में कविता और विज्ञान का साहचर्य

जिस प्रकार ग्रीस में उसी प्रकार रोम में भी लुक्रेशस का विश्वजनीन कविता का जन्म—जिसमें पहलेपहल लैटिन कविता ने अपना परिपूर्ण सौंदर्य लाभ किया था—एपिक्यूर के विज्ञान से हुआ था; और एपिक्यूर के दर्शन में न केवल चरित्र की मीमांसा की गई थी, अपितु उसमें प्रकृति के नियमों को निर्धारित करने और भौतिक जगत् के निर्माण तथा उसकी प्रगति के वैज्ञानिक सिद्धांतों की खोज निकालने का भी बहुत ही स्तुत्य प्रयत्न किया गया था। लुक्रेशस ने विज्ञान के प्रति उत्पन्न हुई अपनी इस उत्कट उमंग को अपनी कवित्वकला का आदर्श बनाया था। वर्जिल ने अपने उस प्रख्यात संदर्भ में—जिसमें आपने जीवन का आदर्श संगुम्फित किया है—मेधा की अधिष्ठात्री देवी से इस बात की भिक्षा इतनी नहीं माँगी कि वह उसे कविजगत् के अंतरंग में निहित हुए सौंदर्य का अथवा

यदि हम इस दृष्टि से इतिहास का अनुशीलन करें तो हमें ऐसे उदाहरण यूरोप में मिलेंगे, जहाँ विज्ञान और कविता दोनों ने साथ मिलकर जीवन की व्याख्या की है। प्राचीन ग्रीस ने विज्ञान को जन्म दिया था और साथ ही कवित्वकला का विकास भी उसी देश में हुआ था। एथेनियन कविता की उत्पत्ति— जो आज तक शिक्षित समाज की हृत्स्थलियों को अपनी पीयूषवर्षा से अनुप्राणित करती आई है— उस युग में हुई थी, जब कि ग्रीस में विज्ञान का, अर्थात् वस्तुजगत् के आशय तथा उसके पारस्परिक संबंध को ढूँढ निकालने की इच्छा का सूत्रपात हो रहा था। इसमें संदेह नहीं कि उस समय भौतिक विज्ञान अपने शैशव में ही था, किंतु उसके मूल में काम करने वाली गवेषणी बुद्धि को पर्याप्त प्रगति मिल चुकी थी और भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण तो भली भाँति प्रस्फुट भी हो चुका था।

अतीत इतिहास में कविता और विज्ञान का साहचर्य

जिस प्रकार ग्रीस में उसी प्रकार रोम में भी लुक्रेशस की विश्वजनीन कविता का जन्म—जिसमें पहलेपहल लैटिन कविता ने अपना परिपूर्ण सौंदर्य लाभ किया था—एपिक्यूर के विज्ञान से हुआ था; और एपिक्यूर के दर्शन में न केवल चरित्र की मीमांसा की गई थी, अपितु उसमें प्रकृति के नियमों को निर्धारित करने और भौतिक जगत् के निर्माण तथा उसकी प्रगति के वैज्ञानिक सिद्धांतों की खोज निकालने का भी बहुत ही स्तुत्य प्रयत्न किया गया था। लुक्रेशस ने विज्ञान के प्रति उत्पन्न हुई अपनी इस उत्कट उमंग को अपनी कवित्वकला का आदर्श बनाया था। वर्जिल ने अपने उस प्रख्यात संदर्भ में—जिसमें अपने जीवन का आदर्श संपुटित किया है—मेधा की अधिष्ठात्री देवी से इस बात की भिक्षा इतनी नहीं माँगी कि वह उसे कविजगत् के अंतरंग में निहित हुए सौंदर्य का अथवा

अपने देश, नदी, जंगल तथा ग्राम्य प्रदेशों का पुजारी बनावे जितनी कि इस बात की कि वह उस भौतिक जगत् के उपादान का तथा विश्व के विन्यास और उसके नियमों का चितेरा बनावे। कविता के उस पार और उसकी अंतस्तली में विज्ञान का आश्चर्यकारी प्रकाश निहित है और एकमात्र विज्ञान की मीमांसा से ही मनुष्य अपनी दैविकदाय का भोगी बनता हुआ, नियतियन्त्री पर अधिकार पाकर भय से स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।

नवजनन के युग में भी विज्ञान और कविता साथ मिलकर चलते दिखाई दिये हैं। मिल्टन—जिसमें कि इंगलिश कविता सर्वात्मना प्रस्फुटित हुई थी और जिसमें कवित्वकला ने पराकोटि का परिष्कार पाया था—संगीत और ज्योतिष विज्ञान का व्युत्पन्न पंडित था। उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उसकी कविता के कलेवर पर जगह जगह सर्चलाइट फेंक कर उसे अनोखे रूप से जगमगा दिया है। अपने पैरेडाइज़ लास्ट में उसने केवल एक ही व्यक्ति का नाम लिया है, और वह व्यक्ति अर्थात् गैलिलेओ साहित्यसेवी न होकर भौतिक विद्या तथा ज्योतिष शास्त्र का विदग्ध पंडित था। यदि कहीं मिल्टन अपने काल से दो सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए होते तो हमें निश्चय है कि वे अपनी रचना में डार्विन का नाम संमिलित करके उसे और भी अधिक सुशोभित करना पसन्द करते।

कविता और विज्ञान का सामंजस्य : भारत में

जिस प्रकार यूरोप में इसी प्रकार प्राचीन भारत में भी हमें विज्ञान और कविता का सामंजस्य स्थापित हुआ दृष्टिगत होता है; और यह निश्चय है कि प्रातःकाल के समय, उषारानी की सुनहरी पिचकारी से निकल विश्वव्यापी नीलाम्बर पट पर पड़ने वाले विविध रंगों को अपनी जीवनमयी तूलिका से चाँदकर विश्व के स्फूर्तिमय आत्मा को कीलित करने वाला

वैदिक ऋषि यदि पहुँचा हुआ कवि था, तो वह साथ ही उन सब विभूतियों के स्रोत को, उनके मूल में निहित हुए आत्मतत्त्व को खोज निकालने के कारण यथार्थ वैज्ञानिक भी था। महाकवि भास, अश्वघोष, कालिदास तथा भवभूति की रचनाओं में जहाँ हमें बहुमुख जीवन के नानाविध प्रतिरूप उभरे हुए दीख पड़ते हैं वहाँ हमें उन की कृतियों में भाषाविज्ञान आदि की भी अनेक पहेलियाँ विवृत हुई दीख पड़ती हैं। और यदि गोसाईं तुलसीदास की कविता में विश्वमुखी जीवन के अमर तत्त्वों की अमर उत्थानिका संपन्न हुई है तो उनके रचे हुए मानस में आत्मज्ञान की भी अनुपम छटा संपन्न हो आई है। और कौन कहेगा कि जीवन के सरल तथा उदात्त तत्त्वों को टूटे फूटे छंदों तथा शब्दों में मुखराने वाले कबीर के उत्तान उपदेश में हमें स्वयं विश्वात्मा के उच्छ्वासन की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती और किस की कल्पना में यह बात कभी आई है कि अंधराज सूरदास की, निर्दय प्रेमी श्रीकृष्ण द्वारा मधुवन को ब्रजबालाओं पर की गई मीठी सक्तियों को, और उनके द्वारा टीस में मिठास और मिठास में टीस को उद्भावित करने वाली कविता में सच्ची, पते की; हृदय से निकली हुई आत्मिक कार्काल, मानसिक कूक और ऐंद्रिय कसक नहीं निहित है। आधुनिक काल में भी हम कविवर रवींद्र की रचनाओं में कविता तथा विज्ञान का अभिलषित सामञ्जस्य स्थापित हुआ देखते हैं और इस सामंजस्य के विन्यास में ही कवित्वकला का वास्तविक परमोत्कर्ष है।

आधुनिक युग में जहाँ विज्ञान का प्रचुर प्रसार हुआ है वहाँ कविता में भी तदनुसारिणी विविधता आ गई है। इँगलैण्ड के महाकवि शैली तथा फ्रांस और जर्मनी के आधुनिक कवियों ने उसी त्वरा और आधिक्य के साथ इस बात का संमुख्य किया है और दोनों के सामञ्जस्य में प्रवीणता

प्राप्त की है। भारत में भी विज्ञान अथवा
क्षेत्र में सीमित होकर दूसरे के क्षेत्र को न
सिद्धान्तों से बचते हुए हमें जीवन को उसके
चाहिये और हमारे कवियों को वैज्ञानिकों
के नव नव प्रतिरूपों की नव नव सृष्टि कर
करना सीखना चाहिए।

हमने कहा था कि विज्ञान से कविता को
होती है। इसके द्वारा वस्तु
कविता और वाला कवि का संबंध घनतर हो
विज्ञान के सार्म- वाणी में ऊहापोहिनी बुद्धि के
सत्य का परिणाम वाली सचेष्टता आ जाती है।

विज्ञान को कविता से प्राप्त होता
अत्यधिक महत्त्वशाली है। इसी तत्त्व को फ्रांसीसी
अथवा प्रक्षेप (elan vital) के नाम से पुकारते हैं।
मनोवेगों और उसकी कल्पनाओं में उत्तेजना तथा संच
है। मनोवेगों के अभाव में विज्ञान तथ्यों का एक
अभाव में क्रियात्मक विज्ञान एक अर्थेनु माया है।
यथार्थरूप में कल्पना को भौतिक द्रव्यों के साथ जोड़ देन
वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रकाशन कविता के कल्पनामय ग
इहकालीन वैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रकाशन में हम उत्पादक
जिसका आधार है कविजगत् की सार-भूत कल्पनाशक्ति—
रीक्षणों द्वारा प्राप्त किए गए अमित तथ्यों के साथ
गैर इस अंतर्दृष्टि को

और योग्यता के अनुसार कवियों की प्रतिभा में भाग लेने वाले बन जाते और हमारी उपपादक कल्पनाशक्ति विकसित हो उठती है।

इस दृष्टि से यूरोप तथा भारत का प्रातीप्य

इस प्रकार जिन देशों के कवियों तथा वैज्ञानिकों ने कवित्व तथा विज्ञान के इस भव्य सामंजस्य को अपने देशों में स्थापित किया है, उन देशों में हमें नित्य नव-नव आविष्कारों, तत्त्वानुसंधानों तथा साहित्यों के दर्शन होते हैं। क्या वैज्ञानिक, क्या अनुसंधायक, और क्या कवि, उन देशों में सभी की दृष्टि बहुमुखी होती है और सभी का जीवन विज्ञान और प्रतिभा के विविध दीपों से प्रदीप्त हुआ रहता है। इसके विपरीत हमें अपने देश में प्रतिकूल ही परिस्थिति दीख पड़ती है। हमारे वैज्ञानिक कोरे वैज्ञानिक हैं; हमारे तत्त्वानुसंधायक असंयत तथा परानुगामी हैं; और हमारे कवि ओछे घड़े और आवश्यकता से अधिक वाचाल हैं। तीनों में से किसी के भाग्य में भी नवोन्मेषिणी बुद्धि नहीं, कल्पना और संयम की उचित उठबैठ नहीं, जिसका परिणाम है हमारा भौतिक और साहित्यिक दोनों ही प्रकार का अकिंचनपन। हमने भौतिक क्षेत्र में आजतक किसी नवीन तत्त्व का आविष्कार नहीं किया, हमारे कवियों में एक या दो को छोड़ किसी ने भी हमें विश्वजनीन कविता की काकलि नहीं सुनाई। फलतः हम सब प्रकार से शक्तिसंपन्न होने पर भी किसी विधेयात्मक क्षेत्र में सफल नहीं हो सके; और हमारे नवयुवक अपने शक्तिभंडार को या तो उन्माद और आलस्य की मरुभूमि में फेंक देते हैं अथवा पारस्परिक कलह तथा अन्य प्रकार की घातक प्रणालिकाओं में बहा देते हैं।

इस अत्यंत भयावह परिस्थिति को सुधारने के लिए हमें अपने दृष्टिकोण को बहुमुखी तथा व्यापक बनाना होगा; हमारे वैज्ञानिकों

को कवित्वकला की पूजा करके अपनी मेधा को नवनवोन्मे
बनाना होगा; हमारे कवियों को विज्ञान की प्रयोग-शालाओं में
अपनी प्रतिभा को यथार्थ की, सच्चे जीवन की, नवागत स्फूर्ति
चेरी बनाना होगा; हमारे तत्त्वानुसंधायकों को विज्ञान और कविता
दोनों ही से सहायता लेकर अपने मस्तिष्क को व्यापक तथा उर्व
बनाना होगा: और इस प्रकार कविता तथा विज्ञान के इस चार
समन्वय से हमारे देश और साहित्य में उस अमरता की संसृ
बन पड़ेगी जिसके हमें कभी वैदिककाल, अशोकयुग तथा गुप्तसाम्रा
में दर्शन हुए थे।

कविता और व्यवसाय

जनता में कतिपय व्यक्ति ही विज्ञान की सेवा में अपने जीवन को अर्प
करते हैं और एकमात्र कवित्वकला को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने व
भावुक व्यक्ति भी कतिपय ही हुआ करते हैं। किंतु उद्योग और व्यापार तो ह
सब के लिए समान हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हम सब का जीवन
व्यवसाय पर निर्भर है और हम में से सभी थोड़े बहुत इसमें लगे भी रहते
हैं। जब हम किसी देश या जाति को वैज्ञानिक बताते हैं तब हमारा अभि
प्राय यह होता है कि उस जाति या देश के कतिपय व्यक्ति विज्ञान के
अध्ययन में उचित प्रकार से रत रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने अपने आवि
ष्कारों और अनुसंधानों को लेखबद्ध करते और उसके द्वारा अपने अनुसंधानों
... उनसे उत्पन्न हुए उत्साह और साहस को अपने देशवासियों तक
...ाते हैं; जिसका परिणाम यह होता है कि परंपरया उस जाति तथा रा
...वन में एक प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सूत्रपात हो जाता है। इसी

प्रकार एक साहित्यिक अथवा कलाप्रिय देश से हमारा अभिप्राय उस देश से है जिसके कतिपय व्यक्ति साहित्य तथा अन्य कलाओं की सेवा में दीक्षित हो अतीत काल के साहित्य तथा कलाओं को वीचीतरंगन्याय द्वारा देश के बहुसंख्यक मनुष्यों तक पहुँचाते हों। किंतु एक व्यावसायिक जाति अथवा व्यावसायिक देश से हमारा अभिप्राय उस जाति अथवा उस देश से है, जिसके कतिपय व्यक्तियों को छोड़ शेष सभी व्यक्ति व्यवसाय में निरत रहते हों और जिनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य व्यवसाय ही का प्रसार करना हो।

यूरोप और अमेरिका व्यावसायिक हैं

हमारी दृष्टि में यूरोप एक व्यवसायप्रधान भूखंड है। वहाँ हमें व्यवसाय और उससे उत्पन्न हुई उग्र अघोरता जीवन के मधुमय मर्मों को आघात पहुँचाती दृष्टिगोचर होती है। वहाँ व्यवसाय ने विज्ञान को अपना चेट बना उससे उन उन यंत्रों का आविर्भाव कराया है, जिन्होंने मनुष्य के मौलिक महत्त्व को धूलिसात् कर दिया है। इन यंत्रों की सततोत्थायिनी बेसुरी ध्वनि से मानव हृत्तंत्री के उन रागों को लुप्त कर दिया है, जो जीवन में मधुमयी आशा का संचार करते हुए हमारी आत्मा को इस मिट्टी के ढेर में फँसे रहने पर भी जीने के लिए लालायित किया करते हैं।

अमेरिका में तो यंत्रों की इस बेसुरी धाँय-धाँय ने इससे भी कहीं अधिक उग्र रूप धारण किया हुआ है। वहाँ के नरसमाज ने तो प्रजातंत्र राज्य की स्थापना के पश्चात् व्यवसाय को अपने जीवन का एक प्रकार से लक्ष्य ही बना लिया है। अमेरिका की सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार ही वहाँ के व्यवसाय की निराली परिस्थिति है। धन और जन की प्रतिदिन बढ़ने वाली संख्या ने व्यवसाय की वृद्धि में दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति ला दी है। मध्य तथा पाश्चात्य स्टेटों की ओर जाति के अग्रसर होने के उपरांत वहाँ के उद्योग धंधों में एक प्रकार की प्रचंडता आ गई है। और

इस प्रचंडता को, क्रियात्मक विज्ञान के द्वारा प्रकृति पर प्राप्त की गई विजय ने पहले से भी द्विगुणित कर दिया है। सिविल युद्ध के पश्चात् एकीभूत होने पर उस देश की जनता ने भौतिक विकास को उन्नति के उस उत्तुंग शिखर पर पहुँचाया जो उसने इतिहास में आज तक नहीं देखा था। व्यवसाय के इस विवृतमुख दानव ने राष्ट्रीय जीवन के अन्य सभी पहलुओं को अपनी परछाईं में दबा रखा है।

किंतु जिस प्रकार अन्य देशों में उसी प्रकार अमेरिका में भी व्यवसाय के प्रति उत्पन्न हुई इस प्रवृत्ति के कुपरिणाम जनता को दीखने लगे हैं और वहाँ के निवासी शनैः शनैः शांत जीवन की रम्यस्थलियों को ढूँढने में अग्रसर भी होने लगे हैं।

कविता और व्यापार का सामंजस्य

कविता और व्यापार देखने में एक दूसरे के प्रतीपी हैं। व्यापार के प्रकार कला की साधना से भिन्न-प्रकार के होते हैं। व्यापारी पुरुष की दृष्टि में कविता एक हेय वस्तु नहीं तो उपेक्षणीय धंधा अवश्य है और यही बात एक कवि कहा करता है व्यापारी पुरुष के विषय में। किंतु यदि कविता और व्यवसाय समानरूप से जीवन के लिए आवश्यक हैं तो सभ्यता और संस्कृति को उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करना चाहिए और उनकी कृति इस प्रकार करनी चाहिए कि दोनों एक दूसरे के विरोधी न रह एक दूसरे के सहकारी बन जाँय; क्योंकि जहाँ एक ओर कवि के लिए उत्पादन और व्यवसाय के सब उपकरणों का प्रत्याख्यान करना जीवन से हाथ धो बैठना है वहाँ दूसरी ओर व्यवसायी के लिए कवित्व को विदा कर देना जीते जी मर[illegible] है। क्योंकि व्यवसाय जीवन का एक साधनमात्र है, यह उसका ध्येय [illegible]। कवित्व की कूची से मुद्रित न होने पर हमारा जीवनफलक "[illegible]-[illegible]" न बन कर लकड़ी का एक फट्टामात्र रह जाता है।

कतिपय व्यवसायियों की दृष्टि में—विशेषतः अमेरिका में—व्यवसाय एक पेशा न रह कर महत्त्वशाली कला बन गई है जिसके मूल और सतत अभ्यास में उत्पादक शक्ति संनिहित है। सहज व्यवसायी का उद्योग धंधे के प्रति एक प्रकार का प्रेम हो जाता है; और इस प्रेम को हम आदर्श प्रेम का रूपांतर कह सकते हैं। यह प्रेम कवित्व के क्षेत्र में विकसित न हो कर व्यवसाय के क्षेत्र में परिसीमित हो जाता है। यदि व्यवसाय में इस प्रेम की पुट न हो तो वह अधेनु माया बन जाता है और व्यवसायी का जीवन सब प्रकार से फूलाफला होने पर भी धूलिमय रह जाता है। अंधे व्यवसाय से संसार का चक्र तो चलता रहता है, जीवन-घटीयंत्र की यह माल भी घूमती रहती है, *किंतु किस लिए? स्वयं व्यवसाय के अंत के लिए; उसके मौतिक तंतुओं को* तितर बितर करने के लिए। अंधा व्यवसाय शरीर और प्राणों को जोड़े रखता है; मतिहीन उद्योगधंधे समाज में एक सरणि उत्पन्न करते हैं, किन्तु किस लिए? भौतिक अस्थिपंजर के पिंजरे में बंद हुए आत्मकीर को तरसने के लिए; उसके स्वातंत्र्य को नष्ट कर उसे रह रह कर दुखी करने के लिए। मतिहीन व्यवसाय की भित्ति पर उभरे हुए सामाजिक चित्र में समता की भावना कैसे आ सकती है? उसमें समवेदना तथा सहानुभूति का संचार कैसे हो सकता है? स्मरण रहे, मनुष्य की उत्पत्ति व्यवसाय की सेवा के लिए न हुई थी। ऋषियों ने उद्योगधंधों की पूजा के लिए मनुष्य के मौलिक अधिकारों तथा स्वत्वों की घोषणा नहीं की थी। व्यवसाय की दासता राज-नीतिक दासता से परतर है। पिछली में आत्मा नष्ट हो जाता है तो पहला में वह रह रह कर, ससक ससक कर प्राण दिया करता है। व्यवसाय की इस आत्महीनता को दूर करने के लिए उसमें कविता की पुट देना आवं[illegible] है। उद्योग की इस नीरसता को दूर करने के लिए उसमें [illegible] प्रवाहित करना वांछनीय है। व्यावसायिक जगत् के

भीतर पाए जाने वाले रूप, व्यापार, तथा परिस्थितियाँ अनेक धार्मिक तथ्यों की व्यंजना करती हैं। जहाँ कवि की कल्पना भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ इत्यादि की रूपगति में सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता और भव्यता आदि का उत्थापन करती है, वहाँ वह व्यावसायिक जगत् में अनिवार्यरूप से होने वाली विविध घटनाओं और परिस्थितियों में भी—जिन्हें हम प्रतिक्षण अपनी आँखों के समक्ष पाते हैं—एक अपरिचित किंतु आत्मिक सत्य या—जिसे हम दूसरे शब्दों में शिव और सुंदर के नाम से पुकारते हैं—उद्‌भावन कर सकती है।

व्यवसाय के दो पक्ष हैं एक उत्पत्ति और दूसरा संघटन। व्यवसाय को कला के उच्च पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिए आवश्यक है कि इसे आनन्द अथवा रसोत्पत्ति का साधन बनाया जाय। क्योंकि कला का लक्षण ही यह है कि इसमें उत्पत्ति का ध्येय आनन्द के साथ निर्माण किया जाना है। उत्पादन में प्राप्त होने वाले आनन्द की उत्पत्ति उत्पादक के मन में निहित हुए उत्पत्ति के प्रतिरूपों से होती है। इसी प्रकार संघटन में होने वाले आनन्द की प्राप्ति संघटयिता के मन में निहित हुए संघटनीय के प्रतिरूपों से होती है और इन दोनों प्रकार के प्रतिरूपों को जीवनसमष्टि के प्रतिरूप बनाकर उत्पादक तथा घटयिता के मन में प्रस्तुत करना कविता का काम है। कविता से अन्वित हुए प्रतिरूपों के उत्पादन और संघटन से व्यावसायिक समाज का कार्यक्षेत्र उर्वर हो जाता है और उनके जीवन में एक प्रकार की रसवत्ता आ जाती है। व्यावसायिक क्षेत्र में कवित्व-रस के प्रवाहित हो जाने पर जातीय जीवन भौतिकता के निम्न तल से उठ कर आत्मिकता के व्यासपीठ पर पहुँच जाता है। और हमें तथा हमारे श्रमजीवी कर्मचारियों को घरघराने वाली मशीनों की बेसुरी घाँयघाँय में जीवनसमष्टि के उस राग की उपलब्धि होने लगती है जो बाह्य जगत्

में ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकने वाले अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्र और उच्छृंखल बन कर तथा बिजली की कंपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीषण बन कर हमारे कानों में पड़ा करता है। राष्ट्रीय कवियों का प्रमुख कर्तव्य है व्यवसाय की जनसाधारण परिस्थितियों तथा वस्तुओं में से जीवन की असाधारण रसमयी प्रतिमूर्तियाँ खड़ी करके श्रांत हुए राष्ट्र को फिर से जीवन की सुधा द्वारा अनुप्राणित करना; क्लेश और अशांति की मरुभूमि में भी उसके संमुख आशा के सुन्दर सोते बहाना। और किसी राष्ट्र की कला के साफल्य अथवा असाफल्य का निर्णय व्यवसाय के वर्तमान युग में इसी बात से होना अवश्यंभावी है।

गद्य काव्य—उपन्यास

पद्य तथा गद्य: पद्य में आवृत्ति होती है

पद्य तथा गद्य का प्रमुख भेद उनकी विशेष प्रकार की तालान्वितता मे है। कविता का लक्षण करते हुए हमने बताया था कि पद्य एक आदर्श (Pattern) है, जो कवि की योग्यता के अनुरूप उसकी रचना की प्रत्येक पंक्ति मे आवृत्त होता है। इस आदर्श का अवयव एक चरण है; और पद्य के सभी भेदों तथा उपभेदों में उसके आधार मूत इस अवयव की आवृत्ति होना आवश्यक है। यदि पद्य मे चरण खंडित हो जाय अथवा इसके रूप में किसी प्रकार की गड़बड़ पड़ जाय तो पद्य भी खण्डित हो जाता है। पद्य शब्द की व्युत्पत्ति से ही कविता के इस आवृत्त और पुनरावृत्त होने वाले तत्त्व का आभास हो जाता है, जब कि गद्य शब्द की व्युत्पत्ति ही से इस बात की अभिव्यक्ति हो जाती है कि

गद्य का संस्थान असंघटित होता है, उसमें आदर्श (पुनरावृत्ति) का अभाव होता है और उसका शब्दविन्यास सीधा चलने वाला होता है। आवृत्ति के इस आदर्श को उद्भावित करने पर ही कवित्वकला की सफलता या असफलता निर्भर है। किंतु यदि कवि ने एक मात्र आवृत्ति के इस तत्त्व पर ही अधिकार प्राप्त किया है और कविता के अन्य उपकरणों से वह हीन है तो हम उसे कोरा "तुक बंधक" कहेंगे। इसके विपरीत यदि वह अपने आदर्श को किसी प्रकार से खण्डित न करते हुए उसमें अभिलषित विविधता ला सकता है तो समझो उसने कवित्वकला की एक बड़ी सूक्ष्मता पर अधिकार प्राप्त कर लिया है।

ताल गद्य में भी है, किंतु उसमें स्मरण रहे, आवृत्ति नहीं होती

यह ताल गद्य में भी है, किन्तु ठीक उसी सीमा तक, जहाँ तक कि एक व्यक्ति, वाक्य के अवयवविशेषों पर बल-विशेष दिए बिना उनका उच्चारण नहीं कर सकता। किन्तु गद्य के इस लय में आवृत्ति का तत्त्व नहीं रहता। हो सकता है कि एक गद्यसंदर्भ के अंतस् में भी अतुकांत अथवा स्वच्छन्द कविता का कोई टुकड़ा आ जाय, किन्तु इस टुकड़े का वहाँ होना सहृदय पाठकों को अखरता है, और इससे गद्य के सौंदर्य को ठेस पहुँचती है।

पद्य का स्रोत : चराचर जगत् की देवाधिष्ठितता

कहना न होगा कि मनुष्य, इससे पहले कि वह विश्वजनीन तत्त्वों पर विचार करे, काल्पनिक विचारों में मस्त होना सीखता है; इससे पहले कि वह निर्धारणात्मक शक्ति से काम ले, अपनी अनिश्चयात्मक तथा उखड़ी-पुखड़ी मनोवृत्ति को काम में लाता है; इससे पहले कि वह व्यक्त वाणी बोले गुनगुनाना सीखता है; गद्य में बोलने ...में गाना सीखता है; इससे पहले कि वह पारिभाषिक

शब्दों का उपयोग करे श्रौपचारिक शब्दों से काम चलाता है। इन श्रौपचारिक शब्दों का उपयोग उसके लिए इतना ही स्वाभाविक है, जितना हमारे लिए उन शब्दों का, जिन्हें हम स्वाभाविक श्रथवा प्राकृतिक कहते हैं। श्रविकसित मनुष्य के जगत् में सब से पहली बुद्धिरेखा कविता के रूप में उद्भूत हुई थी; यह कविता श्राजकल की नाईं विश्लेषण तथा संश्लेषणात्मक प्रक्रियाश्रों पर निर्भर न हो कर केवल उसकी श्रपनी कल्पना तथा श्रनुभवशीलता में उद्गत हुई था। सृष्टि के श्रादिम पुरुषों की श्राध्यात्मिकता ही उस कविता का स्रोत थी; श्रौर हम जानते हैं कि कविता का जन्म चराचर जगत् का व्याख्यान करने की इच्छा में हुश्रा है। लोग कहते हैं कि श्रावश्यकता श्राविष्कार की जननी है, श्रौर श्राविष्कार का ही दूसरा नाम कल्पना श्रथवा प्रतिभा है। कल्पना ज्ञान का प्रतिनिधि है। इससे पहले कि मनुष्य में विश्लेषणात्मक ज्ञान का विकास हुश्रा, मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा से उत्पन्न होने वाले इस प्रश्न का कि यह सब क्या है श्रौर कहाँ से श्राया है उत्तर एकमात्र उसकी श्रपनी कल्पना में प्राप्त हुश्रा था। स्वभावतः पुरुष की श्रादिम कविता दैविक थी, क्योंकि उस समय जो कुछ भी इस श्रादिम पुरुष को श्रपनी कल्पना से बाहर दीखता था, वही उस के लिए दैविक श्रर्थात् देवाधिष्ठित बन जाता था; श्रौर इन कल्पित देवीदेवताश्रों पर उसने श्रपनी मानवीय कल्पना का मुलम्मा चढ़ा कर उन्हें कुछ श्रनिर्वचनीय से रूप में देखा था। श्राज भी हमें बच्चों के मानसिक विकास में यही बात देख पड़ती है। उनका जगत् उनकी कल्पनाश्रों पर खड़ा होता है; उसे भी हम एक प्रकार की कविता ही कह सकते हैं। सृष्टि के इन श्रादिम पुरुषों को ही, जिन्होंने श्रपनी कल्पना से उन देवीदेवताश्रों की उद्भावना की थी, हम कवि कहते हैं; श्रौर ग्रीक भाषा में कवि (Poet) शब्द का श्रर्थ ही निर्माता

है। और क्योंकि ये लोग स्वयं रचनामय भगवान् के प्रथम उच्छ्वास थे, इस लिए इनकी रचना में इन तीन तत्त्वों का, अर्थात् उदात्तता, जनप्रियता और रागात्मकता का पाया जाना स्वाभाविक था, और यही तीन तत्त्व आज भी कविता के सर्वश्रेष्ठ निर्णायक तत्त्व हैं।

यह बात स्पष्ट है कि आदिम पुरुष का रागात्मक प्रकाशन, रागमय होने के कारण संगीतमय था; उसमें एक प्रकार की ताल उत्पन्न हो गई थी; उन में आवृत्ति का अंश विद्यमान था, जिसके कारण वह सहज ही स्मृतिरूप पर आरूढ़ हो जाता था। मनुष्य अपने रागमय हृदय की व्यक्ति के लिए तब से लेकर आज तक इसी आवृत्तिमय, तालान्वित कविता का आश्रय लेता आया है। और क्योंकि धर्म भी कविता के समान कल्पना से ही प्रसूत है, इसलिए रागमय होने के कारण उसकी व्यक्ति भी प्रारंभ से लेकर आज तक कविता ही के रूप में होती आई है। इस प्रकार आदिम पुरुष के रागात्मक व्याख्यान में हमें राग, ताल तथा कल्पना से उत्पन्न हुए देवी-देवताओं और उनके द्वारा स्थापित किए गए धर्म आदि का अत्यन्त ही मधुमय संमिश्रण उपलब्ध होता है।

सभ्यता के विकास ने आदिम पुरुष का कल्पनामय परि- वेश नष्ट किया

किंतु सभ्यता और संस्कृति के आनुक्रमिक विकास ने मनुष्य के आदिम भावों को ठेस पहुँचा, उसे कल्पना की उच्च परिधि से उतार, शनैः शनैः यथार्थता की कठोर, और इसी लिए नीरस आधिभौतिक परिधि में ला खड़ा किया है। उसने उसे "अपने अंतस्" से निकाल कर "अपने टकराओं के मध्य" में ला पटका है। अब वह कल्पना के लड़ाओं में न उसका स्थूल जगत् की मूर्तियाँ पड़ता है; कल्पना से बने ..देवताओं को न पूज यथार्थता में उभरे हुए बंधन को काटे जाता है;

देवीदेवताओं द्वारा समर्थ किये गये धर्म की गौरवगाथा न गा कंचन को संपन्न और सुरक्षित करने वाले राजनीतिक नियमों के गुण गाता है; आत्मा के स्वच्छंद प्रवाहस्वरूप आदर्शवाद को छोड़ भौतिक जगत् के पोषक तथा विश्लेषक विज्ञान की परिचर्या करता है। फलतः जिस प्रकार आदिम पुरुष के कल्पनामय जीवन का यागात्मक प्रकाशन पद्यरूप कविता में हुआ था, इसी प्रकार आधुनिक पुरुष के यथार्थ जीवन का यागात्मक प्रकाशन गद्य रूप उपन्यास तथा व्याख्यान आदि में हुआ है।

पद्य और गद्य में होनेवाली मानसिक वृत्ति में भेद

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता और उस के परिपोषक सभी आत्मिक तत्त्वों में मनुष्य बाह्य जगत् से पराङ्मुख हो अपने भीतर केंद्रित होता है; उसके विस्तार का विनाश हो उसमें निस्सार अथवा संकोच उत्पन्न होता है। इसके विपरीत गद्य में, और गद्य को जन्म देने वाले सभी भौतिक तत्त्वों में, मनुष्य का आत्मा भीतर से बाहर की ओर जाता है; दूसरे शब्दों में उसकी घनता अथवा संकोच नष्ट हो उसमें बाह्यवृत्तिता तथा विस्तार का आविर्भाव होता है। इसका परिणाम यह है कि जहाँ कविता में शब्दों का संक्षेप होता है वहाँ गद्य में शब्दों को स्वतंत्रता प्राप्त होती है, और उनका आवश्यकता के अनुसार निर्बाध खुला प्रयोग किया जा सकता है। जहाँ कविता का प्रयोग उत्कट रागवाले तत्त्वों के प्रकाशन में होता है, वहाँ गद्य का प्रयोग सामान्य राग वाले तत्त्वों के प्रकाशन में होता है। फलतः गद्य के प्रकाशन में कविता के समान गम्भीरता न हो एक प्रकार की शिथिलता होती है। सभी जानते हैं कि निरवयव संगीत संक्षिप्त होता है, और उसमें हमारे मार्मिक भावों की कूक होती है। इसके विपरीत गद्य का काम हमारे जीवन के सामान्य क्रिया कलाप को अंकित करना है। उदाहरण

के लिए; एक निबंधकार चाँदनी में की गई अपनी यात्रा को आराम के साथ विस्तृत संदर्भों में सुनाता है, जब कि एक कवि उस चाँदनी को देख उसमें तन्मय हो जाता है, और अपनी उस घनतम सत्ता का प्रकाशन बहुत ही नपे-तुले ज्योत्स्नामय शब्दों द्वारा करता है। इसमें संदेह नहीं कि लंबी कवितारचना में भावों तथा शब्दों की यह आदर्श घनता अखण्ड नहीं रह जाती, किंतु, वहाँ भी हमें इसके दर्शन गद्य की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित रूप में होते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि गद्य एक शांति के साथ बहने वाली नदी का समतल प्रवाह है, तो पद्य एक घर घरा कर बहने वली नदी का लहरमय, कहीं थामों उठा तो कहीं एक सा बहने वाला, फेनोज्ज्वल प्रवाह है।

पद्य और गद्य के रूप और शब्द-विन्यास में भेद

ताल और तालिका (Key) की दृष्टि से गद्य और पद्य में मौलिक भेद है; और शब्दों के, यहीं दो तत्त्व संगीत में प्रधानता पाकर उसके रूप और विन्यास में शब्दों की आवश्यकता के अनुसार, जैसा चाहें, परिवर्तन कर देते हैं। और क्योंकि कविता भी संगीत ही का विकसित रूप है, इसलिए उसमें भी शब्दों का रूप तथा विन्यास गद्य की अपेक्षा भिन्न प्रकार का होना स्वाभाविक है। गद्य का शब्द-विन्यास प्रतिदिन के साधारण व्यवहार के अनुसार होता है, कविता में बदल कर वह उन उन भावों की विशेषता को अभिव्यक्त करने के लिए विपरीत प्रकार का हो जाता है। इसी लिए हम कविता को गुरुमुख से पढ़ते समय उसका "खंड" और "दण्ड" इन दो प्रकार का अन्वय किया करते हैं।

पद्य की शैली गद्य

संगीत के साथ अखण्ड सम्बन्ध होने के कारण पद्य की शैली भी गद्य की शैली से सुतरां भिन्न प्रकार की रहती आई है। फिर भी कविता के रहस्य को समझने वाले सहृदय पाठक

की शैली से भिन्न प्रकार की है

कविता के भावपक्ष और कलापक्ष में विवेक कर हुए उसके भावपक्ष को प्रधानता देते रहते हैं। कि हमारे संस्कृत और हिन्दीसाहित्य में एक युग ऐसा भी आया था, ज कविता के भावपक्ष को भुला उसके कलापक्ष, अर्थात् रीति आदि को ह उसका सर्वस्व माना जाने लगा था; यहाँ तक कि कतिपय आचार्यों ने काव्य का लक्षण करते हुए रीति ही को उसका आत्मा कह डाला था ऐसे आचार्यों की दृष्टि में कविता पद्य में इसलिए नहीं लिखी जाती थी कि इसका बीज ऐसे रहस्यमय तत्त्वों में निहित है, जो निसर्गतः एकमात्र पद्य मे भलीभाँति निदर्शित किए जा सकते हैं, प्रत्युत इसलिए कि रीति ऐसा बताती है, और वह इस बात का समर्थन करती है। इनके मत में कविता की भाषा का प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा के साथ कोई संबन्ध नहीं था; इसका सौंदर्य स्वाभाविक सौंदर्य न था, यह तो एक सौंदर्याभास था, जिसे कवि आचार्य पढ़ा करते थे और जिसका निर्धारित किए गए कतिपय नियमों के अनुसार कविता में होना आवश्यक समझा जाता था। संस्कृत के चामत्कारिक युग में लिखी गई माघ और भारवि आदि की रचनाओं से यह बात संस्कृत के क्षेत्र में स्पष्ट होती है तो विहारी से पीछे के सभी रीतिमार्गी हिन्दीकवियों की रचनाओं से हिन्दी के विषय में प्रत्यक्ष हो जाती है।

रीतिकाल का भेद शब्दों का परिष्कार था

हिन्दी में सबसे पहले कबीर आदि मर्मी कवियों ने कविता की भाषा के अनुचित रूप से आलंकारिक होने का विरोध किया था। किन्तु ये साधक लोग अपेक्षाकृत निकृष्ट जाति में उत्पन्न हुए थे, इस लिए भाषा के विषय में इनके सिद्धान्त हिन्दीजगत् में मान्य न होने पाए और जनता तुलसीदास तथा सूरदास जैसे महाकवियों द्वारा अपनाई गई भाषा ही को बराबर परिष्कृत बनाती रही। उनकी इसी

की शैली से भिन्न प्रकार की है कविता के भावपक्ष और कलापक्ष में विवेक करते हुए उसके भावपक्ष को प्रधानता देते रहते हैं। किंतु हमारे संस्कृत और हिन्दीसाहित्य में एक युग ऐसा भी आया था, जब कविता के भावपक्ष को भुला उसके कलापक्ष, अर्थात् रीति आदि को ही उसका सर्वस्व माना जाने लगा था; यहाँ तक कि कतिपय आचार्यों ने काव्य का लक्षण करते हुए रीति ही को उसका आत्मा कह डाला था। ऐसे आचार्यों की दृष्टि में कविता पद्य में इसलिए नहीं लिखी जाती थी कि इसका बीज ऐसे रहस्यमय तत्त्वों में निहित है, जो निसर्गतः एकमात्र पद्य में भलीभाँति निदर्शित किए जा सकते हैं, प्रत्युत इसलिए कि रीति ऐसा बताती है, और वह इस बात का समर्थन करती है। इनके मत में कविता की भाषा का प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा के साथ कोई संबन्ध नहीं था; इसका सौंदर्य स्वाभाविक सौंदर्य न था, यह तो एक सौंदर्याभास था, जिसे कवि-आचार्य घड़ा करते थे और जिसका निर्धारित किए गए कतिपय नियमों के अनुसार कविता में होना आवश्यक समझा जाता था। संस्कृत के चामत्कारिक युग में लिखी गई माघ और भारवि आदि की रचनाओं से यह बात संस्कृत के क्षेत्र में स्पष्ट होती है तो बिहारी से पीछे के सभी रीतिमार्गी हिन्दीकवियों की रचनाओं से हिन्दी के विषय में प्रत्यक्ष हो जाती है।

रीतिकाल का ध्येय शब्दों का चमत्कार था

हिन्दी में सबसे पहले कबीर आदि मर्मी कवियों ने कविता की भाषा के अनुचित रूप से आलंकारिक होने का विरोध किया था। किन्तु ये साधक लोग अपेक्षाकृत निकृष्ट जाति में उत्पन्न हुए थे, इस लिए भाषा के विषय में इनके सिद्धान्त हिन्दीजगत् में मान्य न होने पाए और जनता तुलसीदास तथा सूरदास जैसे महाकवियों द्वारा अपनाई गई भाषा ही को बराबर परिष्कृत बनाती रही। उनकी

कादंबरी के अत्यंत ही परिष्कृत गद्य में और अंग्रेजी में बन्यन रचित पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस आदि के गद्य में प्रस्फुटित हुआ। हिंदी-क्षेत्र में भी आज इलाचन्द्र जोशी आदि के गद्य में यही बात दीख पड़ती है।

कविता और उपन्यास

जिस प्रकार पुरुष के संगीतमय आत्मप्रकाशनरूप पद्य का प्रतीप प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली गद्यमय भाषा में है, उसी प्रकार उसके संगीतमय छन्दों में बहने वाली कविता का प्रतीप उस की व्यावहारिक भाषा में कहे जाने वाले उपन्यासों में है। कविता रचते समय कवि का आत्मा बाह्य जगत् में विचरने पर भी अंतर्मुख रहा करता है; इससे उसकी रचना में एक प्रकार की घनता और संक्षेप आ जाते हैं। उपन्यास लिखते समय कलाकार की वृत्तियाँ मुख्यतया बाह्य जगत् में विचरती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि बाह्य जगत् के समान उसकी रचना में भी स्थूलता तथा विस्तार का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि जहाँ सहृदय रसिकों को सदा से कविता रुचती आई है, वहाँ साधारण जनता सदा से उपन्यास और आख्यायिकाओं में विनोद-लाभ करती रही है। कविता की इस निगूढ़ता को देखकर ही हमारे आचार्यों ने शिक्षित समाज के लिए वेदों और अशिक्षित समाज के लिए पुराण आदि का आयोजन किया था।

आधुनिक युग में कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास और

किंतु समय बदल गया है, जीवन की आवश्यकताएँ बदल चुकी हैं और उन्हीं के साथ जीवन के रागात्मक व्याख्यान अर्थात् साहित्य में भी परिवर्तन आ गया है। जहाँ पहले कविता और नाटकों की चर्चा रहती थी, वहाँ अब उपन्यास और आख्यायिकाओं का दौरदौरा है। यदि आज हम साहित्य की मात्रा को उसके महत्त्व का मापदंड बनावें तो भी उप-

प्रवृत्ति का परिपाक हमें आगे चल कर रीतिमार्गी कवि
रचनाओं में प्रत्यक्ष हुआ। हिन्दी के आधुनिक युग के प्र
चरण में भी शब्दों को आवश्यकता से अधिक परिष्कृत क
काम करती दीख पड़ती है। किन्तु वर्तमान काल की हिन्दी क
अन्य रूढ़ियों तथा प्रथाओं की बेड़ियों को तोड़ स्वतन्त्रता का
किया है, वहाँ भाषा को अनुचित कृत्रिमता के प्रति भी उसने अ
भाव को कार्यरूप में परिणत कर दिखाया है।

अंग्रेजी के रीति-काल का ध्येय : शब्दों का परिष्कार

जिस प्रकार संस्कृत तथा हिन्दी के इतिहास में उसी प्र
के इतिहास में भी हमें अठारहवीं सदी में ऐ
के दर्शन होते हैं, जब कविता की शैली औ
प्रकारपक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दि
था, और उसके साथ सम्बन्ध रखने वाली रूढ़ि
दुहाई दी जाती थी। कविता के इस अविवेकी श
के विरुद्ध महाकवि वर्ड्सवर्थ ने आवाज़ उठाई थी; और यह सिद्
के लिए कि जो शब्द गद्य में व्यवहृत होते हैं, उन्हीं का कवि
प्रयोग होना चाहिए, उन्होंने जहाँ अपनी कविता के भावपक्ष को प्रति
के वस्तुजात पर खड़ा किया था वहाँ साथ ही उसके कलापक्ष को
तिदिन के व्यवहार में आने वाली भाषा पर ही आश्रित रखा था।

...और गद्य के ...र्मंजस्य की ...र प्रयत्न

जहाँ एक ओर भारत तथा यूरोप के भावप्रधान कवियों ने पद्य
भाषा को गद्य ही के समान बना कर पद्य को गद्य
ओर खींचा, वहाँ गद्य के पृष्ठपोषकों ने उसकी शब्दा
वलि में कविता के तत्त्व संगीत तथा समतालता आदि
का प्रवेश कर के उसे पद्य की ओर अग्रसर किया;
...का मनोरम परिणाम आगे चल कर संस्कृत...

कादंबरी के अत्यंत ही परिष्कृत गद्य में और अंग्रेजी में बन्यन रचित पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस आदि के गद्य में प्रस्फुटित हुआ। हिंदी-क्षेत्र में भी आज इलाचन्द्र जोशी आदि के गद्य में यही बात दीख पड़ती है।

कविता और उपन्यास

जिस प्रकार पुरुष के संगीतमय आत्मप्रकाशनरूप पद्य का प्रतीप प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली गद्यमय भाषा में है; उसी प्रकार उसके संगीतमय छन्दों में बहने वाली कविता का प्रतीप उस की व्यावहारिक भाषा में कहे जाने वाले उपन्यासों में है। कविता रचते समय कवि का आत्मा बाह्य जगत् में विचरने पर भी अंतर्मुख रहा करता है; इससे उसकी रचना में एक प्रकार की घनता और संक्षेप आ जाते हैं। उपन्यास लिखते समय कलाकार की वृत्तियाँ मुख्यतया बाह्य जगत् में विचरती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि बाह्य जगत् के समान उनकी रचना में भी स्थूलता तथा विस्तार का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि जहाँ सहृदय रसिकों को सदा से कविता रुचती आई है, वहाँ साधारण जनता सदा से उपन्यास और आख्यायिकाओं में विनोद-लाभ करती रही है। कविता की इस निगूढ़ता को देखकर ही हमारे आचार्यों ने शिक्षित समाज के लिए वेदों और अशिक्षित समाज के लिए पुराण आदि का आयोजन किया था।

आधुनिक युग में कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास और

किंतु समय बदल गया है, जीवन की आवश्यकताएँ बदल चुकी हैं और उन्हीं के साथ जीवन के रागात्मक व्याख्यान अर्थात् साहित्य में भी परिवर्तन आ गया है। जहाँ पहले कविता और नाटकों की चर्चा रहती थी, वहाँ अब उपन्यास और आख्यायिकाओं का दौरदौरा है। यदि आज हम साहित्य की मात्रा को उसके महत्त्व का मापदंड बनावें तो भी उप-

आख्यायिका का अधिक प्रचार हुआ है

स्थान और आख्यायिका ही उन के सब अंगों में अधिक महत्वशाली होते गये। परिमाण ही की दृष्टि से नहीं, आज के सर्वोत्तर प्रतिभाशाली कलाकारों में बहुतों ने अपनी प्रतिभा को प्रकाशित करने का साधन इन्हीं दो को बनाया है। लोकप्रियता की दृष्टि से भी इन्हीं दो का पहला नम्बर है। आम जनता में कविता और नाटक दोनों मिलकर इतने नहीं पढ़े जाते जितने कि अकेले उपन्यास पढ़े जाते हैं। इसका आशय यह नहीं कि बहुसंख्या द्वारा पढ़ी जाने वाली औपन्यासिक रचनाएँ कविता की अपेक्षा अधिक चिरजीवी रहेंगी; नहीं; बहुधा बहुसंख्या के द्वारा पढ़ी जाने वाली रचनाएँ प्रायः से अधिक शीघ्रता के साथ भुला दी जाती हैं। किन्तु इस कोटि की रचनाओं में एक बात अवश्य आ जाती है, और वह बात है यह, कि इन रचनाओं को सभी प्रकार के और सभी परिस्थितियों के पाठक पढ़ते हैं; और वे—चाहे शनैः शनैः और थोड़े ही दिनों के लिये क्यों न हो—जनप्रिय भावों की एक बहुत बड़ी संख्या को अपील करती हैं, यहाँ तक कि वर्तमानकाल में, उपन्यास—क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, और क्या राजनीतिक—सभी प्रकार के सिद्धान्तों को मानवसमाज के संमुख रखने का प्रमुख साधन बन बैठा है।

आधुनिक युग के साथ उपन्यास का सामंजस्य

यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास को प्राप्त हुई यह आशातीत लोकप्रियता समीपी भविष्य में न्यून हो जायगी। और जहाँ एक ओर उपन्यास में कलाकार को अपनी कल्पनाशक्ति और कला-प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर मिलता है वहाँ साथ ही उपन्यास समाज की उस प्रतिदिन बढ़ने वाली पठित संख्या के मनोरंजन का साधन भी है, जो प्रजातन्त्रवाद के द्वारा उत्पन्न हो आधुनिक युग का सब से बड़ा

संसूचक चिह्न बनी हुई है। वस्तुतः उपन्यास का जन्म ही प्रजातन्त्रवाद से उत्पन्न हुई मध्यश्रेणी की विपुल जनसंख्या के चित्तरंजन को उद्देश्य बना कर हुआ है। प्रजातन्त्रवाद के आविर्भाव से पहले राजा और प्रजा के मनोरंजन का मुख्य साधन नाटक था; जो अपनी अभिनयात्मकता के कारण पठित तथा अपठित दोनों ही प्रकार के प्रेक्षकों को समानरूप से अपनी ओर खींचता था। किंतु शनैः शनैः अपनी इस अभिनयात्मकता के कारण ही यह समाज की निम्न श्रेणियों का दाय बन गया और सत्रहवीं सदी की पहली पचीसी के बाद शिक्षित जनता में उसका आदर घट गया। एक बात और; नाटक को सर्वात्मना सफल बनाने के लिए अनेक मूल्यवान् उपकरणों की आवश्यकता होती थी। यह उपकरण नगरों में सुविधा से प्राप्त हो सकते थे; इस लिये नाटक एक प्रकार से नगरों में परिसीमित हो गया था। ज्यों ज्यों जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया और साथ ही नगरों से बाहर भी साहित्य के अध्येताओं की संख्या में वृद्धि होती गयी, त्यों त्यों इनके मनोरंजनार्थ किस्से कहानियों को प्रेस द्वारा इन तक पहुँचाने की आवश्यकता भी बढ़ती गयी, क्योंकि उपन्यास तथा आख्यायिकाएँ नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक सरल हैं, और इन में साहित्य के घनतर रूप के नियमों को पालने या न पालने की स्वतन्त्रता है। उपन्यास के लेखक पर नाटककार के समान संस्थान अथवा सरणिविशेष का प्रतिबंध नहीं है। वह अपनी कथा को तीन जिल्दों वाले उपन्यास में कह सकता है और चाहे तो तीन पृष्ठों की एक छोटी सी कहानी में समाप्त कर सकता है। उसे तो, जैसे भी हो सके, मनोरंजक रूप में अपनी कहानी सुनानी है और अपनी इस कहानी के लिये उसके पास विषयों की भी कमी नहीं है। इस काम के लिए वह सकल जीवन से लेकर विकल जीवन, अर्थात् जीवन के किसी एक पटल तक को अपनी रचना का विषय बना सकता है। मनुष्य की अत्यंत ही

संकुल संमग्र प्रकृति, अथवा उसकी प्रकृति का कोई पक्षविशेष, दोनों ही समानरूप से उसकी रचना के विषय बन सकते हैं। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की दृष्टि से जितनी स्वतन्त्रता एक उपन्यासकार अथवा कथालेखक को प्राप्त है उतनी साहित्य को और किसी भी विधा को अपनाने वाले कलाकार को नहीं है।

कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में रागात्मकता कम होती है

जिस प्रकार उपन्यास-लेखक को अपनी रचना के संघटन में स्वतन्त्रता है उसी प्रकार उसके पाठकों को भी उपन्यास के पढ़ने में आसानी है। कविता और नाटक की अपेक्षा कहीं कम रागात्मक होने के कारण उपन्यास और आख्यायिका पाठक की कल्पना और उसकी सहृदयता पर उन दोनों की अपेक्षा कहीं कम भार डालते हैं और पाठक अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार बिना किसी प्रयास के इन्हें पढ़ता चला जाता है। कालिदास की शकुन्तला और शेक्सपीयर के ऑथेलो अथवा हैमलेट को पढ़ते हुए कोई भी पाठक कल्पना के उत्तुंग शिखर पर खड़े हो, उन्हीं के समान अपनी सत्ता के मूल स्रोत के विषय में प्रश्न किये बिना न रहेगा। वह जब तक उन्हें पढ़ेगा तब तक बराबर उनके लेखकों के समान स्वयं भी उत्कट भावों से आविष्ट हो अपने व्यक्तित्व को भुलाए रखेगा, अपने मन और इन्द्रियों को उन नायक और नायिकाओं की सेवा में अर्पित किये रहेगा। किंतु उपन्यास में, चाहे वह उपन्यास कितना भी उच्च कोटि का क्यों न हो, यह बात उस सीमा पर नहीं पहुँचती। यदि कविता और नाटक के समान उपन्यास भी पाठक की कल्पनाशक्ति पर उतना ही भार डाले तो उसके पाठकों की बहुसंख्या, संभव है, उसे एक ओर रख अपने दैनिक कामकाज में लग जाय। सामान्य कोटि के

पाठक उपन्यास को बहुधा मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं, और उसमें वे केवल मनोरंजन ही की सामग्री देखना चाहते हैं। उनके लिए उपन्यास एक ऐसी ही चित्तरंजक वस्तु है जैसे चाय का एक प्याला। इस पेय के समान उसे भी उनकी बुद्धि में अनायास उतर जाना चाहिए, और उसी के समान उसे उनका क्रमविनोदन करना चाहिए। उपन्यास को पौष्टिक खाद्य के समान श्रमपाच्य नहीं होना चाहिए। क्योंकि उपन्यास पेय के समान सहजगामी वस्तु है इसलिए वह, उसी के समान; मंतव्यों को लोकप्रिय बनाने का भी एक साधन है। उपन्यास को पढ़ते समय पाठक बहुधा विचारशक्ति से काम नहीं लेते। उनका मन उस समय अनुरंजन में मग्न होता है उस विचारविहीन अनुरंजन के समय आप पाठकों को जो चाहें सुना सकते हैं, और वे आपसे अपने को अनुरक्त करने वाली सभी बातें सुन सकते हैं। इस प्रेममुद्रा में मग्न हुए पाठक को उपन्यास-रमणी के द्वारा सुनाए गए सिद्धांत बहुधा उस के मन में घर कर जाते हैं।

उपन्यास की अस्थायिता का कारण

इसमें संशय नहीं कि उपन्यास की इस सहज लोकप्रियता में ही उसकी क्षणभंगुरता का रहस्य भी छिपा हुआ है। जिस पुस्तक को हम केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं, उसे बहुधा दूसरी बार नहीं पढ़ते। उपन्यास हमारी दृष्टि में साहित्य का लघुतम रूप है, और लघुतम साहित्य में बृहत् साहित्य की गरिमा ढूँढना अनुचित है। उपन्यासों की उस बहुसंख्या में से—जो आजकल प्रेस के द्वारा प्रतिदिन जनता पर फेंकी जा रही है—संभवतः कतिपय उपन्यास ही कुछ सदियों को पार कर सकें। इनमें से बहुत से उपन्यास तो कतिपय वर्षों में ही बस हो जाएँगे। किंतु कुछ उपन्यासों में उनके लेखक अपनी उत्कट आत्मिकता को संपुटित कर गए हैं, जिस कारण इनमें एक प्रकार की चिरस्थायिता आ गई है। संस्कृत

में कादंबरी, हिंदी में प्रेमचन्द के उपन्यास और अंग्रेजी में स्काट, मेरेडे, थार्ज, इलियट, हाउथोर्न तथा हार्डी की रचनाएँ इस बात का निदर्शन हैं।

उपन्यास का महत्त्व उसके कथावस्तु के महत्व पर निर्भर है

उपन्यास की चिरस्थायिता को परखने के लिए हमें उसके प्रतिपाद्य विषय और उसकी प्रतिपादनशैली पर विचार करना होगा। प्रतिपाद्य वस्तु से हमारा आशय केवल कथा और कथा के विकास से नहीं, अपितु उस कथा को वहन करने वाले पात्रों से भी है। प्रतिपाद्य विषय को छाँटते समय उपन्यासकार के संमुख यद्यपि मानवजीवन के अशेष पटल प्रस्तुत रहते हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन के सभी पटल समान रूप से समान मूल्य वाले हैं। प्रतिपाद्य विषय के महत्व को परखने के लिए हमें उससे उद्भूत होने वाले रागात्मक तत्त्व की श्रेणी और उसकी शक्तिमत्ता पर ध्यान देना होगा। उदाहरण के लिए, मानव-हृदय को सदा से, आकृष्ट करने वाला तत्त्व उसका अद्भुत और अप्रत्याशित वस्तुओं के साथ प्रेम करना रहा है। निश्चय ही साधारण श्रेणी के पुरुष जिस चाव के साथ दैनिक पत्रों को पढ़ते हैं उस चाव के साथ वे साहित्य की अन्य किसी भी रचना को नहीं पढते और दैनिक पत्र में संकलित हुए अद्भुततत्त्व के समाचारों को पढ़ने की जो उत्सुकता एक पाठक को पढ़ने के लिए लालायित करती है वही उत्सुकता अद्भुत, साहस-कृत्य, तथा तिलस्मी करनामों का रागात्मक व्याख्यान करने वाले उपन्यास को पढ़ने के लिए भी उसे लालायित कर सकती है। किंतु कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कोटि के पाठकों में पात्रों का विवेचन करने की क्षमता नहीं होती। वे अपने से भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के विवेचन में अशक्त होते हैं। किंतु वे, जीवन की चिरपरिचित घटनाओं के

अद्भुत रस में रँगी जाने पर, उन्हें खूबी के साथ पढ़ अवश्य सकते हैं। अद्भुत रस के प्रति होने वाले इस विश्वजनीन प्रेम के कारण ही सब उपन्यासकार उसे अपनी रचना का विषय बनाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। और यही कारण है कि हमें विविध रूपों में अद्भुत रस का व्याख्यान करने वाले उपन्यासों की बाढ़ आती दीख पड़ती है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के प्रतिपाद्य विषय पर खड़ी होने वाली रचनाएँ चिरस्थायी नहीं रहा करतीं।

उपन्यास में कथा का स्थान

किंतु उक्त विवेचन से यह परिणाम निकालना कि उपन्यास में घटनावर्णन के लिए, अथवा कथानिरूपण के लिए अवकाश ही नहीं है, अदूरदर्शिता होगी। कुछ समालोचकों का कहना है कि कथा केवल बालकों और उन्हीं के समान अविकसित बुद्धि वाले पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि कहानियाँ तो सब की सब कही जा चुकी हैं; और वह व्यक्ति, जिसने कतिपय उपन्यास ध्यानपूर्वक पढ़े हैं, सहज ही, कथा के आरंभ को पढ़ कर उसके अंत को पहचान सकता है। उनका यह भी कथन है कि यदि एक उपन्यासकार यथार्थ जीवन की यथार्थ कहानी कहना चाहता है तो उसे कहानी की परिपाटी से दूर रहना होगा; क्योंकि बहुधा कहानी झूठी होती है, और जीवन पर वह कदाचित् ही घटा करती है। मानव-जीवन कल्पित कथासंभार के पीछे नहीं चलता; वह तो परिमित काल तक उखड़ा-पुखड़ा, ऊँचा-नीची सड़क पर डोलता फिरता है। अनुकूल परिस्थितियों में वह कुछ आगे बढ़ जाता है; प्रतिकूल परिस्थितियों में वह रुक जाता है और कुछ काल पश्चात् सदा के लिए कहीं ठहर जाता है। इन सब आक्षेपों के उत्तर में हम यही कहेंगे कि जीवन के इसी अव्यवस्थित डोलने में उसके इसी आगे बढ़ने और पीछे हटने में

में कादंबरी, हिंदी में प्रेमचन्द के उपन्यास और अंग्रेजी में स्काट, डे मार्क, इलियट, हार्डी तथा हार्डी की रचनाएँ इस बात का निदर्शन हैं। उपन्यास की चिरस्थायिता को परखने के लिए हमें उसके प्रतिपाद्य विषय और उसकी प्रतिपादनशैली पर विचार करना होगा। प्रतिपाद्य वस्तु से हमारा आशय केवल कथा और कथा के विकास से नहीं, अपितु उस कथा को वहन करने वाले पात्रों से भी है। प्रतिपाद्य विषय को छाँटते समय उपन्यासकार के संमुख यद्यपि मानवजीवन के अशेष पटल प्रस्तुत रहते हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन के सभी पटल समान रूप से समान मूल्य वाले हैं। प्रतिपाद्य विषय के महत्त्व को परखने के लिए हमें उससे उद्भूत होने वाले रागात्मक तत्त्व की श्रेणी और उसकी शक्तिमत्ता पर ध्यान देना होगा। उदाहरण के लिए, मानव-हृदय को सदा से आकृष्ट करने वाला तत्त्व उसका अद्भुत और अप्रत्याशित वस्तुओं के साथ प्रेम करना रहा है। निश्चय ही साधारण श्रेणी के पुरुष जिस चाव के साथ दैनिक पत्रों को पढ़ते हैं उस चाव के साथ वे साहित्य की अन्य किसी भी रचना को नहीं पढ़ते और दैनिक पत्र में संकलित हुए अद्भुततत्त्व के समाचारों को पढ़ने की जो उत्सुकता एक पाठक को पढ़ने के लिए लालायित करती है वही उत्सुकता अद्भुत, साहस-य, तथा तिलस्मी करनामों का रागात्मक व्याख्यान करने वाले न्यास को पढ़ने के लिए भी उसे लालायित कर सकती है। किंतु ने की आवश्यकता नहीं कि इस कोटि के पाठकों में पात्रों का विवेचन नहीं होती। वे अपने से भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के होते हैं। किंतु वे, जीवन की चिरपरिचित घटनाओं के

उपन्यास का महत्त्व उसके कथावस्तु के महत्व पर निर्भर है

अद्भुत रस में रँगी जाने पर, उन्हें सूखी के साथ पढ़ अवश्य सकते हैं। अद्भुत रस के प्रति होने वाले इस विश्वजनीन प्रेम के कारण ही सब उपन्यासकार उसे अपनी रचना का विषय बनाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। और यही कारण है कि हमें विविध रूपों में अद्भुत रस का व्याख्यान करने वाले उपन्यासों की बाढ़ आती दीख पड़ती है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के प्रतिपाद्य विषय पर खड़ी होने वाली रचनाएँ चिरस्थायी नहीं रहा करतीं।

उपन्यास में कथा का स्थान

किंतु उक्त विवेचन से यह परिणाम निकालना कि उपन्यास में घटनावर्णन के लिए, अथवा कथानिरूपण के लिए अवकाश ही नहीं है, अदूरदर्शिता होगी। कुछ समालोचकों का कहना है कि कथा केवल बालकों और उन्हीं के समान अविकसित बुद्धि वाले पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि कहानियाँ तो सब की सब कही जा चुकी हैं; और वह व्यक्ति, जिसने कतिपय उपन्यास ध्यानपूर्वक पढ़े हैं, सहज ही, कथा के आरंभ को पढ़ कर उसके अंत को पहचान सकता है। उनका यह भी कथन है कि यदि एक उपन्यासकार यथार्थ जीवन की यथार्थ कहानी कहना चाहता है तो उसे कहानी की परिपाटी से दूर रहना होगा; क्योंकि बहुधा कहानी झूठी होती है, और जीवन पर वह कदाचित् ही घटा करती है। मानव-जीवन कल्पित कथासंभार के पीछे नहीं चलता; यह तो परिमित काल तक उखड़ा-पुखड़ा, ऊँची-नीची सड़क पर डोलता फिरता है। अनुकूल परिस्थितियों में यह कुछ आगे बढ़ जाता है; प्रतिकूल परिस्थितियों में यह रुक जाता है और कुछ काल पश्चात् सदा के लिए कहीं ठहर जाता है। इन सब आक्षेपों के उत्तर में हम यही कहेंगे कि जीवन के इसी अव्यवस्थित डोलने में उसके इसी आगे बढ़ने और पीछे हटने में

निर्भर रहता है। जब प्रेम मंगलमय तथा विशुद्ध होता है तब वह मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाता है, किंतु जब वह अपने शारीरिक रूप में विकसित हो उद्दामता प्राप्त करता है तब वह मनुष्य को बहुधा धूलिसात् कर देता है। जहाँ इसमें उत्कटता सब से अधिक है वहाँ साथ ही यह और सब भावों की अपेक्षा रुचिकर भी कहीं अधिक है। जीवन में जो कुछ भी सौंदर्य तथा रुचिकरता उपलब्ध होती है उसका बहुतम भाग प्रेम से उपजता है। संक्षेप में, प्रेम सौंदर्य तथा भव्यता का सर्वोत्कृष्ट आगार है। परमात्मा और प्रकृति के प्रेमरूप बीज ही से यह संसार अंकुरित हुआ है और प्रेम ही के कारण मनुष्य अपने जीवनतंतु को सतत बनाए रखता है। प्रेम का पुजारी कल्पनामय जगत् का स्रष्टा होने के कारण साथ ही कवि भी होता है। फलतः प्रेमान्वित जीवन का वर्णन करने में कवि की निजी आत्मा बोलती है; उसके चित्रण में वह स्वयं अपना चित्रण करता है, और हर प्रकार से अपना होने के कारण अत्यंत ही विशद, स्फीत तथा व्यंजक हुआ करता है। इसमें संदेह नहीं कि विश्व के उपन्यासकारों में से कतिपय ही अपनी नायिकाओं को बाणभट्ट की महाश्वेता के समान सुन्दर तथा मंगलमय बना पाए हैं; और सौंदर्य के बिना प्रेम की उत्पत्ति नहीं होती और प्रेम के बिना जीवन के तंतु परस्पर नहीं जुड़ पाते। फलतः प्रेम के प्रस्फुरण के लिए नायक और नायिकाओं में सौंदर्य की उद्भावना करना परमावश्यक है। प्रेम यौवन का सार है; शरीर की नाड़ियों में जीवन का संचार इसी से होता है। इसके लिए जरा कभी है ही नहीं। यह आबालवृद्ध में एकरस विराजमान रहता है। प्रत्येक पुरुष के जीवन में यौवन प्रभात बीत कर जरा की संध्या आया करती है। सभी की धमनियों में प्रेम का संचार होने के उपरांत ही मृदुता आया करती है। किंतु कैसा भी बुढ़ापा क्यों न आवे, कितनी भी निर्बलता क्यों न आ जाय प्रेम की

सरसता सभी के लिए, सभी अवस्थाओं में एक सी बनी रहती है इसी लिए प्रेम की आधारशिला पर खड़े होने वाले उपन्यासभवन सद आकर्षक बने रहते हैं और मानव-समाज सदा ही उनमें पहुँच कर अपने भौतिक जीवन के रवजन्य श्रम को मिटाता रहा है। प्रेम का परिपाक पाणिग्रहण में होना स्वाभाविक है और प्रेम की व्याख्या करने वाले उपन्यासों में यौवन में प्रणयी अथवा प्रणयिनी के प्रति उत्पन्न हुए प्रेम के इस चरम परिपाक के मार्ग में आने वाली अनुकूल तथा प्रतिकूल घटनावलि का वर्णन होता है।

उपन्यास के आधारभूत प्रेम में शुचिता का होना वांछनीय है

कहना न होगा कि प्रेम के इस संप्रदर्शन में प्रेमरस की शुचित तथा आचारानुकूलता पर ध्यान देना आवश्यक है जीवन में प्रेम का कितना भी उच्च स्थान क्यों न हो है तो वह, हर अवस्था में, जीवन के लिए ही। फलत किसी भी प्रेमाश्रित कथा के आधार पर खड़े होने वाले उपन्यास में हमें यह देखना होगा कि इसमें वर्ण किए गए प्रेम में कितनी प्रौढ़ता तथा उदारता है कालिदास ने अपने कुमारसंभव तथा शकुन्तला में प्रेम का वर्णन किय है। शेक्सपीअर के नाटकों में भी प्रेम का संप्रदर्शन होता है। दोनों प्रेमादर्श में मौलिक भेद होने पर भी दोनों ही ने इसे जीवन की अत्यन निभृत अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे सामान्य मर्त्यधाम से कु ऊपर को उभार दिया है। शकुन्तला का प्रेम शारीरिक नहीं है, उसका आत्मा ही दुष्यन्त के साथ एक हो गया है। शेक्सपीअर का प्रेम सच्चो प्रेम नहीं, उसमें ओथेलो जैसे अतुल बली भस्म होते दृष्टिगत होते हैं। सन्दे तथा ईर्ष्या आदि आन्दोलक भावों के साथ मिल कर वह जीवन को दुःखान्त नाटक के रूप में परिणत कर देता है। एक कलाकार को अपनी रचना

विषय प्रेम को बनाते हुए उसको ऐसे ही घन रूप में प्रदर्शित करना चाहिए।

उपन्यास की सामान्य परिधि का निरूपण ऊपर हो चुका; अब हमारे सम्मुख प्रश्न यह है कि उस परिधि के भीतर उपन्यास की कला किन किन प्रमुख दिशाओं में उन्मुख हुई है, अर्थात् उपन्यास के प्रधान विभाग कौन कौन हैं।

उपन्यासकार कथावस्तु पर कल्पना का मुलम्मा चढ़ाकर उसका वर्णन करता है

पहले कहा जा चुका है कि उपन्यास के अन्तर्गत वह संपूर्ण कथा-साहित्य आ जाता है जो गद्य की प्रणाली में व्यक्त किया गया हो। ऊपर हम यह भी कह चुके हैं कि उपन्यास का मानवजीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है और वह प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से उसी का चरित कहता है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की एक काल्पनिक कथा है और "काल्पनिक कथा का संकेत उस कथा पर है, जो कल्पना की सहायता से अधिक मार्मिक, सुचरित और ग्राह्य बना दी गई हो, जिस में सुन्दर चयनशक्ति की सहायता से जीवन के किसी उद्दिष्ट अंश की रोचक रूपरेखा खींची गई हो, और जो पूर्णता की दृष्टि से आकाश में चन्द्रमा की भांति चमक उठे। ऐसी काल्पनिक कथा में असत्य का अंश चन्द्रमा की कालिमा की भांति प्रकाश में लुप्त हो जाता है।" किसी व्यक्ति का जीवन यदि सत्य को ध्यान में रख कर लिखा जाय, तो वह घटनाओं की एक सूचीमात्र बन जायगी और उसमें साहित्यिकता न आ सकेगी। इसके विपरीत जब एक कलाकार उसी व्यक्ति के जीवन को कल्पनाक्षेत्र में ले जाकर उसका वर्णन करता है तब वह जीवन रोचक बन जाता है और उस जीवन की नीरस घटनाएँ सरस बन कर पाठक के

सम्मुख आती हैं।

उपन्यास की परिधि पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि उपन्यास में घटनाओं का वर्णन होना आवश्यक है, और ये घटनाएँ सदा किसी न किसी क्रम से घटित होती हैं। इन्हीं घटनाओं का नाम *कथावस्तु* है। अब हमें मनुष्य में एक ऐसी प्रवृत्ति भी दीखती है, जो किसी व्यक्तिविशेष के साथ सम्बद्ध न हो केवल घटनाओं में आनन्द लिया करती है; जिसे सदा से आश्चर्यमय तत्त्व ही रुचिकर लगता आया है। बच्चों में और अविकसित बुद्धि वाले नरनारियों में हमें यही वृत्ति सचेष्ट रहती दीख पड़ती है। बच्चों की उड़नखटोले और दो दानवों आदि की कहानियों का आधार यही आश्चर्यमय तत्त्व है। और हर घर में भोजनोपरान्त, रात के समय नियम से कही जाने वाली नानी की कहानी भी आश्चर्य के इसी विश्वजनीन भाव पर खड़ा होती है। इन कहानियों में घटनाओं के स्रोतरूप व्यक्तियों के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं होती; सच पूछो तो वे व्यक्ति श्रोता के सम्मुख साकार बन कर आते ही नहीं। यहाँ तो एकमात्र जिज्ञासा होती है "फिर क्या हुआ", "आगे क्या हुआ" और "अन्त में क्या हुआ।" आश्चर्य के इस विश्वजनीन तत्त्व पर खड़े किए गए उपन्यासों को हम घटनाप्रधान उपन्यास कहते हैं। अंग्रेज़ी में गुलिवर्स ट्रैवेल्स और डॉन क्विक्ज़ट आदि उपन्यास इस श्रेणी के हैं; और हिन्दी के प्रख्यात चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्तासन्तति नामक उपन्यास भी इसी कोटि में आते हैं।

इस श्रेणी के उपन्यास, केवल आश्चर्यजनक घटनाओं को कौतूहलवर्धक रीति से सज्जित करके लिखे जाते हैं और उनका मुख्य उद्देश्य पाठकों को मनुष्यजीवन की साधारण तथा अनोखी दुनिया में लेजाकर

उनका निराकरण करना होता है। ऐसे उपन्यास बहुधा दुःखान्त
है और घटना चक्र के समाप्त होने पर नायक अथवा नायिका
विजय घोषित कर देते हैं। "इनकी कुंजी किसी तहखाने, किसी गु
या ऐसे ही किसी स्थान में होती है जिसके मिलते ही उपन्यास का
खुल जाता है और उसकी मुसीबत इतिश्री हो जाती है।"

सामाजिक अथवा व्यवहार-संबंधी उपन्यास

जब कोई व्यक्ति बचपन को छोड़ यौवन में पग धरता है
अनायास ही उससे बहुत सी बातें छूट जाती है,
उनके स्थान पर उसमें अन्य बहुत सी बातें आ
है। वह व्यक्ति जबतक बालक था, उसे उड़नखटोले
कहानी रुचिकर लगती थी; वह "क्या हुआ" "फिर
हुआ" कहते हुए घंटों अपनी नानी के पास बिता
था। किंतु यौवन आ जाने पर वह बहुधा उस चमकते घटना-जाल
पराङ्मुख हो जाता है और अब वह समाज का एक सदस्य बन जाने
कारण मुख्यतया उन्हीं घटनाओं में योग देता है, जिनका समाज के
कोई संबंध हो और जो समाज के विशीर्ण हुए पटलों का परस्पर संमि
करती हों। समाज की इन्हीं परस्परान्वयिनी घटनाओं को लक्ष्
रख कर लिखे गये उपन्यास सामाजिक, चरितसंबंधी अथ
व्यवहारविषयक उपन्यास कहाते हैं। इस कोटि के उपन्यासों
आकर्षण कथानक से हट कर पात्रों, उनके पारस्परिक व्यवहारों व
समाज की रीति नीति आदि में केंद्रित हो जाता है। इन उपन्यासों
पात्र भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़ कर, तथा बहुविध व्यक्तियों
साथ संसर्ग में आने पर, किस भाँति व्यवहार करते हैं यही पाठक
मनोरंजन का प्रमुख साधन बन जाता है। परिस्थितियों की ऐसी परस्परा
गामिनि योजना, जिसके द्वारा उपन्यास के पात्र समाज के अधिक से अधि

सदस्यों के साथ संपर्क में आ सकें, इसी बात में इस कोटि के उपन्यासों की कलावत्ता संनिहित है। संस्कृत का दशकुमारचरित इसी कोटि की रचना है और हिंदी में श्री प्रेमचन्द के उपन्यास इस श्रेणी में आते हैं।

अंतरंग जीवन के उपन्यास

सभी आख्यायिकाओं तथा उपन्यासों की घटनाओं के घटित होने का कोई समय और देशविशेष होता है। सामाजिक उपन्यासों में तो उपन्यास का समाजविशेष के साथ संबंध जुड़ जाने के कारण देश और काल का उपकरण और भी अधिक व्यक्त हो जाता है। सामाजिक उपन्यासों के पात्र किसी देशविशेष में, किसी समयविशेष पर अपना अपना काम करते हैं। इस स्टेज पर रचनाकार का ध्यान समाज, उसके व्यक्ति; उनका समय और देश; इन बातों पर अधिक रहता है और उसकी वृत्ति बहुमुखी सी रहती है। अब एक पग आगे बढ़िए और समाज को भुला व्यक्तियों को काल के हाथ में सौंप, उन्हें उसके वश में हो अपने अपने जीवन का उद्घाटन करने दीजिए। जीवन के उस उद्घाटन में समाज आदि सब तत्व अप्रधान हो जाते हैं और एकमात्र जीवन और उसका अप्रसिद्ध प्रवाह रह जाता है। इस तत्व के आधार पर खड़े किए गए उपन्यासों को हम अंतरंग जीवन के उपन्यास कहते हैं। इन उपन्यासों में व्यक्ति का जीवन सदातन मनुष्यजीवन का प्रतीक अथवा संकेतमात्र बन जाता है और कलाकार उस प्रतीक में उसके अशेष जीवन को केंद्रित कर देता है। बहुधा सामाजिक उपन्यासों के पात्र आदि से अंत तक एक-सा ही स्वभाव लिए रहते हैं और उस स्वभाव के अनेक रंग रूप, परिस्थितियों के विविध पटलों को विविध रूप से रंजित करते चले जाते हैं। परंतु अंतरंगजीवनसंबंधी उपन्यासों में व्यक्ति का शरीर, उसका

मन और आत्मा एक साथ झलक उठते हैं। इनमें समय के अनिरुद्ध प्रवाह में पड़े हुए व्यक्तियों का सर्वस्व प्रत्यक्ष हो जाता है। और क्योंकि इस कोटि के उपन्यासों की भित्ति चिरंतन दार्शनिक तत्त्वों पर निहित होती है, इसलिए इनमें घटनाएँ और परिस्थितियाँ आप से आप, या विधिवशात्, पात्रों के जीवन में आ गई जान पड़ती हैं और पात्रों की जीवनकली के पटल उनका स्पर्श होते ही, आप से आप खुलते जाते हैं। कहना न होगा कि इस कोटि के उपन्यासों में रोचकता—जो कि उपन्यास का स्वभाव है—लाना कलाकार की सफलता का श्रेष्ठ निदर्शक है।

देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास

घटनाएँ किसी देश तथा कालविशेष में घटित होती हैं। सामाजिक उपन्यासों का चित्रपट भी देश और काल पर ही चित्रित होता है। अंतरंग जीवन को चित्रित करने वाले उपन्यासों में भी पात्र काल के प्रवाह में पड़ कर ही अपना विकास किया करते हैं। किंतु उपन्यासों की एक श्रेणी यह भी है, जिसमें देश और काल दोनों ही समानरूप से ध्यानस्थ रखे जाते अथवा दोनों ही समानरूप से विस्मृत कर दिए जाते हैं। देशकाल निरपेक्ष उपन्यासों का निदर्शन संस्कृत में बाणभट्ट द्वारा रची कादंबरी है कादंबरी की कथा में सारी घटनाएँ यद्यपि सरोवर, तट, राजगृह, राजसभा आदि स्थानों में और संध्या, चाँदनी रात, युवावस्था आदि समयविशेषों में घटित होती हैं, तथापि कवि ने अपनी चमत्कारिणी शक्ति के द्वारा अपने पात्रों को इतना अधिक सबल तथा मनोरम बना दिया है कि वे देश और समयविशेष की अपेक्षा न रख अपने आप में ही प्रदीप्त होते दीख पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा में ऐसा स्वरवैचित्र्य तथा ध्वनिगाम्भीर्य दीख पड़ता है कि यदि उसकी योजना

सुचारु रूप से की जाय तो उससे नाना वाद्ययंत्रों की ऐसी संमलि
संगीतलहरी लहरा उठती है और उसकी अंतर्निहित रागिनी ऐस
अनिर्वचनीय संपन्न होती है कि कविपंडित अपनी वाङ्निपुणता
सहृदय श्रोताओं को सुना कर मुग्ध करने का प्रलोभन किसी प्रकार म
संवरण नहीं कर सकते। इसी से जहाँ वाक्यावलि को संक्षिप्त कर विष
को द्रुत वेग से बढ़ाना आवश्यक प्रतीत होता है, वहाँ भी भाषा व
प्रलोभन संवरण करना उनके लिए कष्टसाध्य हो जाता है और विष
पद पद पर वाक्यावलि के भीतर प्रच्छन्न होकर अग्रसर होता है। विष
की अपेक्षा वाक्यविन्यास ही वाहवाह लेना चाहता है और इसमें व
बहुधा सफल भी हो जाता है। इसलिए बाणभट्ट यद्यपि बैठे थे उपन्या
लिखने पर लग गए शब्दावलि की वीणा को झंकृत करने में। वे अप
कथा को अग्रसर करने के लिए भी वाक्यावलि के विपुल सौंदर्यभार
न भुला सके। "उन्होंने संस्कृत भाषा को अनुचरों से घिरे सम्राट् की भाँ
आगे बढ़ा दिया है और कथा को पीछे पीछे प्रच्छन्न भाव से छत्रधर
भाँति छोड़ दिया है। भाषा का राजमर्यादा बढ़ाने के लिए कथा का
कुछ प्रयोजन है, इसी से उसका आश्रय लिया गया है; नहीं तो उसकी ओ
कवि की दृष्टि भी नहीं है।" ऐसी प्रच्छन्न कथा का देशकाल-निरपेक्ष होन
सुतरां स्वाभाविक ही है और सारी कादंबरी को पढ़ कर भी हमें शूद्र
के समय और उसके राजदरबार की याद नहीं आती। कादंबरी में घटना
और उनको घटाने वाले पात्र नहीं दीखते; वहाँ तो हमें प्रकृति के अने
रंग एक पिटारी में सजे हुए दृष्टिगत होते हैं। संपूर्ण उपन्यास अपनी को
का एक ही है और इसकी परंपरा अत्यंत विरल तथा वर्तमान काल
लुप्तप्राय हो चुकी है।

उपन्यासों को घटनाप्रधान उपन्यास, सामाजिक उपन्यास; अंतरंगसंबंधी उपन्यास तथा देशकालनिरपेक्ष उपन्यास इन चार विभागों में विभक्त करके अब हमें उनके निर्मायक तत्त्वों का दिग्दर्शन कराना है। उपन्यास के निर्मायक तत्त्व छः हैं—यथा वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य।

कथावस्तु

मनुष्य स्वभावतः क्रियाशील प्राणी है। संसार में अविरत रूप से होने वाले परिवर्तन में वह भी फँसा हुआ है। उसकी इस सचेष्टता और गतिशीलता में ही उसका जीवन है उसकी इस गतिशीलता से ही उसके जीवन की घटनाओं का प्रादुर्भाव होता है। इन घटनावलियों के द्वारा ही उसकी आत्मा अपने चरम सौंदर्य को फिर से प्राप्त करता है। जीवन की इन घटनावलियों को ही हम कथावस्तु कहते हैं। इन घटनाओं का विधाता मानव ही उपन्यास में पात्र कहाता है। ये पात्र परस्पर वार्तालाप द्वारा कथावस्तु को आगे बढ़ाते हैं; इसी तत्त्व को हम कथोपकथन कहते हैं। ये घटनाएँ किसी समय तथा देशविशेष में होती हैं; इस समय और देशविशेष को ही हम देशकाल, परिस्थिति अथवा वातावरण कहते हैं। जीवन में विकसित होने वाली इन घटनाओं को उपन्यासकार एक ढंगविशेष से दर्शाता है; यह ढंग ही उपन्यास की शैली कहाता है। प्रत्येक उपन्यासकार जीवन में होने वाली घटनाओं को अपने एक विशेष ढंग से पढ़ता है। समान रूप से होने वाली घटना को देख दो कलाकार परस्परप्रतीपी दो परिणाम निकाल लेते हैं। साहित्य में कभी भी एक वस्तु दो कलाकारों को एक सी नहीं दीखती। फलतः प्रत्येक साहित्यिक रचना में उसके निर्माता का व्यक्तित्व प्रच्छन्नरूपेण विद्यमान रहता है। उपन्यास के ऊपर

पड़ी हुई व्यक्तित्व की इस छाया को ही हम उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत क
गई जीवन की आलोचना, व्याख्या, जीवनदर्शन अथवा उद्देश्य इन नाम
से पुकारते हैं।

उपन्यास के कथनीय विषय को वस्तु कहते हैं; और क्योंकि यह ए
कल्पित कथा के रूप में होता है, इसलिए इसका नाम कथावस्तु भी है
हम देखते हैं कि हमारा जीवन किसी अदृष्ट के अधीन हो बार बार परि
वर्तन के चक्र में घूमा करता है। इस परिवर्तन में विन्यास का लेश नहीं
यह उथल-पुथल और भाँति भाँति की क्रांतियों से व्याकुल है। हम सोच
कुछ हैं और हो जाता है कुछ और ही। घटनाएँ हम नहीं घटित करते
वे अनायास ही हमारे द्वारा घट जाती हैं। परिवर्तन और क्रांतियों के इ
अस्तव्यस्त पड़े मनकों को इनकी अंतस्तली में अनुस्यूत हुए ऐक
सूत्र में पिरो देना ही कलाकार की सब से बड़ी कथावस्तु है।

परिवर्तन के ये मनके अगणित हैं। इनकी संख्या के समान इनक
बहुविधता भी आश्चर्यकारी है। किंतु महत्त्व तथा पारमार्थिकता की दृष्टि से
इन मनकों में भी तारतम्य है। इनमें से बहुत से मनके तो जन्मते ही नष्ट
हो जाते हैं; उनका जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे जीवन की विपु
माला में न होने के समान हैं। दूसरे मनके विशेष रूप से गतिमान् तथ
शक्तिशाली होते हैं। उनका जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है; जीवन क
माला में ये जाज्वल्यमान नगों की भाँति चमका करते हैं।

चतुर उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह अपनी कथावस्तु को जीवन
माला के इन जाज्वल्यमान नगों से घटित करे। वह अपन
रचना का विषय ऐसे तत्त्वों तथा घटनाओं को बना
जो जीवनस्रोत के समीपी हैं; जो पात्रों के समा

किस प्रकार के कथावस्तु पर

खड़ा होने वाला उपन्यास चिर-जीवी होता है

पाठकों के लिए भी मार्मिक होने के कारण उनके मनोवेगों को, रस के साथ आंदोलित कर सकें। यदि उपन्यासकार चाहे तो अपनी कथावस्तु को मौलिक प्रेम की सामान्य घटनाओं में गढ़ सकता है; वह चाहे तो अपना उपन्यास मानवर्ग के सामान्य तत्त्वों पर खड़ा कर सकता है। किंतु इन दोनों ही प्रकार के उपन्यासों में चिरस्थायिता न होगी। दूसरी ओर वह प्रेम को शारीरिक परिधि से बाहर निकाल उसे आत्मिक बनाता हुआ अत्यन्त ही मार्मिक तथा निगूढ़ अनुभूति के रूप में परिणत कर सकता है; ऐसी अनुभूति, जो हमारे जीवन की चिरसंगिनी होती है, जो हमारे आत्मा में "तान" की तरह घुसी होती है, जो जैसी हम में वैसी ही संसार के अन्य सभी प्राणियों में घुसी रहती है। प्रेम की इस करुण कथा में वह शेक्सपीयर की भाँति ईर्ष्या आदि के भावों को प्रविष्ट कर उसे और भी अधिक घन तथा सांद्र बना सकता है। उस प्रेम का परिपाक करने के लिए नायक-नायिकाओं के द्वारा किए गए लोकोत्तर कृत्यों का का वर्णन कर वह उसमें चार चाँद लगा सकता है; अमूर्त प्रेम को गतिमत्ता प्रदान कर उसे मूर्त बना सकता है और विविध प्रकार से उसमें आंदोलनी शक्ति भर सकता है। कहना न होगा कि प्रेम के इस विशुद्ध रूप पर खड़ा किया गया उपन्यास चिरजीवी होगा, दैहिक प्रेम के रूप में यह भी सदा मनुष्यों के हृदयाकाश में चंद्रमा की भाँति चमकता रहेगा। यह तो हुई केवल प्रेम और उसके आधार पर खड़े होने वाले उपन्यासों की बात। कलाकार चाहे तो इस प्रेम को समाजक्षेत्र में ला उसके रमणीय रूप में समाज की बहुरूपिता से उत्पन्न हुई बहुमुखता उत्पन्न कर उसे और भी अधिक व्यापक रूप दे सकता है। प्रेम-

चन्द्र की भाँति वह इस प्रकरण में समाज की सभी साधक तथा घातक प्रवृत्तियों को निदर्शित कर सकता है। इस काम को करता हुआ वह चाहे तो समाज के संमुख अप्रत्यक्ष रूप से अपने मंतव्य भी रख सकता है। समाज की भाँति समाज के बहुविध प्रेम को वर्णन करने वाला यह उपन्यास भी चिरजीवी होगा। संसार की बहुमुखता से पराङ्मुख हो अपनी ओर लौटता हुआ कलाकार अपने अंतरंग को भी उपन्यास के रूप में जनता के संमुख रख सकता है। अब वह एक फव्वारे के समान सारे घटनाचक्र को अपने भीतर से ही निकाल उसका विश्लेषण कर सकता है। जिस प्रकार एक ऊर्णनाभ विपुल ऊर्णतंतु को अपने भीतर से निकाल फिर उसे अपने भीतर ले लेता है, इसी प्रकार एक कलाकार भी आत्मघटित घटनाओं को फिर अपने ही भीतर आत्मसात् कर सकता है। इस प्रकार इस कोटि के उपन्यास में वह अपने अशेष व्यक्तित्व को मुखरित करता हुआ उसके द्वारा संसार भर के व्यक्तित्व को प्रस्फुटित कर सकता है। कहना न होगा कि आत्मा के समान, उसकी घटनावलियों का वर्णन करने वाला यह उपन्यास भी चिरस्थायी होगा।

कथावस्तु के लिए रोचक होना आवश्यक है

उपन्यास के विषय को केवल वस्तु न कहकर हमने उसे कथावस्तु कहा है; इसका आशय यह है कि जिस प्रकार कथा रोचक होती है, उसी प्रकार उपन्यास के विषय में भी रोचकता का होना अत्यन्त आवश्यक है। आज हम उपन्यास को उपदेशामृत पान के लिए नहीं पढ़ते। जीवन के तुमुल संघर्ष का चित्र भी उसको पढ़ते समय हमारे मन में नहीं उद्बुद्ध होता। इस उद्देश्य के लिए हम बहुधा कविता अथवा नाटक पढ़ा करते हैं। दैनिक जीवन की संकुलता से थककर अ

हम चूर चूर हो जाते हैं, तब आत्मप्रवण उपन्यासों को पढ़ हम अपना मन बहलाते हैं, तब दैनिक जीवनचक्र के वेग द्वारा रबर की भाँति फैला हुआ हमारा अंतःकरण, उन वेगों से छुट्टी पा फिर अपने मौलिक घन रूप में आ जाता है। फलतः उपन्यास की कथावस्तु में प्ररोचकता का होना नितांत आवश्यक है। इस तत्त्व के न होने पर अच्छे से अच्छा उपन्यास भी अनुपादेय हो जाता है।

कथावस्तु में सत्यता का होना आवश्यक है

जीवन के चित्रण को हमने उपन्यास बताया था; और जीवन विप्लवरूप होने पर भी एक सच्ची घटना है। इस यथार्थ घटना को यथार्थ घटना बनाकर ही प्रस्तुत करना कलाकार का प्रमुख कर्तव्य है। उपन्यासकार जीवन का, चाहे जिस किसी भी घटना या स्थिति को लेकर अपना काल्पनिक चित्रपट प्रस्तुत करे, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस घटना या स्थिति के रहस्यों और विशेषताओं पूर्णतया परिचित हो। उदाहरण के लिए, यदि एक उपन्यासकार कि ल की ऐतिहासिक स्थिति को अपने उपन्यास द्वारा उपस्थित करना ाहता है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह उस काल की सामाजिक, जनीतिक तथा धार्मिक आदि परिस्थितियों का पूरा पूरा अनुशीलन करे। सके लिए यह जानना आवश्यक है कि उस काल में राजाओं, रानियों, जकुमारों, राजकुमारियों, राज्य के बड़े बड़े अधिकारियों, सेनाओं तथा जागण के रहन सहन का क्या ढंग था, शासनव्यवस्था कैसी थी, धार्मिक स्थिति कैसी थी। इन बातों को हृदयंगम किए बिना ही वैदिककाल, द्धकाल, गुप्तकाल, मुगलकाल आदि की घटनाओं को उपन्यासबद्ध ना अनुचित होगा।

उपन्यासवस्तु के विषय में सर्वप्रथम विचारणीय बात यह है कि क्या उसकी कथा चित्ताकर्षक अथवा वर्णन करने योग्य है, और वह उचित रूप से कही गई है। इसका आशय यह हुआ कि यदि हम उसकी सूक्ष्म आलोचना करें तो हमें उसमें निम्नलिखित प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मिलना चाहिए :--

कथावस्तु के अनिवार्य उपकरण

१. "उसमें कहीं कोई बात छूटी तो नहीं जान पड़ती; अथवा उसमें परस्पर विरोधी बातें तो नहीं कही गई हैं ?

२. क्या उसके सब अङ्गों में परस्पर साम्य और समीचीनता है ? ऐसी तो नहीं है कि किसी ऐसी घटना के वर्णन में कई पृष्ठ रँग डाले गये हों, जिसका कथावस्तु से कोई प्रत्यक्ष संबंध न दीख पड़ता हो, अथवा किसी पात्र का कथन या भूमिका बहुत लंबी चौड़ी कर दी गई हो; किंतु कुछ आगे बढ़ते ही वह भूमिका तुच्छ या सामान्य बन जाती हो ?

३. क्या उसमें वर्णित घटनाएँ आप से आप अपने मूल आधार से, या एक दूसरी से प्रसूत होती चली जाती हैं ?

४. क्या साधारण से साधारण बातों पर लेखक की लेखनी चलकर उन्हें लोकोत्तर बनाने में असमर्थ हुई है ?

५. क्या घटनाओं का क्रम ऐसा रखा गया है, जिसमें वे हमको असंगत अथवा अस्वाभाविक न जान पड़ती हों ?

६. क्या उसका अन्त या परिणाम वर्णित घटनाओं के अनुकूल है और क्या कथा या वस्तु का समाचार पूर्वापर विचार से ठीक ठीक हुआ है ?"

यदि उक्त प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मिल जाय तो समझो कलाकार उपन्यास लिखने में सफल हुआ है, अन्यथा नहीं।

कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यासों के दो भेद

हडसन ने कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यासों के दो भेद किए हैं, एक वे जिनकी कथावस्तु असंबंध अथवा शिथिल होती है, दूसरे वे, जिनकी कथावस्तु संबंध तथा सुगठित होती है। प्रथम कोटि के उपन्यासों में घटनाएँ एक दूसरी पर आश्रित नहीं रहतीं और न उत्तर घटना अतीत घटना का आवश्यक या अनिवार्य परिणाम ही होता है। इन परस्पर संबद्ध घटनाओं को एकता के सूत्र में पिरोने वाला व्यक्ति उपन्यास का नायक होता है। उसी के विशिष्ट चरित्रों को लेकर उपन्यास के भिन्न भिन्न अवयवों का ढाँचा खड़ा किया जाता है। दूसरी कोटि के उपन्यासों में घटनाएँ एक दूसरी से संबद्ध रहती हैं, और धारावाहिकरूपेण एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी इस प्रकार प्रसूत होती चली जाती है। ऐसे उपन्यास एक व्यापक विधान के अनुरूप बनाए जाते हैं, और उनकी सार्थकता घटनाप्रसूत पर निर्भर रहती है। कहना न होगा कि संबद्ध तथा असंबद्ध दोनों प्रकारों के समुचित सामंजस्य में ही उपन्यासकार की इतिकर्तव्यता है।

एकता की दृष्टि से कथावस्तु के दो भेद

एकता की दृष्टि से हम कथावस्तु को सामान्य तथा समस्त इन दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। सामान्य कथावस्तु वह है, जिसमें उपन्यास को एक ही कथा के आधार पर खड़ा किया गया हो; और समस्त कथावस्तु वह है, जिसमें एक से अधिक कथाओं का समावेश हो। समस्त कथावस्तु के विषय में यह बात याद रखना चाहिये कि उसमें संकलित की गई कथाओं का विकास इस विधि और क्रम से किया जाना चाहिए कि वे सब मिल कर एक बन जायँ और उपन्यास में एकता की निष्पत्ति हो जाय।

कथावस्तु की विधाओं के साथ साथ उसके कहने के ढंग भी तीन

पहले में उपन्यासकार इतिहास-लेखक का स्थान ग्र

कथावस्तु के कहने के तीन ढंग

करके, वर्णनीय वस्तु से अपने को पृथक् रख अपने वस्तुविन्यास का सहज विकास करता हुआ, पाठ को अपने साथ लिये हुये, उपन्यास के परिणाम पहुँचता है। दूसरे ढंग में कलाकार नायक का आत्मचरित उसके मुँह अथवा किसी उपपात्र के मुँह से कहलाता है और तीसरा प्रकार वह जिसमें प्रायः पात्रों आदि के द्वारा कथा का उद्घाटन कराया जाता तीसरा ढंग बहुत कम और पहला बहुत अधिक उपयोग में आता है; उपन्यासकार को अपनी कलाकारिता दिखाने का यथेष्ट अवसर ता ही ढंग में मिलता है।

कथावस्तु के अनन्तर उपन्यास में ध्यान देने योग्य वस्तु पात्र तथा उन

पात्र तथा चरित्रचित्रण

चरित्रचित्रण है। हमने कहा था कि एक उपन्यास अपने पाठकों के सम्मुख जीवन को मायाजाल बना प्रस्तुत किया करता है और चाहता है कि हम भी उ मायाजाल को मानें, उसमें लीन हो जाँय, उसको प्रकार देखें, सुनें और छुयें जैसे उसने इसे देखा, सुना और छुआ संक्षेप में हम उसके साथ मिलकर एक बन जाँय। अब यदि किसी उपन्य को पढ़ कर आप के मन में यह बात उत्पन्न हो जाती है, यदि उसे प समय उसके पात्र आपके संमुख पंक्तिबद्ध हो खड़े हो जाते हैं, तो समझि वह उपन्यास चरित्रचित्रण की दृष्टि से उत्तम सम्पन्न हुआ है; और उसे पढ़ते समय उसके पात्र आपको छाया की भाँति कहीं दूर दूर, पुटे में, उखड़े-पुखड़े दीख पड़ते हैं, तो समझिए वह उपन्यास अपने संपादन में असफल रहा है।

कविकल्पना द्वारा पाठक पात्रों के साथ ऐक्य अनुभव करते हैं

यहाँ प्रोफेसर हडसन ने यह प्रश्न उठाया है—और हिंदी के आलो
ने उसकी आवृत्ति भी की है—कि एक उपन्यासकार
पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य कैसे बन जाता
और क्यों हम उन्हें अपने जैसा शरीर, चे
लिये देखने लगते हैं। इस समस्या का विवे
उपन्यास के प्रकरण में करना अनुचित है; क्यों
यह बात तो साहित्यमात्र का समान काम है और कवि
तथा नाटक में इस तादात्म्य की निष्पत्ति उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधि
होती है। हमने साहित्य तथा कविता आदि पर विचार करते समय
इसका रहस्य कवि की कल्पनाशक्ति अपने तथा अपने पात्रवर्ग के
भीतर प्रवाहित होने वाले ऐक्यसूत्र में निर्धारित किया है। जब हम
वस्तुस्थिति पर मार्मिकदृष्ट्या विचार करते हैं तब हमें भिन्न भिन्न मनुष्य एक
एक विच्छिन्न द्वीप के समान दीख पड़ते हैं। उनके बीच में अपरिमेय अश्रु-
लवणाक्त समुद्र मँडरा रहा है। दूर से जब एक दूसरे को देखता है, तब
मन में यह भासता है कि हम लोग एक ही महादेश के रहने वाले थे, अब
किसी के शाप से बीच में विच्छेद का विलापसमूह फेनिल होकर उमड़ पड़ा
है। दूर से भासमान होने वाला यह ऐक्य कलाकार की कल्पनामयी रचना
में और भी अधिक रमणीय बन कर हमारे संमुख आता है। रचनाकार की
कल्पना के नीहार में भागे हुए उसके पात्र हमें दीखते भी हैं और नहीं भी
दीखते, सुनाई भी पड़ते हैं और नहीं भी सुनाई पड़ते, हमारे द्वारा छुए भी
जाते हैं और नहीं भी छुए जाते। इस है और नहीं के संमिश्रण में ही
कलाकार की सर्वश्रेष्ठ दक्षता का प्रादुर्भाव होता है। और जहाँ
कविता के क्षेत्र में यह संमिश्रण अत्यंत ही घन तथा सांद्र बन
कर हमारे संमुख आता है वहाँ उपन्यास की परिधि में

यह तरल तथा विस्तीर्ण होकर प्रकट होता है; क्योंकि जहाँ कविता जीवन की समष्टि को उसकी व्यष्टि के रूप किसी एक तत्व में केंद्रित करके हमारा उसके साथ तादात्म्य स्थापित कराती है, वहाँ उपन्यास जीवन के विस्तार में घूमता हुआ हमें वहाँ के वन-आरामों का दर्शन कराता है ?

कथा का कथन प्रकार

उपन्यास की परिधि को देखते समय हमने कहा था कि उपन्यासकार की इतिकर्तव्यता उस कला में है; जिसके द्वारा वह अपने जीवन-संबन्धी दर्शन को पाठकों तक पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उसकी सफलता उसके द्वारा कल्पित की गई कथा को कहने के प्रकार में है। निश्चय ही एक निबन्धकार की भाँति वह जीवन के विषय में बातें नहीं करता; और नहीं वह एक चरित्रलेखक की भाँति किसी जीवनविशेष को ही जनता के संमुख रखता है। वह तो जीवन को आविर्भूत करता है, जीवन की कला को खिला कर हमारे समक्ष रखता है; और इसके लिए उसका सब से बड़ा समस्या यह है कि वह किस प्रकार अपने पाठकों को अपने ही समान अपने पात्र दिखावे, सुनावे और छुवावे।

उपन्यासकार की व्यापिनी समदृष्टि

प्रतिभाशाली कलाकारों के लिए यह समस्या सदा से सामान्य रहती आई है। उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि समस्त कथा को एक साथ आद्योपात देखकर उसका ऐसा विन्यास करती है कि पाठक तन्मय हो जाते हैं और वे अपनी कथा को, चाहे जिस प्रकार कहें, पाठकों का मन उस से नहीं ऊबता टाल्स्टाय, बाल्झाक तथा प्राउस्ट की रचनाएँ इस बात का निदर्शन हैं।

किन्तु सभी उपन्यासकार टाल्स्टाय के समान विश्वव्यापिनी दृष्टि

वाले नहीं होते। इनके मन में इस प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है कि कथा कहते समय उसका कहने वाला किस बिंदु पर ठहरे? क्या उसे भी उपन्यास में घुसकर उसकी कथा के किसी पात्र के साथ एक बन जाना चाहिए; या उसे अपने व्यक्तित्व को नितरां प्रच्छन्न रखते हुए कथा और उसके पात्रों से छिपा रहना चाहिए; अथवा उसे एक व्यापक बन कर घटनाओं के क्रम पर टीकाटिप्पणी करते हुए उन्हें अग्रसर करने वाला बनना चाहिए। इसी प्रकार, लेखक की भाँति पाठक के विषय में भी यह प्रश्न हो सकता है कि उपन्यास पढ़ते समय पाठक की कौन सी वृत्ति हो? क्या उसे उपन्यासकार के संमुख खड़ा होकर उसके मुँह उसकी कहानी सुननी है, अथवा उसे वहाँ खड़ा होकर अपने सामने घटित होने वाली घटनाएँ देखनी हैं। इसके अतिरिक्त क्या उपन्यास की कथा केवल एक ही दृष्टिकोण से दिखाई जानी है, और यदि ऐसा है तो क्या यह कोण कथा से बाहर का है, अथवा उसी के भीतर रहने वाले किसी पात्रविशेष का है, अथवा उस कथा का दृष्टिकोण इस बिंदु से उस बिंदु पर होते हुए अनेक बिंदुओं पर केंद्रित होना है? साथ ही उस कथा का लक्ष्य क्या होना है? क्या वह विश्वदर्शीय निदर्शन है, जैसा कि टाल्स्टाय, बाल्जाक और थैकरे की रचनाओं में दीख पड़ता है, या किसी परिस्थिति को उत्पन्न करने वाले रहस्य घटनाजाल को अभिनीत करना है, जैसा हेनरी जेम्स की रचनाओं में दीख पड़ता है, या किसी विषय को निदर्शित करना है, जैसा वेल्स करते हैं, अथवा यह कोई वृत्तिविशेष की परिधि में संपुटित हुआ एक निर्धारित दृष्टिकोण है, जैसा कि जेन ऑस्टिन की सामाजिक सुखवृत्ति को दिखाने वाली प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष होता है। इन सब बातों से भी बढ़कर अधिक महत्त्व

कथा के कथन प्रकार के विषय में अनेक समस्याएँ

वाली बात यह है कि उपन्यासकार अपने घटनाजाल को आरंभ में किस प्रकार गतिमान् बनावे और एक बार गतिमान् बना कर उसको किस प्रकार चरम परिणाम की ओर अग्रसर करे।

लोगों का विश्वास है कि उपन्यास में जीवन डालना पात्रों का काम है; क्योंकि उपन्यास में हमें पात्रों को जन्म देने वाली पात्रों का निर्माण घटनासंतति की अपेक्षा पात्रों के दर्शन कहीं अधिक प्रत्यक्ष घटनाओं की सतत रूप से होते हैं। साथ ही एक उपन्यासकार के हाथों प्रसूति पर निर्भर है किसी पात्र की परिनिष्ठित रचना हो चुकने पर वह उस कृति की परिधि से बाहर हो हमारे यथार्थ जीवन और साहित्य दोनों के लिए समानरूप से आदर्श बन जाता है। किंतु स्मरण रहे, घटनाओं की धारावाहिक प्रसूति के बिना पात्रनिर्माण नहीं हो सकता; क्योंकि संसार में अविरतरूप से प्रवाहित होने वाली घटनानदी में पात्र एक बुद्बुद् के समान है; वह क्रियारूप घटना का प्रतीकमात्र है, उसका आभासमान मूर्त रूप है। हम बाणभट्ट की महाश्वेता को इस रूप में नहीं जानते कि वह एक पीयूषवाहिनी ललनापात्र थी अथवा कादंबरी से पृथक् उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता थी। हम तो उसे कादंबरी में घटित होने वाली परम पावन क्रियाप्रसूति का एक मूर्त आविर्भावमात्र मानते हैं; महामहिम बाणभट्ट की सततप्रदीप्त प्रतिभाज्वाला की एक चिनगारीमात्र समझते हैं। इससे पहले कि हम व्यक्तित्व को मूर्तरूप में देखें, हमें उसे देश और कालविशेष की रूपरेखा में बाँधना होगा, और हमारी यह बंधनक्रिया घटना जाल के बिना असंभव है। इसलिए किसी भी उपन्यासकार की सब से बड़ी समस्या यह है कि वह अपने घटनाजाल के लट्टू को किस प्रकार और कितने वेग से उपन्यासपट्ट पर फेंके—

इस काम के लिए अब तक दो उपायों का अवलंबन किया जाता रहा

कथनप्रणाली के दो प्रकार: अभिनयात्मक व्याख्यात्मक

है, जिनमें से पहला अभिनयात्मक है और दूसरा व्याख्यात्मक। पहले प्रकार में पाठक की आँख सीधे, रंगमंच पर खड़े हुए पात्र पर टिकी रहती है। और दूसरे प्रकार में वह लेखक के द्वारा दिए गए उनके वर्णन के झरोखे में से उन्हें देखता है। संसार के अधिकतर उत्कृष्ट उपन्यास या तो पहले ही प्रकार में कहे गए हैं, अथवा एकान्ततः दूसरे में। उदाहरण के लिए, टाल्स्टाय का आन्ना करेनिना नामक उपन्यास एकान्ततः मानो रंगमंच पर खेला गया है। इसमें घटनाओं का अधिक विकास बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है, और इसे पढ़ते समय पाठक अपने को क्रम से घटित होने वाली घटनाओं के सामने खड़ा पाता है। वह उन सब पात्रों को अपने से एक हाथ की दूरी पर सजे हुए रंगमंच पर संचरण करते देखता है। जीवन के साथ इतनी घनिष्ठता और किसी भी उपन्यास को पढ़ कर निष्पन्न नहीं होती।

व्याख्यात्मक उपन्यासों का उदाहरण

व्याख्यात्मक उपन्यासों का सब से सुंदर निदर्शन बाल्ज़ाक की रचनाएँ हैं। इनमें घटनाओं का चक्र चलने से पहले उनके लिए अपेक्षित वातावरण को विस्तार के साथ बढ़ा जाता है। क्या इतिहास, क्या नगर, क्या राजपथ, क्या मकान, कमरे; झोंपड़ियाँ, यहाँ तक कि वर्तमान युग की आर्थिक संकुलता, सभी को विस्तार के साथ पाठक के संमुख रखा जाता है। वर्णन करने की यह शक्ति इतने अधिक रोचक और विकसित रूप में संसार के अन्य किसी भी उपन्यासकार में नहीं पाई जाती।

अभिनयात्मक और व्याख्यात्मक दोनों उपायों का संमिश्रण आर्नल्ड बेनेट रचित दी ओल्ड वाइव्ज़ टेल में अत्यंत ही सुंदर

दोनों उपायों का संमिश्रण : बेनेट में

संपन्न हुआ है। इस उपन्यास को लिखने का विचा
उनके मन मे कैसे आया, यह बताते हुए वे लिखते हैं
एक दिन उन्होंने एक भोजनालय में एक मोटी भद्दी, त
व्ययिनी महिला को देखा। वह इतनी अजीब सी बनी थी कि सभी उस
हँस रहे थे; इतने में बेनेट ने सोचा कि क्या ही अच्छा हो यदि को
उपन्यासकार उसके यौवन के भग्नावशेषों पर अपना कथानक खड़ा
उसके इतिहास को लिख डाले। क्योंकि यह कितना करुणाजनक दृश्य है
यही व्ययिनी महिला एक दिन यौवन की लहरियों में झूमती हुई दर्शकों
मुग्ध किया करती थी; इसके मन में भी एक दिन उमगें थीं, उल्लास
और विलासभरी आकांक्षाएँ थीं। और इस बात से कि उसके व्यक्ति में
विपुल परिवर्तन को प्रतिक्षण प्रतिवस्तु में होने वाले छोटे छोटे परिवर्तनों
उस लड़ी ने उत्पन्न किया है, जिसे वह अपने ऊपर घटित होता देखकर
न देख सकी थी, उसकी जराजन्य करुणोत्पादकता कहीं अधिक बढ़ जात
है। उन्होंने अपने इस उपन्यास मे नायिका तो दो रखी हैं किंतु टाल्स्टाय
प्रख्यात उपन्यास 'वार एण्ड पीस' की भाँति नायक एक ही रखा है औ
वह है समय।

दी ओल्ड वाइव्ज़ टेल

बेनेट ने अपने उक्त उपन्यास मे दो जीवनों को समाप्त करने वा
युग की अप्रतिहत प्रगति को हृदयंगत करते हुए, सम
की न दीखने वाली उड़ान और परिवर्तन की न सुन पड़
वाली पगध्वनि को—जो एकमात्र स्मृतितंतुओं द्वारा अनु
मेय है, अथवा जिसे हम मन तथा हृदय में निहित हु
निगूढ़ अनुभूति की स्तरावलियों में ही पढ़ सकते हैं—बड़े ही मार्मिक प्रका
से निदर्शित किया है।

घटनाओं के वर्णन में अभिनय तथा व्याख्यान दोनों उपायों

संमिश्रण से काम लिया गया है। जहाँ हम इस उपन्या
प्रवीणता के साथ निर्धारित किए गए दृश्यों में पात्रों को अपनी
का अभिनय करता देखते हैं, वहाँ साथ ही हमें इसमें वाताव
रेखित करने वाले, अथवा घटनाजात को बाह्यजगत् से हटा
कीलित करने वाले अत्यंत ही विशद और नानाविषयक विष्कंभक
होते हैं। उपन्यास की दोनों नायिकाओं को हम उनके अछूते
उभरी हुई अपने सामने खड़ी देखते हैं; और तब कौंस्टांस एक
युवती के रूप में विलसित होती हुई स्थूलकाय बनती है, अधेड़
बनकर मोटी, मूर्ख और मधुरस्वभाव वाली बनती है, फिर वह
माता बनती हुई अपने सीरिल नामक पुत्र को प्यार करती है और
हमारे संमुख अपनी मृत्युशय्या पर आती है; और यही उसके जी
आद्योपांत कथा है। दूसरी ओर हम सोफिया को अपने गृहहोटल को
में व्यस्त हुई, दिनरात "पैसा पैसा" इसी एक धुन में व्यग्र हुई, और
जिस तरह हो, एक आहत मालिक मकान बनने की अभिलाषा में रत
देखते हैं। और अंत में वह हमारे सामने एकांत में अपने उस मृतपति
देह पर, जिसे उसने गत तीस वर्षों से नहीं देखा था, रोती हुई आती है।

सफल उपन्यासकार की कला में एक ऐसी रहस्यमय शक्ति निहित रह
है जिसके द्वारा वह अपने पात्रों में देश और समय के
अनुकूल छोटा बड़ा बन जाने की शक्ति ला देता है; और
इस काम को सचमुच एक विलक्षण प्रतिमा ही कर सकती
है। विश्व के उपन्यासकारों में यह बात केवल टाल्स्टाय
में संपन्न हुई है; और उनकी प्रख्यात रचना 'आन्ना
करेनिना' के पात्र यद्यपि उन्नीसवीं सदी के अंत में होने
वाले रूसी हैं, तथापि उनके प्रधान पात्र आन्ना और लेविन ...

फल उपन्यास-
कार के पात्र
काल के अनु-
र छोटे बड़े
-न जाते हैं

और अपनी लघिमा में समस्त तथा सार्वकालिक विश्व के साँचे पात्र हैं।

पात्रों के चरित्रनिर्माण में कथोपकथन का बहुत महत्त्व है। इस द्वारा हम पात्रों से भलीभाँति परिचित होते और इस काव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कु अनुभव करते हैं। कथोपकथन वस्तु को कथा का रू देता है और उसमें गतिशीलता ला देता है।

कथोपकथन

यद्यपि देखने में कथोपकथन का संबंध घटनाओं के साथ सीधा प्रत होता है, तथापि उसका संबंध पात्रों के साथ अधिक गहरा है। पात्र बातचीत करते हैं और उसके द्वारा अपने विविध भावों को अभिव्यक्त कर हैं। पात्रों की मानसिक तरंगें वर्णन के द्वारा भी व्यक्त की जा सकती किंतु कथोपकथन के द्वारा होने वाली भावाभिव्यक्ति जहाँ अभिनयात्मक हो के कारण चिरस्थायी रहती है, वहाँ साथ ही वह बिजली के समान गतिम भी होती है। पात्र के मुख से निकला हुआ एक शब्द भी यदि उपन्यास ठीक जगह बिठा दिया जाय तो वह वर्णन के पृष्ठों के पृष्ठों को पीछे छ देता है, और अपनी जगह बैठा हुआ ही सारे उपन्यास को प्रदीपित कर रहता है। कथोपकथन और वर्णन में यही भेद है कि पहले में पा स्वयं बोलते हैं तो दूसरे में उपन्यासकार अपने मुँह उनके मन क बात कहता है।

कथोपकथन का प्रथम उद्देश्य वस्तु का विकास और पात्रों का चरि चित्रण करना है। ऐसा कथोपकथन, जो उक्त उद्देश को पूरा न करता हो, सुतरां हेय है। कथोपकथन स्वाभाविकता, उपयुक्तता और अभिनयात्मकत होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि हम किसी पा का जैसा चरित्र चित्रित कर रहे हों, और जिस स्थिति में, तथा जिस अवस

पर वह कुछ कर रहा था, उसी के अनुकूल उसकी बातचीत भ
चाहिए। साथ ही वह बातचीत सुसंबद्ध, सरल, स्पष्ट और मनोरम भी
चाहिए। ये गुण कथोपकथन के मूल तत्त्व हैं। इनके बिना बातचीत
बड़ी, नीरस, भद्दी और अनुपयुक्त जान पड़ेगी।

कथोपकथन में एक बात और ध्यान देने योग्य है, और वह है यह,
उसमें पात्रों का व्यक्तित्व प्रतिफलित होना चाहिए, अर्थ
जो पात्र जिस कोटि और प्रकार का बातचीत कर
शोभायमान हो, उससे उसी प्रकार की बातचीत करानी
चाहिए। व्यक्तित्व के इस अंश को अक्षुण्ण बनाए रखने
के लिए ही हमारे संस्कृत नाट्याचार्यों ने भिन्न भिन्न स्थिति
के पात्रों में भिन्न भिन्न भाषा तथा प्रकार से वार्तालाप करने की परिपाटी
चलाई थी। उपन्यास में कथोपकथन की यही मर्यादा होनी चाहिए, जिससे
पाठक सुनते ही कह दें कि यह वार्तालाप अमुक कवि के पात्रों का हो सकता
है, दूसरों का नहीं।

कथोपकथन में पात्रों के व्यक्तित्व का संरक्षण

उपन्यास के पात्र किसी देश और काल विशेष की परिधि में रह कर
ही उसके कथावस्तु को संपन्न करते हैं। देश और
काल की परिभाषा में उपन्यासवर्णित उस देश के आचार-
विचार, रीतिरिवाज, रहनसहन और परिस्थिति आदि स
आ जाते हैं। देशकाल को हम दो भागों में बाँट सकते हैं एक सामाजि
और दूसरा ऐतिहासिक या सांसारिक।

देशकाल

समाज की समस्त श्रेणियों के नानामुख जीवन को कथारूप देना
विरली ही प्रतिभाओं का काम होता है। सामान्य
कलाकार उसके किसी पक्षविशेष को लेकर उसका
चित्रण किया करते हैं। इसके अनुसार साधारणतया

काल में
ता

कतिपय उपन्यासों में गृहस्थ को कटु बनाने वाली कलहप्रिय स्त्रियों क
चित्रण होता है, किन्हीं में भावप्रवण युवकों का उत्थान और पतन दिखाय
जाता है, किन्हीं में धनिक वर्ग के विलास का उल्लास दिखाकर निर्धनों क
अकिंचनता को कठोर बनाकर दिखाया जाता है, और किन्हीं में देश क
औद्योगिक, आर्थिक तथा कलासंबंधी दशा का निरूपण किया जाता है
इसी प्रकार कुछ उपन्यास देश के किसी विशिष्ट भाग अथवा काल के किस
विशिष्ट अंश को कथावस्तु बना कर खड़े किए जाते हैं। इसके विपरी
बाल्झाक और ज़ोला ने अपने अपने उपन्यासों की शृंखला में समस
फ्रांसीसी सभ्यता तथा संस्कृति का चित्र खींचने का प्रयत्न किया था औ
इसी प्रकार इंगलैंड में फील्डिंग अपने 'टोम जोंस' नामक उपन्यास में अप
युग के समग्र इंगलैंड का कथारूप प्रस्तुत करने में सचेष्ट हुए थे। किंतु ह
पहले ही कह चुके हैं कि इस प्रकार की विश्वभेदिनी प्रतिभाएँ कम होती हैं
उपन्यासकार—चाहे वह किसी भी अवस्था का चित्र खींचे—उसके लि
आवश्यक है कि वह अपने चरित्रचित्रण में देश, काल, परिस्थिति आ
को, जैसी वे थीं, उसी रूप में निदर्शित करे।

ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल-परिज्ञान अत्यावश्यक है

कुछ उपन्यासों में किसी देश के इतिहास का कोई युगविशेष लेक
उसका कथा के रूप में चित्रण किया जाता है। इस श्रेण
के उपन्यासकार को इतिहास के उस युग में होने वाल
उस देश की परिस्थिति पर और भी अधिक ध्यान देन
उचित है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का कर्तव्य है कि
वह ऐतिहासिक घटनाओं के नीरस लेखे पर अपन
विधायिनी कल्पनाशक्ति की कूँची फेर कर उसमें सरसत
संपन्न करे और इतिहास के बहुविध स्रोतों से चुनी हुई नानाविध घटनाओं
को कला से उद्भूत होने वाली एकता और परिपूर्णता में समन्वित क

उनका ऐसा सजीव चित्र खड़ा करे, जो ऐतिहासिक होने पर भी काल्पनिक कथा का आनन्द देने वाला हो। इतिहास के किसी एक युग को फिर से सजीव और सरस बना कर पाठकों के संमुख प्रस्तुत करने में ही ऐतिहासिक उपन्यासकार की इतिकर्तव्यता है। इस में संशय नहीं कि उसके द्वारा किए गए, उस युगविशेष में घटित होने वाली घटनाओं आदि के वर्णन में सत्यता होनी चाहिए; किंतु इस बात की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक बात यह है कि उसकी रचना में उस युग-विशेष में प्रचलित रीतिरिवाज, आचार-विचार, लोगों का रहन-सहन—जिन्हें हम किसी युग की आत्मा, अथवा मापदण्ड कहते हैं—आदि का सच्चा सच्चा प्रतिफलन होना चाहिए। ऐतिहासिक सत्य का कल्पना के साथ संमिश्रण करने में कितनी कठिनता होती है, यह बात देखनी हो तो देवाक्ल या डाउनफाल के रचयिता मस्ये झोला के शब्दों को पढ़िये। वे अपनी रचना के उपोद्घात में लिखते हैं :—

ला देबाक्ल लिखने में मुझे जितना श्रम करना पड़ा उतना अन्य किसी भी रचना के प्रस्तुत करने में नहीं। जब मैंने इसकी रूपरेखा अपने मन में खींची थी, तब मुझे इस की परिधि का विचार तक न था। मुझे अपने विषय पर लिखी गई सभी रचनाओं, और विशेषतः सेदान के युद्ध पर (और यही इस पुस्तक का विषय है) लिखे गये लेखों आदि को ध्यानपूर्वक पढ़ना पड़ा। सेदान के युद्ध के विषय में जो कुछ भी कहा अथवा लिखा गया है, मैंने उस सभी को हस्तगत करने का यत्न किया है। मैंने उस अभागे सेनंप आर्मी और के विषय में भी गवेषणा की है; जो इस उपन्यास का एक प्रकार से प्रमुख ... सेदान के युद्ध से सम्बंध रखने वाली सभी बातों को मैंने जहाँ वे मिल सकती थीं, एकत्र किया है। मेरे पास इस प्रकार की सामग्री एकत्र हो गई है, और मुझे इन सब बातों पर, जो इस युद्ध

पर किसी प्रकार का प्रकाश डाल सकती है, बहुत ही ध्यान देना पड़ा है। मैंने इस युद्ध का फ्रेंच समाज की विभिन्न श्रेणियों पर क्या प्रभाव पड़ा है, इस बात पर भी ध्यान दिया है। मैंने संक्षेप में देखा है सेडान युद्ध और फ्रेंच धनिक समाज, सेडान युद्ध तथा फ्रेंच किसान, और सेडान युद्ध तथा फ्रेंच श्रमीवर्ग। युद्ध से पूर्व फ्रांस की मानसिक दशा क्या थी, फ्रांस ने किस प्रकार स्वातन्त्र्योपयोग को तिलांजलि दी थी, विलास में डूबा हुआ फ्रांस, विनाश की ओर बलात् धकेला जाता हुआ फ्रांस। उस समय के सम्राट् और उन्हें चहुँओर से घेरने वाले सलाहकार......फ्रांस के कृषक......उस समय के गुप्तचर सभी का मुझे अध्ययन करना पड़ा है। संक्षेप में उस युग पर प्रकाश डालने वाली सभी बातों पर मुझे ध्यान देना पड़ा है।

यह सब कुछ कर लेने के उपरान्त मुझे वे सभी स्थान अपनी आँखों देखने पड़े, जहाँ मेरे द्वारा वर्णित घटनाएँ घटित हुई थीं। इसके लिए मैं अपनी रचना की पांडुलिपि अपनी जेब में ले राइम्स के लिए घर से निकला, वहाँ से सेडान तक के सभी स्थानों को मैंने ध्यान से देखा और उस मार्ग को जहाँ से कि वह अभागा सप्तम सेनागुल्म गया था, तिलतिल अपनी आँखों देखा। मैं अपनी उस यात्रा में, मार्ग में आने वाली सभी कृषक झोपड़ियों और स्थानों में ठहरा और मैंने वहाँ के लोगों से पूछ पूछ कर उस घटना के विषय में यथाशक्ति नोट लिए। तब मैं सेडान पहुँचा, और वहाँ के स्थानों से भली भाँति परिचित हो कर मैंने वहाँ के धनिक वर्ग को अपनी कथा में समाविष्ट किया.................." इत्यादि।

झोला द्वारा लिखे गये उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि एक ऐतिहासिक उपन्यास में देश और काल से क्या अभिप्रेत है और उनको सचाई और मनोरमता के साथ प्रस्तुत करने में एक कलाकार को कितनी दक्षता अपेक्षित है। जो कलाकार इतिहास के समीचीन आलोड़न के बिना

... उन पर अपनी रचना नहीं करते हैं, उनकी रचनाओं में कला...
आदि दोष आ जाते हैं और वे सब प्रकार से भद्द भाविन हो...
गड़बड़ी का अनुभव होने लगता है। स्काट का आइवैंहो नामक उपन्यास...
आरंभ से अंत तक इस प्रकार के दोषों से भरा पड़ा है, और...
मध्ययुग का चित्र बिल्कुल विपरीत प्रकार का उतरा है—इस बात का...
निदर्शन है। हमारे भारतीय तत्त्वज्ञानियों ने तो मनुष्य और उसके क्रियाक...
का, महाकामाला की एक तुच्छातितुच्छ कड़ी मान कर उसको कभी लेखब...
किया ही नहीं है, जिसका परिणाम आगे चलकर यह हुआ कि संस्कृत...
राजतरंगिणी जैसी ऐतिहासिक रचना भी कालव्यापात आदि दोषों से...
दब गई है और आज उसके इतिहास और कल्पनांश को पृथक् पृथक्...
करना तत्त्वानुसंधान की एक बड़ी समस्या बन गई है।

भौतिक या प्राकृतिक संविधान कहानी को अधिक मार्मिक बनाने, पात्रों को अधिक विशदता देने एवं जगत् और जीवन की विपुलता का परिचय कराने के लिए किया जाता है। इस विधान का रमणीय उपयोग तब होता है, जब कलाकार अपनी उत्कट रागात्मकता से मानवभावनाओं के साथ प्रकृति का सातीप्य अथवा सामीप्य दिखाता है। कभी कभी तो कलाकार मनुष्य के ऊपर विपत्ति का वज्रपात होने पर प्रकृति का सुरम्य विलास दिखाकर मनुष्य के सुखदुःख की ओर से उसकी व्यंग्यात्मक उदासीनता का परिचय देता और इस प्रकार पीड़ित पुरुष की पीड़ा को और भी अरुन्तुद बना देता है और कभी वह, इसके विपरीत, उसकी पीड़ा में प्रकृति को भी पीड़ित दिखा उसको सांत्वना देता है। मृतपति के शव पर करुण क्रंदन करती हुई बालविधवा के दरवाज़े पर सुहागिनों को ...

संविधान की दो विधाएँ

पदार्पण व्यंग्य नहीं तो और क्या है। इस प्रकार की चुटकियों और चुनौतियों द्वारा कलाकार पीड़ित पात्र के प्रतीप में अशेष संसार को खड़ा करके उसके रुदन को मर्मांतकारी बना देता है और उसके रुदन में उच्चता के साथ साथ स्थायिता भी भर देता है। जहाँ चतुर कलाकार इस विधि के द्वारा अपने पीड़ित पात्रों को अपने विरोध में उठे अशेष संसार के साथ युद्ध करने को प्रस्तुत करता है, वहाँ दूसरी ओर वह प्रकृति में समवेदना का भाव प्रकट कर पात्रों और प्रकृति के मध्य स्थापित हुई नैसर्गिक एकता को भी उद्घोषित कर सकता है। संसार के कलाकार अपनी अपनी उग्र अथवा सौम्य प्रकृति के अनुसार उचित रीति से दोनों ही विधियों का प्रयोग करते आए हैं।

जीवन की व्याख्या: कलाकार के मन में काम करने वाली दो प्रवृत्तियाँ: प्रतिभा

हमने बताया था कि कल्पना के चित्रपट पर लिखी हुई मानव-कथा का नाम ही उपन्यास है। इससे यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार साहित्य के कविता तथा नाटक आदि अंगों का सम्बन्ध मानवजीवन की व्याख्या से है, इसी प्रकार उपन्यास का सम्बन्ध भी मानवजीवन के व्याख्यान से है। किंतु जहाँ कविता परिवर्तनों की धाराबाहिकतारूप समष्टि में बसने वाले जीवन को उसके व्यष्टिरूप किसी एक परिवर्तन में किसी गतिशील सौंदर्यतत्त्व में केंद्रित करके उसका लाक्षणिक और आवृत्तिमय पद्य में निदर्शन करती है, वहाँ उपन्यास उस जीवन की समष्टि को, उसकी शिथिलित व्यष्टियों के रूप में प्रसारित करके भाषा के शिथिल रूप गद्य में संप्रदर्शित करता है। हमें प्रत्येक कलाकार के मन में दो प्रवृत्तियाँ काम करती दीख पड़ती हैं। पहली प्रवृत्ति अथवा पहला स्तर वह है, जिसके द्वारा वह चेतना की

विकसित छायिमता में उत्पन्न हुए बाह्य शासन से बच कर अपने अविकसित हृदय के भीतर पैठकर वहाँ उठने वाले स्वप्नों की भाँति में भी अपना ही कुछ ऊबड़खाबड़, कुछ धुँधला सा जगत् बनाया है। दूसरी प्रवृत्ति के वशीभूत हो वह बलवान् प्रभावशाली प्रवृत्तियाँ … करता है, आचारसम्बन्धी सौंदर्य का उद्भावन करता है, कलात्… सुलझे रूप की ओर, और उसके साथ संबंध रखने वाले विन्यास शिल्पनिर्माण की ओर अग्रसर होता है। विकसित जीवन में एक अवस्… ऐसा भी आता है, जब ये दोनों प्रवृत्तियाँ, एकीभूत हो, एक ध्येय का … धारण करती हैं, जिसकी ओर एक कलाकार अनायास खिंचता च… जाता है। जब ये दोनों प्रवृत्तियाँ साम्यावस्था में स्तिमित हो अपने पू… वेग से गतिमान होती हैं, तब कला अपने रुचिरतम रूप में निखर कर हमारे सामने आती है। पहली प्रवृत्ति को वश में करने के लिए जितना ही अधिक दूसरी प्रवृत्ति को गतिमान होना पड़ेगा उतना ही अधिक किसी रचना में सौंदर्य का निखरा रूप मिलेगा। यदि किसी कलाकार में पहली प्रवृत्ति जन्म से ही निश्चेष्ट है तो समझो उसकी रचना नितांत ठसी, नीरस और निर्जीव रह जायगी।

दोनों प्रवृत्तियों के इस विप्लव को ही हम प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं, और यह प्रतिभा जहाँ कविता के क्षेत्र में अत्यन्त ही सूक्ष्म, किंतु सांद्र रूप धारण करके अवतीर्ण होती है; वहां उपन्यासपरिधि में अपना पतला, किंतु विस्तीर्णरूप धारण करके गतिमती होती है। कविता और उपन्यास के आंतरिक तत्त्वों के इस भेद से उनके वागा-त्मक रूप में भी मौलिक भेद आ जाता है, जिसका परिणाम यह है कि जहाँ कविता का पद्य सजीव तथा प्रतिरूपमय शब्दों की लड़ी बनकर खड़ा होता है, वहां उपन्यास का गद्य …

लक्षणा; और व्यंजना का अधिक सहारा न लेता हुआ; सीधे प्रकार से व्यक्त करता है।

कविता और उपन्यास के इस मौलिक भेद को छोड़ कर जीवन का व्याख्यान दोनों का समान है, और उसके विषय में हम पहले ही पर्याप्त मात्रा में लिख चुके हैं।

उपन्यास का उद्देश्य, उपन्यास में सत्यता, उपन्यास में वास्तविकता और उपन्यास में नीति आदि, सभी उसके द्वारा किये गए जीवन के व्याख्यान अनायास आ जाते हैं, और उन सब का विवेचन हम कविता के प्रकरण में जगह जगह कर आए हैं। कहना न होगा कि जिस प्रकार कविता तथा नाटक जीवन के लिये अभिप्रेत हैं; जीवन उनके लिये नहीं, इसी प्रकार उपन्यास भी जीवन का पृष्ठपोषक है, उससे स्वतन्त्र नहीं; और जिस प्रकार जीवन को अपथगामी बनाने वाली कविता और नाटक संसार में सदा के लिये आदरणीय नहीं सिद्ध होते, अपनी घातक प्रवृत्ति में वे स्वयं निहित हो जाते हैं, उसी प्रकार समाज में प्रमाद तथा उच्छृंखलता का संचार करने वाले उपन्यास अपनी घातक गतिमत्ता में स्वयं चूर-चूर हो जाते हैं। इस विषय में बाबू श्यामसुन्दरदास का निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य है :—

यदि हम साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि जिस साहित्य अथवा कला से समाज की मानसिक उन्नति अथवा नैतिक कल्याण नहीं होता, उसका अंत मानवजाति आत्मरक्षा के विचार से स्वयं ही कर देती है। जो भाव या विचार मानवजाति की उन्नति के सिद्धांतों के विरोधी अथवा विपरीत होते हैं, उनको वह अधिक समय तक प्रचलित नहीं रहने देती और शीघ्र ही नष्ट कर देती है। अतः किसी भी कला के महत्त्व के लिए यह आवश्यक है कि उसमें नैतिक ति के भाव भी विद्यमान हों। यों तो

कलामात्र का उद्देश्य आनन्द का उद्रेक करना है, पर प्रत्येक कला
कुछ न कुछ भाव, कुछ न कुछ विचार उत्पन्न होते हैं। इसलिए
महत्त्व इसी में है कि उससे हमारे भावों और विचारों में कुछ उ
उनका कुछ परिमार्जन हो। मानवजाति की वास्तविक उन्नति इसी
उन्नति में ही मानी जाती है; और इसी लिए मानवजाति सारा उद्योग
उन्नति के लिए ही करती है, और यही कारण है कि जो कलानुराग
प्राप्त करना चाहते हैं, वे न तो नीति के विरुद्ध चल सकते हैं और न उ
उपेक्षा ही कर सकते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान जे. ए. साइमंड्स काव्य जीवन की व्याख्या है
उक्ति का समर्थन करते हुए लिखते हैं; (और यह बात उपन्यास पर भ
वैसी ही लागू होती है जैसी कविता पर) :—

आज तक यदि साहित्य के इतिहास द्वारा कोई बात निश्चित रूप से
सिद्ध हुई है तो वह यह है कि मानवजाति की आत्मात्मक प्रवृत्ति उस कला
का कभी स्वागत नहीं करती, जिसके द्वारा उनकी मानसिक अथवा नैतिक
उन्नति न होती हो। उन भावों के साथ, जो उनकी उन्नति के नियमों के
विरोधी हैं, वह अधिक काल तक नहीं चल सकती। कला को स्थायी महत्ता
प्रदान करने के लिए नीति का प्रयोग आवश्यक है। इसका यह अर्थ नहीं
है कि कलाकार को जानबूझ कर उपदेशक बन जाना चाहिए, अथवा उसे
बरबस अपनी रचना में नीति का समावेश करना चाहिए। कला और नीति
के उद्देश्य भिन्न भिन्न हैं। एक का कार्य है विश्लेषण करना और शिक्षा
देना, दूसरी का काम है संकलन करके मूर्तिमान बनाना और आनंदोद्रेक
करना। किंतु सभी कलाएँ विचारों और भावों को रूपप्रतिष्ठा करती हैं।
अतः सब से महान् कला वह होगी, जो अपने संकलन में विचारों और
...की गहनतम उलझन का भी प्रत्यक्षी...

समझने की जितनी ही अधिक क्षमता कलाकार में होगी, जीवन की सुव्यवस्थित उलझन जितनी ही पूर्णता के साथ वह उपस्थित कर सकेगा, उतना ही वह महान् होगा। मानवजाति का बर्बरता से संस्कृति की ओर बढ़ने का सारा उद्योग उनका अपने नैतिक गौरव को बनाए रखने और उसे विपुल बनाने का उद्योग है। नैतिक गुणों की रक्षा और उनके भरण पोषण द्वारा ही हम उन्नति करते हैं।

हमने बताया था कि जिस प्रकार कविता में जीवन का व्याख्यान होता है, उसी प्रकार, उससे कुछ भिन्न रूप में उपन्यास भी जीवन का सम्प्रदर्शन कराता है। हमारा जीवन, काल की गति के साथ साथ, हमारे अनजाने में ही सदा बदलता रहता है। व्यक्तियों के जीवन में घटने वाला यह परिवर्तन उनके समष्टिरूप समाज तथा राष्ट्र पर भी प्रतिफलित हुआ करता है। समाज तथा राष्ट्र में आने वाले इस परिवर्तन का उसके वाग्गात्मक प्रकाशन रूप साहित्य में प्रतिबिंबित होना स्वाभाविक है। और जिस प्रकार भारत तथा इंगलैंड की कविता में उन दोनों देशों का क्रमिक विकास प्रतिफलित है, इसी प्रकार इनके उपन्यासों में भी हमें एक प्रकार का क्रम प्रवाहित होता दीख पड़ता है।

किंतु स्मरण रहे; भारत में उपन्यास अपने वर्तमान रूप में पश्चिम से आया है। हमारा अपना उपन्यास तो कादंबरी के साथ समाप्त सा हो गया था। इसलिए जहाँ इंगलैंड के उपन्यास में वहाँ की प्रतिभा का अनुक्रमिक विकास अविच्छिन्न रूप से दृष्टिगत होता है, वहाँ भारत की उपन्यासपरंपरा में बहुत बड़े विच्छेद दीख पड़ते हैं। फलतः हम इंगलैंड की उपन्यासपरंपरा के विषय में कुछ कह कर बाद में हिंदी की उपन्यासपरंपरा पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

बिओवुल्फ, मोर आर्थर आदि रचनाओं में एकांततः आश्चर्य-कथा

का रूप धारण कर हमें लिली की यूफ़ुस नामक रचना में
इंगलिश उपन्यासों म्याम का संबंध रीतिनियों के व्याख्यान
का शिक्षाप्रयोजन साथ प्रकट हुआ दीख पड़ता है। यूफ़ुस में द
पढ़ने वाले अनेक संपादनदोषों से बचते हुए डेफ़ो
अपना प्रसिद्ध रॉबिंसन क्रूसो नाम का उपन्यास लिखा, जिस में मानवजीव
का व्याख्यान तो था किंतु उस व्याख्यान को सार्थक बनाने वाली मानों की
विश्लेषण न था। रिचार्डसन ने अपनी रचनाओं में, वहाँ अपने समय के
वस्तुजात को परखा, वहाँ उसने मनुष्यों के व्यवहार और उनकी प्रवृत्तियों
की भी समालोचना की। रिचार्डसन को प्राप्त हुई सफलता से ज्ञात होता
है कि उनके समय में समाज का रुख आश्चर्यमय कथाओं से हट कर
शनैः शनैः प्रतिदिन के जीवन में दीखने वाली प्रवृत्तियों की विश्लेषण
की ओर झुक रहा था। रिचार्डसन के द्वारा गतिमान हुई प्रवृत्ति को
फ़ील्डिंग ने संपूर्णता प्रदान की और उसने अपने सामाजिक चित्रण में
हास्यरस का प्रवेश कर उनमें नवीनता भी उपस्थित की। वह काम, जो
सब से पहले फ़ील्डिंग ने निष्पन्न किया, चरित्रचित्रण था। फ़ील्डिंग से
पहले उपन्यासकारों के पात्रों को हम उनके विषय में पढ़ कर ही, उनके
किसी ही अंश में जान पाते थे; फ़ील्डिंग के पात्रों को हम अपने बैठा
अपने सामने खड़ा देखते हैं। स्मौलेट ने फ़ील्डिंग द्वारा चलाई गई प्रथा
को आगे बढ़ाते हुए, उपन्यास को घटनाओं को एक सूत्र में बाँधने वाले
प्रधान पात्रों को निखार कर दिखाने पर बल दिया और उसके द्वारा महत्व
ए चरित्रचित्रण को और भी अधिक अग्रेसर किया। आइरिश साहित्यिकों
जब कभी भी इंग्लिश साहित्य में सहसा प्रवेश किया है उन्होंने उसमें
या चार चाँद लगाए हैं। स्टेन और गोल्डस्मिथ ने उपन्यासक्षेत्र में यही
किया। गोल्डस्मिथ का विकर ऑफ़ वेकफ़ील्ड उपन्यास साहित्य में

अपना विशेष स्थान रखता है।

अठारहवीं सदी के अन्तिम दिनों में जनता वास्तववाद से पराङ्मुख हो सौष्ठववाद की ओर बढ़ी। कविता के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति ने ऐंद्रिय कविता को जन्म दिया और उपन्यास की परिधि में यह सुदूरस्थित आश्चर्यमय घटनाओं को अपना कर बड़ी ही सजधज के साथ अवतीर्ण हुई। इसके वशंवद हो वेलूपोल ने अपने घटनाजाल को दैनिक जीवन के चित्रपट से उठाकर दूर में लटके हुए मध्य युग के चित्रपट पर अंकित किया। सौष्ठववाद की यह प्रवृत्ति सुदूर अतीत में घटित हुए, किंतु फिर भी सत्यरूप इतिहास में प्रचरित हो, स्कॉट के उपन्यासों में बहुत ही मनोरम तथा उपयोगिनी बन कर सुशोभित हुई।

जहाँ उपन्यास की एक धारा दैनिक जीवन से उपरत हो सौष्ठववाद में आनन्द लेने के लिए सुदूर अतीत की ओर पीछे फिरी, वहाँ साथ ही उसकी अखंड धारा समकालिक जीवन के विस्तीर्ण क्षेत्र में बराबर प्रवाहित होती रही। जेन आस्टेन ने उसकी अखंड धारा का अर्चन करते हुए अपनी रचनाओं में सौष्ठववाद का सक्रिय प्रतिरोध किया और यथार्थवाद के अनुसार जीवन के किसी पटलविशेष के चित्रण का सूत्रपात किया। उन्नीसवीं सदी में उपन्यास को सर्वप्रिय बनाने का श्रेय डिकंस को है, जिसने अतीत कलाकारों के पदचिह्नों पर चलते हुए अपनी व्यापिनी प्रतिमा से तात्कालिक समाज के व्याख्यान को अत्यंत ही व्यापक तथा रुचिर रूप प्रदान किया। रिचार्डसन तथा फील्डिंग के द्वारा प्रवर्तित और डिकंस के द्वारा समर्थित हुए यथार्थवाद का पूर्ण परिपाक थैकरे की रचनाओं में हुआ, जिसने उपन्यासकला को दूर रखी सभी वस्तुओं से हटा मुख्य रूप से "मनुष्य" की सेवा में संयोजित किया। थैकरे के दृष्टिकोण में दीख पड़ने वाली निराशा ने उसके चित्र में एक अनूठी करुणा का संचार कर दिया है।

चार्लस ब्रॉण्टे ने यथार्थवाद की इस धारा को समाज के [illegible]
क्षेत्र से निकाल व्यक्ति की संकुचित प्रणाली में बदा कर विस्ट[illegible]
साहित्य में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी। अब तक [illegible]
वाद का ध्येय बाह्य जगत् को चित्रित करना था, अब उसके द्वारा व्यक्ति[illegible]
अन्तरात्मा का निदर्शन किया जाने लगा। जिस प्रकार फील्डिंग [illegible]
थैकरे ने समाज और वस्तु जात का चित्रण करके यथार्थवाद की वि[illegible]
रूप में अर्चना की, उसी प्रकार ब्रॉण्टे ने अपने आन्तरिक जीवन की निगू[illegible]
अनुभूतियों को चित्रपट पर रख कर यथार्थवाद को एक जीवन के ए[illegible]
बिन्दु में संपुटित करके उसकी प्रतिष्ठा की। इस बात में जॉर्ज इलियट
ब्रॉण्टे के पीछे चलीं; किन्तु जहाँ वे विशदता के साथ अपना मर्म दूसरों के
संमुख रखने में सफल हुईं, वहाँ उनमें दूसरों के मर्म को मुखरित करने की
भी शक्ति थी। ब्रॉण्टे का दृष्टिकोण अपने भीतर बँधा हुआ था; इलियट ने
भीतर और बाहर दोनों ओर सफलता के साथ देखा था।

संक्षेप में हम ने देखा कि किस प्रकार उपन्यास अपने आरंभिक रूप
में जीवन से दूर भाग आश्चर्यकारी घटनाओं और पात्रों के पीछे छिप गया
था; किस प्रकार विक्टोरियन युग के आरम्भ में कलाकारों ने इसे वहाँ से
हटाकर समाज के निदर्शन में प्रवृत्त किया, इस युग के अन्तिम दिनों में कि[illegible]
प्रकार उपन्यासकारों ने इसे समाज के विस्तृत क्षेत्र से हटाकर वैयक्ति[illegible]
मनोविज्ञान के विश्लेषण में अग्रसर किया। किन्तु मनोविज्ञान के विश्लेषण
के लिए ढूँढे गए इन उपन्यासकारों के व्यक्ति समाज की उस श्रेणी के थे,
जो प्राकृतिक जीवन से दूर बह जाने के कारण यथार्थ नहीं कहा सकती और
जो अपनी यथार्थता को अपनी बनौटनी वेशभूषा और बनावटी शालीनता
के पीछे छिपाए रखती है। इसी बात से असंतुष्ट हो हार्डी ने मनुष्य की
...उसके आदिम रूप में उद्भावना करके, उसे प्राकृतिक शक्तियों के

मध्य में खड़ा कर उसका उन शक्तियों के साथ वही निष्ठुर संग्राम कराया है, जिसके दर्शन हमें महाकाव्यों और नाटकों में जगह जगह होते हैं। उनके मत में प्रकृति केवल साक्षिरूप वस्तु नहीं है, जिसके सम्मुख पुरुष और स्त्री अपना अपना पार्ट खेलते हैं। यह एक परिस्थिति है, जो अतिशय कठोर तथा निष्ठुर है और उनके भाग्य का, जैसे चाहे निर्माण करती है। हार्डी की दृष्टि में प्रकृति एक दयामय आदर्श नहीं, अपितु वह आह्लाद और सौंदर्य को खा जाने वाली एक अटल अन्धशक्ति है। अपने भाग्य को न पहचानता हुआ व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार भद्र से भद्र जीवन व्यतीत करता है, किन्तु परिणाम सब का, भले और बुरे दोनों का, एक वही विनाश का गहन गह्वर है।

हिंदी-उपन्यास का सिंहावलोकन

देखने में तो हिन्दी के उपन्यास आधुनिक युग की दाय हैं; किन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर इनकी परंपरा प्रेममार्गी सूफी कवियों की रचनाओं से ही प्रवृत्त हुई दीख पड़ेगी। कथाओं की जो रूपरेखा हमें सूफियों की आध्यात्मिक रचनाओं में उपलब्ध होती है, वही आगे चलकर, कुछ विभिन्न रूप में, आदि काल के उपन्यासों में लक्षित होता है; "एक नायक, एक नायिका, नायिका के प्रति नायक का अटल प्रेम, प्रेम की बाधा, प्रेमपात्र की प्राप्ति का प्रयत्न, बाधाओं का परिहार और मिलन" संक्षेप में यही ढांचा आदि काल के अनेक उपन्यासों में अपनाया गया। सैयद इंशा अल्लाख़ाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में वही पुरानी प्रेम की लगन, हृदय की तड़प, और पिय को पाने के करिश्मे हैं और पदमावत की भांति यहाँ भी महादेव, मछंदर आदि की सिद्धियाँ प्रदर्शित की गई हैं। प्रेम की परिचित परिधि के बाहर जीवन के अन्य पक्षों पर पहले पहल लाला श्रीनिवासदास की दृष्टि गई और उन्होंने अपनी मुख्य रचना परीक्षागुरु अंग्रेज़ी उपन्यासों का अध्ययन कर उनके आधार पर लिखी। ठाकुर

जगमोहनसिंह द्वारा रचे गये, प्राकृतिक सौंदर्य में प्रस्फुटित हुए 'श्यामास्वप्न' के पश्चात् पंडित अंबिकादत्त व्यास के आश्चर्य वृत्तांत और बालकृष्ण-भट्ट के 'सौ सुजान एक अजान' के बाद हम हिन्दी के उस युग में आते हैं, जब हमें बंकिम, रमेश, हाराणचन्द्र रक्षित, शरत्, चारुचन्द्र, और रवींद्र आदि प्रसिद्ध बंगीय उपन्यासकारों की सभी उपादेय रचनाओं के अनुवाद अपने यहाँ मिलते हैं। इनके द्वारा हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श ऊँचा उठा। इन अनुवादों में ईश्वरीप्रसाद तथा रूपनारायण पांडेय विशेषतया स्मरणीय हैं। इसी बीच में बाबू देवकीनन्दन खत्री ने ऐयारी तथा तिलस्म के ऊपर अपनी 'चंद्रकांता संतति' को खड़ा करके घटनावैचित्र्य का प्रचुर चित्रण किया; किन्तु इसके द्वारा रससंचार, भावविभूति, या चरित्रचित्रण में सहायता न मिल सकी। "चुनार की पहाड़ियों में खत्री महाशय को जो तहखानों की अनन्त परंपरा प्राप्त हुई और उनकी कल्पना ने जिनके साथ अनेकानेक वीरकायर नायक-नायिकाओं तथा उनके सहचरसहचरियों की सृष्टि की तथा तिलस्म के सभी फन ईजाद किए, उससे हिन्दी उपन्यासों का घटनाभंडार तो बड़ा ही, साथ ही प्रतीक्षा, आशंका आदि भावों को उत्पन्न करके कथानक के विस्तार में पाठकों का मन लगाए रहने का कौतूहल भी अधिक आया। प्रेम की रूढ़ कथा और ज्ञात या अनुमित घटनाचक्र के स्थान पर कौतूहलवर्धक अनेक कथाओं की यह संतति अवश्य ही हिंदी उपन्यासकाल के विकास में युगप्रवर्तक मानी जायगी।"

घटनाप्रधान उपन्यासों की ओर बढ़ती हुई जनता की प्रवृत्ति को देख बाबू गोपालराम गहमरी ने हिंदी में जासूसी उपन्यासों का सूत्रपात किया, जो अपने मानवीय क्रियाकलाप के कारण ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा हमारे निकटतर लक्षित हुए। परन्तु प्रेम की सरिता फिर भी अखण्ड बहती

रही, जिससे अनुप्राणित हो श्रीयुत किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐयारी, सामाजिक तथा ऐतिहासिक, सभी प्रकार के उपन्यास लिखकर भी उन सब के मूल में कोई न कोई स्त्री ही रखी, चाहे वह चपला, मस्तानी, प्रेममयी, वनविहंगिनी, लावण्यमयी और प्रणयिनी हो अथवा कोई कुलटा। इसके अनन्तर हमारे संमुख पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का ठेठ हिंदी का ठाट, लज्जाराम मेहता के धूर्त रसिकलाल, आदर्श दंपती, आदर्श हिन्दू और बाबू व्रजनन्दन सहाय के सौंदर्योपासक, राधाकांत और राजेंद्रमालती आदि उपन्यास आते हैं, जिनमें उपन्यासकला सामाजिक सेवा में अग्रसर होने पर भी उपदेश जैसे किसी न किसी प्रकार के भार में दबी ही रही।

अब तक हिन्दी के अपने उपन्यास घटनाप्रधान होने के कारण केवल मनोरंजन के साधन थे। इन में से कुछ ने जगजीवन के निकट पहुँच सामाजिक विश्लेषण की ओर पग बढ़ाया, किंतु वे मानव-चरित्र का मर्मस्पर्शी चित्रण न कर सकने के कारण अपने वर्णन में रसवत्ता न ला सके। इनका जीवन संकुचित था; फलतः इनके द्वारा उपन्यासरूप में किया गया उसका निदर्शन भी एकदेशीय तथा विरल था। मुन्शी प्रेमचन्द ने उसके इस अभाव को दूर करते हुए कृषिप्रधान भारत के सभी मर्मों को अपनी रचनाओं में मुखरित किया और इस प्रकार उपन्यासधारा को घटनाजाल के संकुचित क्षेत्र से निकाल कर नानामुख समाज के व्यापक क्षेत्र में प्रवाहित किया। उन्होंने आर्त समाज के चिरंतन संघर्षों से खिन्न हो, समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, समाज तथा राष्ट्रशोधन के पावन ध्येय से प्रेरित हो, भारतीय कुटुम्ब की संकुचित परिधि से लेकर समाज तथा राष्ट्र के विशाल से विशाल पटल पर विचार किया है; और उनमें भी उनकी मार्मिक सहानुभूति तथा समवेदना भारत के उन कोनों में विशेष रूप से पहुँची है, जहाँ

विवश वेश्याएँ, विधवाएँ, तिरस्कृत भिखमंगे, प्र
परिश्रमी सब, एक के ऊपर एक पड़े हुए आहे
के दुःख को देख मुसीबतभरे दिन टेर रहे हैं।

प्रेमचन्द के नेतृत्व में जयशंकरप्रसाद, विश्व
वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेंद्रकुमार, चतुरसेन शास्त्री,
बेचन शर्मा उग्र आदि ने उपन्यास-क्षेत्र में अच्छा
हमें आशा है कि हिंदी का यह विभाग भी उत्तरोत्त
करता चला जायगा।

गद्यकाव्य—आख्यायिका

आधुनिक साहित्य पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि
प्रकाशित होने वाले गीतिकाव्य, निबंध अथवा नाटक,
और अनुभूति की सांद्रता की दृष्टि से कितने भी परिष्कृ
रहे हों, साहित्य की प्रधान धारा आज भी उपन्यास औ
ही प्रवाहित हो रही है।

प्राचीन उपन्यासों में विस्तार अधिक था

यदि हम आधुनिक उपन्यासों की प्राचीन उपन्य
तुलना करें तो हमें एक दम यह बात
कि प्राचीन उपन्यासों की अपेक्षा आधुनि
सों में शब्द तथा अर्थ दोनों ही प्रकार क
का बड़ी मितव्ययिता से उपयोग किया
इसमें संशय नहीं कि
की परिधि में अधि

मनोरम प्रतीत होता है वहाँ अनुचित रूप से फैल कर वह अव्यवस्था तथा अरसिकता का द्योतक भी बन जाता है। हमारे प्राचीन कलाकारों में विस्तार की यह प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक विवृत हुई थी, और जहाँ हम महाश्वेता जैसे परम पावन पात्रों के लिए बाणभट्ट को शतशः नमस्कार करते हैं वहाँ साथ ही उनके अनेक पृष्ठों को घेरनेवाले राज-द्वार के वर्णन को पढ़ उनसे कुछ खीझ भी जाते हैं।

और यद्यपि आधुनिक उपन्यास के परिमिताकार होने में मितव्ययिता की उक्त प्रवृत्ति का पर्याप्त हाथ है, तथापि वह

आधुनिक उपन्यास की परिमिति के उपकरण

उपकरण, जो इसे अपना वर्तमान रूप देने में सब से अधिक सहायक हुआ है, कलाकार की अपनी कथा को एकतान्वित बनाने की उत्तरोत्तर बलवती होने वाली अभिलाषा है; और सचमुच यदि एक उपन्यास भिन्न भिन्न परिस्थितियों और दशाओं में पड़ कर उनके प्रति प्रकट होने वाली अपने पात्रों की प्रवृत्तियों को चित्रित करके अपने पात्रों का संप्रदर्शन कराता है तो उसकी सफलता और प्रभावशालिता उन परिस्थितियों और घटनाओं की संख्या के अनुसार न्यूनाधिक न होगी। इसमें संदेह नहीं कि पात्रों का चरित्रचित्रण परिस्थितियों की बहुलता तथा बहुविधता में भी संभव है; किंतु नानामुख परिस्थितियों और घटनाओं की घाटियों में पड़कर यदि फील्डिंग और डिकंस जैसे निपुण कलाकार भी अपनी कथा को भुला सकते हैं तो सामान्य कलाकारों का तो कहना ही क्या। परिस्थितियों के दुर्भेद्य चक्रव्यूह में फँस कर पता नहीं कितने कलाकारों ने अपनी रचनाओं को निर्जीव बना डाला है।

आधुनिक उपन्यासकार ने घटनासमुद्र में अपनी उपन्यासनौका को एक निर्धारित बिंदु की ओर एक निर्धारित रेखा

आधुनिक उपन्यास पर ला के आना ही श्रेयस्कर समझा है। किंतु इसका मैं कथा की यह आशय नहीं कि प्राचीन उपन्यासकारों की अपेक्षा एकता पर अधिक वह अपनी रचना को कम कठिन समस्याओं के बल दिया 'आधार पर खड़ा करता है; नहीं; प्राचीन उपन्यास-माण है कारों की अपेक्षा वह न्यून निदर्शनों का उपयोग करता हुआ भी उन से कहीं अधिक प्रभाविता के साथ अपने पात्रों का चरित्रचित्रण करता है। जहाँ वह घटनाओं के विस्तार में अतीत कलाकारों से पीछे है, वहाँ घटनाओं के उचित निर्वाचन में वह इनसे आगे बढ़ गया है और एक बार इस्तगत की गई कतिपय घटनाओं के माध्यम से ही अभिलषित परिणाम ला उपस्थित करता है। आधुनिक कलाकार को उपन्यास की पहले से कहीं अधिक संकुचित और इसीलिए उससे अधिक बलवती परिभाषा की परिधि में काम करना पड़ता है। इंगलैंड में 'लिली' के दिन से लेकर और हमारे यहाँ 'कादंबरी' से आरंभ करके अब तक कहानी को दार्शनिक टीका, देशीय चित्रण, इतिहास तथा अन्य प्रकार की अनेक बातों से सुसज्जित करके दिखाया जाता रहा है। कथा के चहुँओर फैली हुई इस घास को नला कर आधुनिक कलाकार ने न केवल अपने ध्येय को ही पहले की अपेक्षा कहीं अधिक निर्धारित तथा परिछिन्न बनाया है, साथ ही उसने उपन्यास में प्रसूत होने वाली कथा की एकता को भी पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाया है।

आधुनिक कलाकार का प्रमुख चिंतन अपने ... काल की निर्दिष्ट परिधि में सीमित करना ... से वह अपनी कथा के विकास के लिए किसी ... को चुनता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राची...

रचनाओं में भी कहीं कहीं इस प्रकार का नियंत्रण दीख पड़ता है, किंतु जहाँ उनकी रचनाओं में यह नियंत्रण विधिवशात् स्वयमेव आ गया है, वहाँ आधुनिक रचनाओं में इसे सिद्धांतरूप से स्वीकार किया जाता है।

जहाँ प्राचीन रचनाओं में देश-काल का व्यापक वर्णन होता था वहाँ आधुनिक उपन्यास में मनोविज्ञान का विस्तार हो रहा है

विशेषज्ञता के इस युग में अनिवार्यरूप से अपनाई गई परिमिति तथा संकोच के कारण ही हमें आधुनिक उपन्यासों में देश और काल के वे विस्तीर्ण, बाल की खाल को चीरने वाले वर्णन नहीं मिलते, जिन से प्राचीन उपन्यास आद्योपांत भरे रहते थे। किंतु जहाँ आधुनिक कलाकार मनुष्य के साथ प्रत्यक्ष संबन्ध न रखने वाली बाह्य प्रकृति के अनावश्यक वर्णन से पराङ्मुख हो चुके हैं, वहाँ उनमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्रों का विश्लेषण करने की परिपाटी सी चल पड़ी है; और मनोविज्ञान का जो विशद विश्लेषण हमें कॉनराड और डी. एच. लारेंस की रचनाओं में सूर्य के प्रकाश की भाँति जीवनप्रद अनुभव होता है, वही सामान्य कलाकारों की अर्धनिर्धारित रचनाओं में अखरने सा लगता है। और जिस सीमा तक आधुनिक कलाकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा अपनी कथा को विज्ञान के चक्रव्यूह में डाल रहा है, उसी सीमा तक वह उपन्यास के उन आदिम रचयिताओं का समकक्ष बनता जा रहा है, जो देश और काल की सूक्ष्म पच्चीकारी में पड़कर अपनी कथा को भुला दिया करते थे।

वर्तमान उपन्यासों में देशकाल-

आधुनिक कलाकारों ने प्राचीन उपन्यासों में पाई जाने वाली आवश्यक वृद्धि को काट छाँट कर ही सन्तोष नहीं किया; उन्होंने देशकाल के विधान को अपनी कथा का वास्तविक उपकरण ही बना लिया है। यों तो देश और काल

विधान घटनाओं दोनों ही प्राचीन उपन्यासों में भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहते थे, किंतु जहाँ प्राचीन उपन्यासों में उनका उपयोग मुख्यतया अलंकारिणी पश्चाद्भूमि (background) के रूप में होता था, वहाँ आजकल के उपन्यासों में इन दोनों का स्वत्व निकाल कर उपन्यास के पात्रों को उसमें रंग दिया जाता है; आज देशकाल उपन्यासवर्णित घटनाओं की पश्चाद्भूमि न रह उसके पात्रों के अवयव अथवा सार बन कर हमारे समक्ष आते हैं। हार्डी के उपन्यास इस बात के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

का सार बन रहा है

उक्त कथन का सार यह है कि आधुनिक कलाकारों ने उपन्यास को चेतन संघटन का रूप देने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार उसके पात्र चेतन हैं और घटनाओं के रूप में अपने आप प्रस्फुटित होते चले आते इसी प्रकार उनकी रचना भी चेतन है; वह अनायास ही अपने पत्तों फूटती चली जाती है। संक्षेप में आज उपन्यास का ध्येय हो गया है कथा कहना और इसे परिमिति के साथ कहना; उपन्यास डरता है देश-काल का निदर्शनपत्र बनने से, यात्राचित्रपट का फोटोग्राफ़र बनने से, और मनोविज्ञान का विशेषज्ञ बनने से।

उपन्यास की इसी प्रवृत्ति में छोटी कहानी का प्रारंभ निहित है

आधुनिक उपन्यासकार की, परिमिति में परिमित परिधि में बँधकर कथा कहने की उक्त प्रवृत्ति उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक व्यक्त रूप में हमारे समक्ष छोटी कहानी में आती है। बहुधा कला के इस दाय को लोग भ्रांतिवश उपन्यास के विशाल जगत् को रचने वाले उपन्यासकार का उसके भवननिर्माण से बचा हुआ कटचूरा समझते हैं, जिसे वह कहानी की छोटी गठरी में बाँध उपन्यास लिखने से बचे समय

में पाठकों के बाज़ार में ला पटकता है।

उपन्यास और कहानी में भेद

निःसंदेह उपन्यास और छोटी कहानी में सब से बड़ा भेद उनके आकार का है। सामान्यतया उपन्यास अपने पात्रों को विस्तार के साथ चित्रित करता है। समय की दृष्टि से तो उपन्यास में यह विस्तार होता ही है, किन्तु उन घटनाओं और परिस्थितियों का विवरण भी उसमें भरपूर मिलता है, जिनके बीच में से होकर उसके पात्रों को गुज़रना पड़ता है। उपन्यास अपने कथावस्तु और चरित्र-चित्रण को मूर्त तथा सारवान बनाता है। दूसरी ओर छोटी कहानी जीवनसमष्टि की एक प्रतिलिपि न हो कर उसके किसी पट-विशेष की प्रतिमूर्ति होती है; वह सारे जीवनभवन को न चमका उसके किसी कोने को हमारे सामने व्यक्त करती है। इसे पढ़ने के उपरांत हमारे मन पर परिपूर्णता का प्रभाव अंकित होना अपेक्षित है; किसी एक परिस्थिति अथवा घटनाविशेष के विवरण में एकता का आना वांछनीय है। छोटी कहानी इस नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास की अपेक्षा जीवन के प्रति होने वाला इसका दृष्टिकोण घनतर है; जीवन की समष्टि से उभरी हुई घटना अथवा परिस्थितिविशेष में यह अपने आपको केन्द्रित करती है; दूसरे शब्दों में अणुवीक्षण यत्र के द्वारा यह जीवन के किसी एक बिंदु को निहारती है। किंतु स्मरण रहे, इसके इस निहारण में उत्कटता तथा प्रभावशालिता संनिहित रहती है।

कहानी में वृत्त की एकता होती है

कथा लिखते समय उपन्यास लिखने के प्रकार को सरल बना दिया जाता है। कथावस्तु में से उसके उन सहायक उपकरणों को निकाल दिया जाता है, जो दीवार पर पड़ने वाली प्रतिछाया के समान हैं, जो शरीर को व्यंजित करने के साधन हैं, जो कथा में घनता तथा गहनता उत्पन्न करते हैं। कहानी लिखते समय क्रिया को भी सरल बना कर पहले ही से संकेतित

किए गए ध्येय की ओर अग्रसर किया जाता है। पात्रों की संख्या छाँट कर निर्धारित कर दी जाती है और उन उपपात्रों को छोड़ दिया जाता है जिनका मुख्य प्रयोजन उपन्यास में पश्चाद्भूमि की शोभा बढ़ाना होता है। कहानी की यह सर्वांगीण परिमिति उसके भीतर व्याप्त होने वाली वृत्ति की एकता से और भी अधिक सङ्कुचित बन जाती है। उपन्यास की प्रधान वृत्ति अथवा रस में—चाहे वह उपन्यास सुखांत हो अथवा दुःखान्त—दूसरे प्रकार की वृत्तियों का प्रवेश करके उसकी रुचिरता को दीप्त किया जाता है; किन्तु वृत्तियों की यही विविधता और समन्विति छोटी कहानी के प्रभाव को—जो सदा एक होना है—नष्ट कर देती है। और क्योंकि एक चतुर कथालेखक बहुधा कुछ घंटों की एक ही बैठक में कहानी को पूरा कर लेता है, इस बात से भी कहानी में वृत्ति की एकता होनी स्वाभाविक है।

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि कहानी का ध्येय जीवन के किसी बिन्दु विशेष को उद्भावित करना आदि से अंत तक होता है। वह अपनी पराकोटि पर पहुँचने के लिए न्यून कहानी का ध्यान समय लेती है। कहानी का सारा ही ध्यान परिणाम पर परिणाम पर बँधा केंद्रित रहता है, और वहाँ जल्दी से जल्दी पहुँचने के लिए होता है यह उपन्यास में इस काम को पूरा करने वाले सभी को सरल और संक्षिप्त बना कर काम में लाती है। इसकी इसकी पूँछ में चमकता रहता है। पाटक यह जानता हुआ कि क का सारा विवरण पराकोटि की ओर उन्मुख है, इसे एक प्रकार की सावध से पढ़ता है। वह कहानी के पीछेपीछे छिपे हुए भाग्य को देखता है, बलात् कहानी को उसकी अपनी धारा में प्रवृत्त किए रहता है। यदि क लेखक ने कहानी का सारा ही भार पराकोटि पर न डाल दिया तो समभ कहानी टूट गई। समस्त कहानी को पराकोटि पर टिका देने की विधि

ही कहानी को उपन्यास से पृथक् करती है; क्योंकि उपन्यास में कहानी को सीधा पराकोटि पर न टिका, उसे शनैः शनैः, विविध उपायों द्वारा, नानामार्गों में से ले जाकर, परिणाम की ओर अग्रसर किया जाता है।

परिपूर्णता के अभाव का परिणाम

अपनी इस निर्दिष्ट एकता के कारण ही कहानी अपनी अवेक्षा (interest) को पात्र, चरित्रचित्रण, तथा संविधान इन तीन तत्त्वों में उस प्रकार नहीं बाँटती, जैसे यह काम एक उपन्यास में अनिवार्यरूप से किया जाता है। परिपूर्णता के प्रभाव की अवाप्ति के लिए कहानी में इन में से किसी एक का उपयोग ही पर्याप्त है। उदाहरण के लिए अमेरिका के प्रख्यात कहानी लेखक 'पो' को संविधान की कहानी से प्रेम था; वह चरित्रचित्रण की ओर पाठक का ध्यान जाने ही न देते थे। उन्होंने अपनी कहानियों के पात्रों को कुछ धुँधले में ही छोड़ दिया है, जिससे उनके पाठकों का ध्यान सदा संविधान पर लगा रहता है। इसके विपरीत जहाँ स्टीवंसन ने चरित्रचित्रण पर बल दिया है; वहाँ हेनरी ने कथावस्तु को परिपक्व बनाने में अपनी कला को सार्थक बनाया है।

उत्कृष्ट कहानी लिखना मानो रेल की पटरी पर दौड़ना है। जहाँ इसमें एक ओर गति अत्यन्त संकुचित रहती है, वहाँ दूसरी ओर पैर फिसल जाने का डर भी प्रतिक्षण बना रहता है। इसमें संशय नहीं कि केवल देशकाल के आधार पर कहानी नहीं लिखी जा सकती, और न ही यह काम केवल पात्रों के आधार पर ही किया जाता है। संविधान में पात्रों का होना आवश्यक है; पात्रों का क्रियां के साथ संबंध होना अनिवार्य है, यह क्रिया किसी संविधान में होती है, और इसका निर्वाह चरित्रचित्रण में होना है। इन तीन तत्त्वों में से एक को प्रमुख बना दूसरे दो को

उनका मनोरंजक बनाना कहानीलेखक की सबसे बड़ी सफलता है

एक बात और; उपन्यास की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उ[...] पात्र सजीव होते हैं। कथावस्तु—चाहे वह कितना [...] कमगर्म क्यों न हो—उपन्यास में जीवन नहीं डाल [...] यह बात तो केवल पात्रों ही से संपन्न होती है। कहा[...] के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। संसार [...] कतिपय कहानी लेखकों ने केवल परिस्थिति को अभिन[...] का रूप देकर ही सफलता प्राप्त की है। इसमें सन्देह नहीं कि पात्रों क[...] भाग्य अथवा परिस्थिति के हाथ की कठपुतली न बन उनमें कुछ ऊपर [...] उभरना चाहिए; किन्तु साथ ही वे पात्र परिनिष्ठित व्यक्ति से कुछ कम विक[...] सित रहते हुए भी हमारे सामने आ सकते हैं। इस दृष्टि से हम उपन्यास [...]के बजाय कहानी को उन प्राचीन गीतों तथा महाकाव्यों की प्रत्यक्ष प्रसूति [...]ानेंगे; जिनमें घटना अथवा क्रिया को प्रधानता देकर पात्रों को, यदि [...]ाग्य के हाथ की निरी कठपुतली नहीं तो मानवजाति के एक प्रतिरूप अथवा [...]रूप के रूप में उपस्थित किया गया है। कारण इसका प्रत्यक्ष है। हम [...]तिरूप, प्रकार, अथवा पात्रसामान्य को गिनेचुने सजीव शब्दों द्वारा व्यक्त [...] सकते हैं, किन्तु व्यक्तित्व का विकास, जिसकी कि पाठक को उपन्यास [...]ते समय प्रतिक्षण अपेक्षा बनी रहती है, अनिवार्य रूप से प्रसर (space) [...] अपेक्षा करता है; और इसी लिए उसका सम्बन्ध विशाल तथा एकतान्वित [...]ना से रहता है।

उपन्यास और कहानी में एक भेद और है

संक्षेप में हम उपन्यास और कहानी के भेद को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि जहाँ उपन्यास में पात्रों को प्रधानता दी जाती है, वहाँ कहानी में परिस्थिति पर बल दिया जाता है, और इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कहानी

[...]ास में पात्रों [...]ीर होता है

तो कहानी में परिस्थिति पर

का प्रभाव उसके कहने के ढंग पर निर्भर है। विशदता और अभिव्यक्ति का ध्यान उपन्यास की अपेक्षा कहानी में कहीं अधिक रखना पड़ता है। चतुर कहानी लेखक को यही जान कर संतुष्ट नहीं होना चाहिए कि उसे अपनी कहानी किस दृष्टिकोण से कहनी है; कहानी लिखते समय उसे यह भी जानना होगा कि उस कहानी के लिखने में उसके द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण ही उचित तथा उपादेय दृष्टिकोण क्यों है। इसके लिए उसे अपनी कहानी को मन ही मन अनेक बार दुहराना होगा और उस पर उचित पर्यवेक्षण के वे सब नियम घटाने होंगे; जो किसी रचना को समंजस बनाने के लिए नितांत आवश्यक होते हैं। ज्योंही एक कथालेखक बारूद के फटने पर उड़ने वाले सहस्रों शिलालवों की भाँति कहानी के मुख में से प्रस्फुटित होने वाली नानामुख सामग्री में से किसे लूँ और किसे न लूँ इस दुविधा में पड़ जाता है, त्योंही पाठक के मन में भी तदनुगामिनी दुविधा छा जाती है और कहानी के रस में भंग पड़ जाता है। चतुर कथा लेखक को पूरा पूरा अधिकार है कि वह कहानी लिखने के प्रकारों में काटछाँट करके उन्हें चाहे कितना भी परिमित क्यों न कर दे, किन्तु उसे यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए, कि वह अवशिष्ट परिमित अर्थात् न्यून ही उसके तथा पाठक के बीच के व्यवधान में सेतु का काम देने वाला है।

उपन्यास का बल; परिणामकल्पना पर अधिक रहता है तो कहानी का

नीटत्शे का कहना है कि परिणामकल्पना, अर्थात् कला के किसी उत्पाद्य के परिणाम में अनिवार्यता उत्पन्न करना प्रतिभा का काम है। कथासाहित्य के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से उपन्यास के उस प्रासाद पर घटती है, जिसकी प्रत्येक ईंट का अपना भार अलग है और अपना एक अलग स्थान है और जिसकी आधारशिला

कहानी के आरंभ पर

हमारे समक्ष उसके मानो, ऊँचे से ऊँचे शिखर पर ध्यान रखना अनिवार्य होता है। इसके विपरीत एक कहानीलेखक का प्रमुख चिन्तन यह रहता है कि वह अपनी कथा के लट्टू को कहाँ से पकड़ कर फेंके, और किस वेग से, भाग्य फलक पर फेंके। उपन्यास कला का यह नियम कि उसके अंतिम पृष्ठ में ही उसका सारा संपुटित होना चाहिए, कहानी पर और भी अधिक कठोरता से लागू होता है। जिस प्रकार ढोल के एक भाग पर प्रहार होते ही उसका सारा पोल गुंजरित हो उठता है, इसी प्रकार कहानी की नोक पर आँच पड़ते ही उसकी समग्र देहयष्टि फड़फड़ा उठनी चाहिए।

पहली पंक्ति में ही कहानी पाठक को पकड़ लेती है

अपनी पहली पंक्ति से ही पाठक को वशंवद बनाने वाली कहानी सूचित करती है कि उसके लेखक ने अपनी अर्थ-सामग्री पर इतना गहन तथा व्यापक विचार किया है कि वह उसका एक अंग बन गया है; कलाकार के भीतर रहते रहते कहानी की वस्तु उससे मिलकर एक हो गई है। जैसे एक चित्रकार कतिपय रेखाओं के मध्य में किसी वनस्थली को संपुटित कर उसे सर्वात्मना आत्मन्वती कर देता है, इसी प्रकार प्रवीण कथालेखक अपनी कथा को इस प्रकार परिस्थित करता है, कि उसकी लिखी कहानी की पहली पंक्ति ही अपने अशेष विस्तार को कह चुकी होती है।

...लेखक कहना ही को

एक बार संकेत देते ही कथालेखक का कर्तव्य है कि वह उस संकेत को आगे बढ़ाता जाय। उसकी पकड़ दृढ़ होनी चाहिए; उसे क्षणभर के लिए भी यह नहीं भुलाना चाहिए कि वह क्या कहना चाहता है, और उसके

यथार्थ बनाकर प्रस्तुत करता है

कथन का क्या महत्त्व है। उसकी इस दृढ़ पकड़ का, दूसरे शब्दों में यह आशय है कि उसने क्या कहना आरंभ करने से पहले उस पर भरपूर विचार किया है। और क्योंकि कथालेखक के द्वारा अपनाई गई जीवन के व्याख्यान की पद्धति, अर्थात् कहानीकला, उसे अपनी परिमिति के कारण इस बात से रोकती है कि वह चरित्रचित्रण द्वारा अपने कथावस्तु को विकसित करे, एक कथालेखक के लिए और भी अधिक वांछनीय हो जाता है कि वह अपनी घटना (adventure) ही को यथार्थ बना कर प्रस्तुत करे। कहना न होगा कि कहानी जितनी ही अधिक संक्षिप्त होगी और जितना ही उसकी क्रिया को ऊर्जस्वती बनाने के लिए अनावश्यक प्रपंच को उससे दूर रखा जायगा, उतना ही अधिक वह अपने प्रभाव के लिए न केवल उस तथ्य पर निर्भर रहेगी, जो प्रपंच को दूर करने पर शेष रह जाता है, प्रत्युत विधान के उस क्रमिक विकास पर भी आश्रित होगी, जिसके द्वारा कि इसे पाठकों के संमुख प्रस्तुत किया जाता है।

कहानी आधुनिक उपन्यास के समीप है तो भी उपन्यासकार सफल कहानीलेखक नहीं बनता

हमने कहा था कि कहानी में घटना तथा भाव की एकता दोनों आवश्यक है, और एकता की यह आवश्यकता ही कहानी के ध्येय को प्राथमिक उपन्यासों के ध्येय से पृथक् करके उसे आधुनिक उपन्यास के समीप ला रखती है। किंतु यद्यपि आधुनिक कहानी और उपन्यास दोनों ही समानरूप से कथा की एकता में विश्वास करते हैं, तथापि एक सफल उपन्यासकार के लिए कहानी के क्षेत्र में भी उतना ही सफल होना नितांत कठिन है। उसके लिए नाटक को खड़ा करने वाले उपकरण, अर्थात् कथावस्तु, पात्र, तथा सं[illegible] [illegible]स्थायी रूप

लिए, जगत् के प्रस्तुत चित्रपट का अवलोकन करने के उपरांत वेल्स के न पर उस उन्माद तथा विक्षिप्तचित्तता का अंकन हुआ था; जो ईर्ष्या उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। उन्होंने उसके एक उद्भावबिंदु को छाँट लिया, उसे शेष जगत् से गतसंग कर लिया और उसे दि कोन नामक कहानी की पट्टी पर खचित कर दिया। इसी प्रकार कोनराड ने, अपने अनुभव से उस युवक नाविक की चित्तवृत्ति को भाँप कर; जो उनके मन में पहली बार पूर्व के जादूभरे सौष्ठव को निरख कर उत्पन्न हुई थी, यह अनुभव किया कि यहाँ है एक ऐसी घटना, जो अपने में किसी भी अन्य पात्र या घटना को मिलाए बिना, स्वयं अपने आप में ही परिपूर्ण है, यह है एक ऐसी संगीतमय भावना, जिसे विस्तृत साहित्यिक रूप से दाबना उस पर अन्याय करना है; और इस एकतान्वित स्मृति से ही उसने यूथ नाम की कहानी को लिख डाला।

जगत् के प्रति हमारी तीन भावनाएँ

हमारे मन में, जिस जगत् में हम रहते हैं, उसके प्रति तीन भावनाएँ हो सकती हैं। पहली यह कि हम जगत् के विधान को, जैसा कि यह हमें दीख पड़ता है, उसी रूप में स्वीकार कर लें और अपने भाग्य की ओर या तो उपेक्षाभाव धारण कर लें अथवा व्यवसायात्मक बुद्धि धारण करके इसमें जुटे रहें। दूसरी वृत्ति क्रियात्मक उत्सुकता की हो सकती है, जिस से प्रेरित हो हम समाज, उद्योग तथा राजनीति में दीख पड़ने वाली समस्याओं पर विचार कर सकते हैं, और हो सके तो, उनमें सुधार करने के लिए सहयोग दे सकते हैं। और तीसरी वृत्ति में अपने चहुँओर की मादक परिस्थिति को देख कर हमारे मन में घृणा, चिड़चिड़ापन और निराशा के भाव उत्पन्न होकर उससे दूर भागने की इच्छा जाग सकती है। धर्म के क्षेत्र में यह तीन प्रवृत्तियाँ प्रथा के अनुसार

मन्दिर में जाने वाले उत्साही धर्म प्रचारकों और मावयोगी धार्मिकों के
रूप में परिणत हुई दीख पड़ती है।

जीवन को नियंत्रित करने वाली इन तीन वृत्तियों का इसी विशद
के साथ हमारे साहित्य में प्रतिफलन भी हुआ है।
इन तीन प्रवृत्तियों बहुत से, जिनका यहाँ विवेचन करना अनावश्यक
होता है, यथार्थ के प्रति होने वाली प्रतिक्रियाओं

इन तीन प्रवृत्तियों का साहित्य में प्रतिफलन

मुख्यतः प्राचीन साहित्य की अपेक्षा वर्तमान सा
में कहीं अधिक विशद रूप में हुआ; साथ ही अठा
सदी से यथार्थ तथा सौष्ठव में दीख पड़ने वाला सामीप्य उत्तरोत्तर ब
होता आया है, और इसी के अनुसार इन तीनों वृत्तियों को वहन
वाली साहित्यिक रचनाओं का पारस्परिक भेद भी उत्तरोत्तर स्प
चला आया है।

वर्तमान जगत् की श्रमभरित यथार्थता से दूर भागने की वृत्ति
भिन्न भिन्न रूपों में हमारे कथा-साहित्य में

पाश्चात्य कथा-साहित्य द्वारा इन तीन वृत्तियों का निदर्शन

हुई है। महाशय वेल्स वैज्ञानिक आविष्कारों की
में सौष्ठववाद का आनन्द लेते हैं, तो मा
अतीत घटनाओं के इतिहास में शांति पाते है
ने इस बात के लिए इस जगत् को उस रू
है, जो रूप इसका सिर के बल खड़े होकर
वाले पुरुष की दृष्टि में हो सकता है।

यह सब कुछ होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि य

वर्तमान कथा-साहित्य की

साहित्य की प्रभविष्णु वृत्ति यथार्थवाद
भाषा व्यापक है और इसमें उन सभी कहानि
वेश हो जाता है जो किसी न किसी रूप में,

प्रमुख वृत्ति यथार्थवाद है

जीवन का निदर्शन कराती है। इसके भीतर, जहाँ एक ओर उन कहानियों का समावेश है, जो एकांततः यथार्थवादी हैं, और जिनमें कथा-लेखक बिना किसी टीकाटिप्पणी के दृश्यमान जीवन को चित्रपट पर खींच देता है, वहाँ दूसरी ओर वे कल्पनामय यथार्थवादी कहानियाँ भी आ जाती हैं, जिनमें सौष्ठववाद के व्यासपीठ पर प्रदर्शित हुए मानवप्रतिरूप के चित्रण द्वारा मानवसमाज की विश्वजनीन वृत्तियों तथा प्रत्ययों को उद्भावित किया जाता है। यथार्थवाद की इन दो मैत्रेयी धाराओं के बीच उसकी अन्य बहुत सी परस्पर मिलती जुलती धाराएँ रहती हैं।

यथार्थवाद और सौष्ठववाद का सामंजस्य

वर्तमान कथासाहित्य में यथार्थवाद और सौष्ठववाद का सामंजस्य उसी सीमा तक उभर पाया है, जिस सीमा तक उनके संमिश्रण की हमारे जीवन में आवश्यकता अनुभव हुई। कल्पना की पीठिका पर उत्थान होने वाला साहित्य हमें अपनी दृश्यमान परिस्थिति से उठा कर कल्पनालोक में पहुँचा सकता है; अपने न्यूनातिन्यून रूप, अर्थात् एक जासूसी कहानी अथवा वैज्ञानिक रोमांस के रूप में यह हमारा क्रमविनोदन करके हमें प्रसन्नवदन बना सकता है; अपने उत्कृष्ट रूप में यह हमें किसी ऐसे स्थान पर ले जा सकता है, जहाँ बैठ हम जीवन के उन उन आदर्शों का पुनर्निर्माण कर सकें, जिन्हें व्यावसायिक विप्लव दिनों दिन धूलीसात करता जा रहा है। यथार्थवादी कहानियाँ, अपने सामान्य रूप में हमें यह जता सकती हैं कि यह जगत् हमारी अपनी जगती से कहीं बड़ा है; अपने उत्कृष्ट रूप में वे हमें हमारी अपेक्षा अधिक मूर्खता के, बृहत्तर बहादुरी के, और अपेक्षतर नीचता के कर्म करने वाले साथियों की प्रवृत्तियों को हृद्गत कराने में सहायता दे सकती हैं।

यथार्थवाद और सौष्ठववाद का कहानीजगत् में संपन्न होने वाला
यह सामंजस्य हमारे उस द्वैध व्यक्तित्व की आवश्यकता को पूरा करता है
जिस के रूप में हमें इस शरीर में, और इस निराशापूर्ण जगत् में जीना
पड़ता है; और हमारी आँख सदा उन लोकों की ओर लगी रहती है,
हमारे इस मूर्त जगत् की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी हैं और जिनमें हम स
प्रयत्न करने पर भी अब तक नहीं पहुँच पाए हैं।

गद्यकाव्य निबंध

निबंध किसे कहते हैं, इसके उत्तर में महाशय जे० बी० प्रीस्टले ने
है निबंध वह साहित्यिक रचना है जिसे एक निबंधकार ने रचा
वास्तव में निबंध की यथार्थ परिभाषा करना नितांत कठिन है;
निबंध के किसी भी लक्षण को लीजिए, उसमें लोकक रचित एगो
ह्यूमेन अंडरस्टैंडिंग और लैम्ब रचित ओल्ड चाइना इन दोनों का
नहीं होता। निबंध हो सकता है एक विवरण, वक्तृता, शास्त्रार्थ अथ
वितर्क। निबंध का विषय हो सकता है धार्मिक, ऐतिहासिक,
वैज्ञानिक, दार्शनिक, अथवा किसी अन्य प्रकार का विषय। किन्तु
साहित्यिक चर्चा में निबंध का नाम लेते हैं, तब हमारे मन में उ
परिसीमित तथा किसी सीमा तक निर्धारित लक्षण रहता है। तब
हमारा आशय होता है साहित्य की उस विधाविशेष से, जिसका ल
लिक मूल्यविशेष होता है और जो भाषा का, अपनी दृष्टि के अनु
के व्याख्यान के लिए, माध्यम के रूप में उपयोग करती है।

निबंध का प्रमुख लक्ष्य है पाठक को आनन्द देना। जब
अपनाती में मैं किसी निबन्धरचना को उठाते हैं, तब हमारे मन

इच्छा उससे आनन्द लाभ करने की होती है। निबन्ध के सभी अंगों तथा उसके सभी उपकरणों का प्रमुख ध्येय यह आनन्द-प्रदान ही होना चाहिए निबंध के अग्रिम शब्द के लिए ही आवश्यक है कि वह पाठक पर ऐसा जा सेल जाय जो उसके अंतिम शब्द को पढ़ने तक उस पर सवार रहे। निबं के आदि से लेकर अंत तक के समय में पाठक को भाँति भाँति की अनुभूतिय में से गुजरना होता है, *इस बीच में उसका आरोचन तथा उद्दीपन ह* सकता है, उसके मन में आश्चर्य, प्रेम तथा घृणा आदि के भाव उत्पन्न ह सकते हैं किंतु इस बीच में उसके लिए उठना अर्थात् निबंध से उत्पन्न हुई स्वप्नमुद्रा से जागना अनभीष्ट है। निबंधरचना के लिए आवश्य है कि उस काल के लिए हमें अपनी गोद में ले ले और हमारे तथा संसा के मध्य एक बड़ी दीवार खड़ी कर दे।

किंतु इस काम को विरले ही निबंधकार पूरा कर पाए हैं।

स्वगतभाषण में पाठक के ध्यान को वशंवद बनाए रखना नितां कठिन है; और निबंध भी एक प्रकार का स्वगतभाषण ही है। ए निबंधकार के पास ऐसे साधन बहुत ही न्यून होते हैं, जिनके द्वारा व पाठक के मन को अपनी रचना में बांधे रखे। कहने के लिए उसके पा कहानी नहीं होती, जिसके द्वारा पाठक के मन में उत्सुकता बनाए रखे गाने लिए उसके पास स्वर, ताल तथा लय नहीं होते, जिनके द्वारा व पाठक को मंत्रमुग्ध बनाए रखे। उसका वातावरण बहुत अधिक सकुचि होता है; उसमें ध्वनि और गति के लिए अवकाश होता ही नहीं है। अप काम में उसे अत्यंत सावधान रहना पड़ता है; यदि वह उस काम में तनि भी चूका, यदि उसने अपनी रचना में ज़रा भी प्रमाद किया तो समझ उसकी रचना बालू में बह गई, आनन्द नौका डूब गई, और पाठक निबं पढ़ने से खीझ गया।

है। हो सकता है कि जिस व्यक्तित्व से आविष्ट हो वह अपनी रचना को प्रस्तुत करता है, वह पूर्ण रूप से उसका अपना न हो; किंतु उस व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है कि वह चारों ओर से परिपूर्ण हो। हम जानते हैं कि एलिया, चार्ल्स लैम्ब का परिपूर्ण आपा नहीं है, इसी प्रकार स्पैक्टेटर भी एडिसन का सारा आपा नहीं है, किंतु दोनों में से प्रत्येक एक परिपूर्ण तथा भलीभाँति पहचान में आने वाला व्यक्ति अवश्य है। हम उन दोनों के आस पास घूम सकते हैं; दोनों को अपने घर का करके पहचान सकते हैं। निबन्धकार के साथ हमारी इस मित्रता की स्थापना होनी आवश्यक है; निबन्धकला की प्रमुख विशेषता **है ही इस परिचित अथवा सांनिध्य में।** निबन्धकार को अपनी समस्त रचना में वही एक बन कर रहना है, और हमें भी पल भर के लिए उससे पृथक् नहीं होना है। अपनी रचना में चाहे वह कितने और कैसे भी व्यक्ति, परिस्थितियाँ अथवा वातावरण क्यों न प्रस्तुत करे, वह उसमें किसी भी पुस्तक, चित्र अथवा पात्र का विवेचन क्यों न करे उसके लिए यह आवश्यक है कि वह हमें प्रतिक्षण यह स्मरण कराता रहे कि उन सब बातों का पाठपीछे दृष्टि उसकी अपनी है। निबन्ध को पढ़ते समय हमारा मन सहज ही निबन्ध के विषय से हट कर, उस रचना के अंतस्तल में प्रवाहित होने वाले उसके रचयिता के व्यक्तित्व पर आकृष्ट हो जाता है। इस विषयक आत्मनिवेदन में ही निबन्धकला की *इतिकर्तव्यता है। देखने में तो यह बात सामान्य प्रतीत होती है, किंतु* इसकी परिपूर्ति विरले ही कलाकारों के हाथों हो पाई है।

अलेक्जेंडर स्मिथ के अनुसार निबन्ध और विषयप्रधान रचना का इस बात में देक्य है कि दोनों ही की शैली किसी एक स्थायी भाव पर टिकी होती है। यह स्थायी भाव निबन्धकार के हस्तगत हुआ नहीं कि आरंभ

से अन्त तक उसकी रचना का शब्द शब्द उस भाव की अभिव्यक्ति में समर्पित होता चला जाता है।

निबन्ध के इस विवरण में उसके निर्माताओं के विषय में कुछ कहना असंगत न होगा। मोन्तेन्य की मृत्यु १५६२ में हुई और बेकन के पहले १० प्रबन्ध पाँच वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुए। इंग्लैंड में प्रकाशित होने वाले सब से प्रथम निबन्ध यही थे। १६१२ में उसके निबन्धों की संख्या ३८ हुई, जो आगे चलकर १६२५ में ५८ हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि निबन्धलेखन की कला को बेकन ने मोन्तेन्य से सीखा था, तथापि दोनों की रचना के अपने अपने स्थायी भाव एक दूसरे से नितरां भिन्न थे। हम कह सकते हैं कि निबन्धरचयिता के स्वभाव की दृष्टि से मोन्तेन्य आदर्श व्यक्ति था; वह था सहृदय, हास्यप्रिय, प्रेमास्पद और मनोवैज्ञानिक सत्य की खोज में अत्यत उन्मुख, जब कि बेकन ने साहित्य की इस नवोदित विधा का उपयोग किया था संसार के ऐसे प्रकाशन में, जैसा कि यह उसके अपने स्वभाव के अनुरूप उसे दीख पड़ता था। मोन्तेन्य था उष्ण रुधि और मांस का पुतला; वह व्यग्र था अपने उस आसन पर जिसके चहुँ ओ मोटे अक्षरों में खुदा था मैं नहीं समझता; मैं रुकता हूँ, और परीक्ष करता हूँ। दूसरी ओर बेकन है प्रज्ञा और वैदग्ध्य की एक प्रतिमूर्ति, विचक्षण न्यायाधीश के समान मानवजीवन पर मनचाही टीका-टिप्प करता है, किन्तु फिर भी उस टिप्पणी से किसी सीमा तक पृथक् रहता उसका विषय सुतरां निर्धारित तथा भली प्रकार प्रस्तुत किया गया है, किन्तु साथ ही वह सुतरां बाह्य तथा सामान्य रहता है। वह सारे सारा बेकन द्वारा भली प्रकार अनुशीलित तो रहता है किन्तु इसका स्वयं अनुभव नहीं किया होता।

१६६८ में कौउले के निबन्ध प्रकाशित हुए और उन्हीं के

अंग्रेज़ी प्रबन्धों में मोन्तेन्य की छाया दीख पड़ी। कहना न होगा कि कौउले की प्रतिभा संकुचित थी, उसका व्यक्तित्व संकीर्ण और अपरिपूर्ण था, उसकी रचनाओं में उसकी एक ही नाड़ी धमधमाती है, किन्तु उस एक नाड़ी में ही कौउले की सारी जान है। उसके ऑफ माइसेल्फ नामक निबन्ध में ऐसा उत्कट सान्निध्य तथा आत्मा की इतनी गहरी कूक पैठी है कि वह पढ़ते ही बनता है; वह आदि से अन्त तक ऋजुता और स्वाभाविकता से ओत प्रोत है।

सर विलियम टेम्पल के निबंधों में भी किसी सीमा तक यही बात दीख पड़ती है, किन्तु निबंधों को अभिलषित लोकप्रियता की प्राप्ति समाचारपत्रोंके सूत्रपात होने पर ही हुई। समाचारपत्रों के द्वारा निबंधों को मारकीट मिली, जो तब से अब तक उन्हें प्राप्त है। इनके द्वारा निबन्धकारों ने पाठकों का ऐसा केंद्र प्राप्त हुआ जो उन्हें अपना चिरपरिचित सा दीख पड़ा और जिसके संमुख वे मित्र की भाँति अपना आपा प्रस्तुत कर सके। इस केंद्र से निबंधकारों को ऐसे विषयों पर निबंध लिखने के लिए प्रोत्साहन मिला, जो निबंधरचना के उपयुक्त थे—यथा, निबंधलेखक के अपने चहुँ ओर दीखने वाला सामान्य जीवन, ऐसा जीवन जो अमूर्त तथा अप्रत्यक्ष न हो, प्रत्यक्ष, वैयक्तिक तथा चिरपरिचित सा, जो उनके तथा उनके पाठकों के लिए समान रूप से सुनिर्धारित तथा सुसव्यक्त था। २ एप्रिल, १७०६ को धनियों के प्रातराश टेबल पर और नगर के काफ़ेस में टेट्लर नामक पत्र के दर्शन हुए; तब से लेकर १८ वीं सदी के अन्त तक निबंधों की भरमार रही। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक पाठकों के लिए ये निबंध रुचिकर न होंगे, किंतु अठारहवीं सदी के पाठकों का उन से श्रेष्ट चित्तरंजन हुआ। इन निबंधों में चारित्रिक समस्याओं का विवरण रहता था; किंतु उनके नीरस होने का कारण उनका चारित्रिक

समस्याओं के साथ होने वाला यह सम्बन्ध नहीं, अपितु चारित्रिक समस्याओं की व्याख्या करने का उनका अपना प्रकारविशेष था। वैसे अतीत में, वैसे ही वर्तमान में भी, विचारशील व्यक्तियों के जीवन का केन्द्र चरित्र रहा है; और निबन्ध में भी चारित्रिक समस्याओं का विश्लेषण कोई अवांछनीय बात नहीं है। किंतु जिस प्रकार साहित्य की अन्य विधाओं में उसी प्रकार निबंध में भी इन समस्याओं पर प्रत्यक्ष तथा अवैयक्तिक रूप से प्रकाश नहीं डाला जाना चाहिए; क्योंकि जहाँ साहित्य की दूसरी विधाओं में व्यक्तित्व-प्रतिफलन वांछनीय है, वहाँ निबन्ध की तो जान ही व्यक्तित्वप्रतिफलन में है।

रॉबर्ट लुई स्टीवंसन अपने समय का ख्यातनामा निबन्धकार हो चुका है, किन्तु आज उसकी लोकप्रियता अक्षुण्ण नहीं रही। उपन्यास लिखने में वह दूसरी कोटि का लेखक था, किन्तु निबन्ध लिखने में उसकी कोटि निःसंदेह पहली थी। आजीवन उसे एक दारुण व्याधि से संत्रस्त रहना पड़ा; किन्तु बड़े ही आश्चर्य की बात है कि उस यातना से निरंतर सताए जाने पर भी उसकी वृत्ति में चिड़चिड़ापन न आकर उसका व्यक्तित्व बहुत ही भव्य तथा मनोहारी संपन्न हुआ और यह अभिराम व्यक्तित्व ही उसके निबन्धों में प्रतिपंक्ति और प्रतिपद पड़ा पड़ता है। कहना न होगा कि स्टीवंसन ने भी जगह जगह मानवीय चरित्र पर प्रकाश डाला है, किन्तु उसका चरित्रप्रकाशन सत्रहवीं सदी के निबन्धकारों के चरित्र प्रकाशन से सुतरा भिन्न प्रकार का है; उसमें चरित्र का परम्परागत रूप प्रदर्शन नहीं है। इसमें हमें चारों ओर से छुँटे, नपेतुले, दक्ष, आह्लादसंपन्न तथा भावनामय व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

गोल्डस्मिथ तथा हैज़लिट के पश्चात् अंग्रेजी निबन्धलेखकों में चार्ल्स ... न। आता है, जिनके विषय में दो-एक शब्द कहना आवश्यक

प्रतीत होता है। लैंब रचित 'ओल्ड चाइन' की हैभलिट के माई फर्स्ट एक्वेंटेंस विद पोयट्स के साथ तुलना करने पर कहा जा सकता है कि दोनों कलाकार पूरी सफलता के साथ सजीव मूर्तियों का निर्माण करते और दोनों ही अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अतीत को वर्तमान के साथ मिलाकर एक कर देते हैं। किन्तु जहाँ लैंब सुखभरित भावना से प्रेरित होकर लिखता है, वहाँ हैभलिट आँख खुलने पर पैदा हुए झुरमुट में कलम चलाता है। अपने निबन्धों में लैंब नाटकीय प्रकार से काम लेता है तो हैभलिट वर्णन के द्वारा सफलता लाभ करता है; किंतु रचना दोनों ही की समान रूप से फलगर्भ बन आई है। यह सब कुछ कह चुकने पर भी मानना पड़ेगा कि **निबंधलेखन की कला में लैंब परिपूर्णता का दूसरा नाम है।** यह परिपूर्णता किसी अंश तक उसके अद्वितीय स्वभाव से, किसी सीमा तक उसके अद्वितीय पठनपाठन तथा अनुशीलन से, और किसी हद तक निबन्धकला पर प्राप्त किये उसके पूर्णाधिपत्य से विकसित हुई थी। उसकी सफलता का प्रमुख गुण उसकी प्रत्यक्षता तथा प्रकटता है। *वह जिस जगत् को रचता है, उससे वह भली-भाँति परिचित है;* वह जगत् उसका कई बार का देखा भाला है। उसकी रचनाओं में उसके मित्र तथा सहचारी गरदन उठाए खड़े हैं; उसका अशेष जीवन ही सवाक् होकर हमारे समुख आया दीख पड़ता है। उसके द्वारा संकेतित की गई उसके व्यक्तित्व की रूपरेखा इतनी मनोज्ञ संपन्न हुई है कि उसमें उसके वे भाग भी झलक आए हैं, जिन्हें वह हम से छिपाना चाहता है। उस रूपरेखा के द्वारा हम उसे ऐसा पहचान गए हैं, जैसा कि सम्भवतः अपने आपे को वह अपने आप भी न जान पाया हो। हैभलिट की नाईं वह अपने विषय में प्रत्यक्षरूप से कुछ नहीं कहता; हम नहीं जानते कि अपने विषय में उसके क्या विचार थे; बस इसी बात में उसकी अनुपम विशेषता है।

समसामयिक निबन्धकार इस कला की विशेषता से अपरिचित थे। उनके निबन्धों का आरम्भ ऐसे वाक्यविन्यासों से होता था, जिनका निबन्ध के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होता था। निरर्थक भूमिका बाँधने की परिपाटी सब को प्यारी थी; रूढ़िगत धार्मिकता और भावुकता की सब पर धाक थी। निबन्धों के क्षेत्र में सब से पहले सफल लेखक पण्डित प्रतापनारायण मिश्र हुए, जिनमें स्वगत भावों को स्पष्ट और स्वाभाविक रूप से कहने की क्षमता पर्याप्त मात्रा में दीख पड़ी।

निबन्ध की गंभीर शैली को अपनाने वाले लेखकों में पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दरदास स्मरणीय हैं। पण्डित बदरीनारायण चौधरी; पण्डित अम्बिकादत्त व्यास तथा पण्डित माधवप्रसाद मिश्र के निबन्ध या तो भाषा के अलंकरणभार में दब गए हैं, अथवा साधारण कोटि की भावुकता और धार्मिकता का द्योतन करते हैं। उच्च कोटि के भावनासंवलित निबन्ध लिखने वालों में श्रीयुत पूर्णसिंह तथ गुलाबराय जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

गद्यकाव्य—जीवनचरित

मोन्तेन्य ने कहा है कि:—

मैं उन लेखकों की रचनाओं को अधिक रुचि से पढ़ता हूँ जो जीवनचरित लिखते हैं; क्योंकि, सामान्यतया मनुष्य, जिसके पहचानने के लिए मैं सदा प्रयत्नशील रहा हूँ, साहित्य की अन्य सभी विधाओं की अपेक्षा जीवनचरित में कहीं अधिक विशद तथा परिपूर्ण होकर प्रकट होता है, साथ ही उसी आंतरिक गुणावलियों की यथार्थता तथा बहुविधता उन उपायों की, जिनके द्वारा वह संश्लिष्ट तथा

कतिपय जीवनियाँ भी प्रकाशित हुईं—जिनमें लार्ड कैवेंडिश रचित कार्डिनल वुल्ज़ ले की जीवनी अच्छी बन पड़ी—साहित्य की यह विधा जनता को अपनी ओर न खींच सकी। सत्रहवीं सदी में जीवनियों ने विशेष उन्नति नहीं की, यद्यपि जॉन औब्रे द्वारा महान् पुरुषों के विषय में एकत्र की गई कथाकहानियों ने इसके विकास में अच्छा काम किया। किन्तु सत्रहवीं सदी के अंतिम भाग में जॉहन बनियन ने ग्रेस अबाउडिंग टु दि चीफ़ ऑफ़ सिनर्स लिख कर साहित्य की इस विधा को पहले से कहीं अधिक आगे बढ़ाया।

अठारहवीं सदी में जीवनियों को यथेष्ट प्रगति मिली। श्रीमत्ता के साथ बढ़ने वाले पंडितवर्ग का एलाभड़बीयन युग में दीख पड़ने वाली जीवन की तड़क-भड़क के साथ प्रेम न था; फलतः इस समाज के लिये लिखे गए साहित्य में उस तड़क-भड़क के चित्र भी नहीं खड़े किए जाते थे। शनैः शनैः नेताओं का ध्यान सामान्य जनता की ओर केंद्रित हो रहा था; उन्हीं की भलाई और बुराई का वर्णन करने वाले निबंध और उपन्यासों में उसकी रुचि बढ़ रही थी। जिस दृष्टि से प्रेरित हो उस समय के समाज ने जीवित मानव से प्रेम करना सीखा था; उसी दृष्टि ने उसे मृत मानव का चरित्र चित्रण करने की ओर प्रेरित किया, जिसका फल यह हुआ कि राजर नार्थ ने १७४०—४४ के मध्य अपने तीन भाइयों की जीवनी लाइव्ज़ ऑफ़ नार्थ्स, जॉहसन ने १७४४ में लाइफ़ ऑफ़ सेवेज, और १७७४ में मेसन ने लाइफ़ एंड लेटर्स ऑफ़ ग्रे जैसी रुचिर जीवनियाँ जनता के संमुख रखीं।

जब पहले-पहल मॉन्तेन्य ने मनुष्य के चरित्र में अपनी रुचि प्रकट की थी, उसके कथन से प्रतीत होता था उसकी रुचि का प्रधान विषय उन जीवननियों का कथनीय विषय है, और यह बात सचमुच

है भी ठीक; क्योंकि जीवनियों का—जैसा मोन्तेन्स के समय
ही आज भी—प्रमुख ध्येय मनुष्य की आत्म-विषयक उत्कंठा को
है। और इस उद्देश्य से किसी भी जीवनी का चरम सार इस बात
उसका विषय एक ऐसा जीवन है जो सारवान् है और जिसे जनता
रखने में विश्व का कल्याण होना संभव है। यदि एक चरितले
कथनीय विषय ऐसा न हुआ तो उसकी रचना निर्जीव रह जायगी,
अपनी रचना को फलगर्भ बनाने के लिए उसे किसी प्रकार भी
कथनीय विषय से बाहर जाने का अधिकार नहीं है। एक उपन्यासक
यह अधिकार है कि वह किसी सामान्य व्यक्ति को अपनी रचना का न
बनाकर उसे रुचिकर बनाने के लिए अपनी इच्छा के अनुसार तदनु
सामग्री तथा वातावरण जुटा ले। किंतु एक चरितलेखक साहित्य के क्षेत्र
उपलब्ध होने वाली इस स्वतंत्रता से सुतरां वंचित है। उसे तो अप
नायक की कथा कहनी है; उस कथा में अमूल तथा अनपेक्षित तत्वों क
संमिलित करने का उसे अधिकार नहीं है। फलतः चरित की कथनीय
वस्तु के लिए आवश्यक है कि वह सचमुच कथनीय हो, यह
यथार्थ में सामान्यवर्ग से अनूठी हो।

चरित की अर्थसामग्री के विषय में इतना कह चुकने पर आगे बात रह
जाती है उसके कहने के प्रकार की, उसकी शैली, और कला की दृष्टि से उस
की रमणीयता की। हेरल्ड निकल्सन के अनुसार जीवनी लिखने के लिए एक
विशेष प्रकार के बुद्धिकौशल की अपेक्षा है, और संसार में कोई भी जीवनी
नहीं है, जिसकी रचना किसी अनूठी प्रतिभा ने की हो। किसी अंश में यह
कथन सत्य है; क्योंकि एक चरितलेखक को अपना नायक गढ़ने की आवश्य-
कता नहीं है; उसका साँचा तो पहले ही से प्रस्तुत है; उसे तो इसके ... आप्त
के विषय में प्राप्त होने वाले ...

केवल डाल देना है। इस काम के लिए उसे एक उपन्यासकार अथवा नाट्यकार की सफलता के मूलाधार तत्व, अर्थात् विधायनी प्रतिमा की विशेष अपेक्षा नहीं है। और सचमुच कोई भी व्यक्ति, जिसे जीवन से यथार्थ प्रेम है, जीवन की उस वृत्ति को पसंद नहीं करेगा, जो वर्तमान काल में उसने धारण कर रखी है, जिसमें नायक की घटनावलि के विषय में सत्य और असत्य का विवेक नहीं रहा और जिसमें हमारे लिए इस बात का निर्णय करना कठिन हो गया है कि नायक के चरित में आने वाली बातों में से कौन सी उसने स्वयं कहीं अथवा की हैं और कौन सी जीवनी के लेखक ने अपने मस्तिष्क से उस पर आरोपित की हैं। और यदि चरितलेखक का प्रमुख लक्ष्य अपने नायक के विषय में सत्य बातों का समाहार करना है तो उसके लिए संचित सामग्री में से अपेक्षणीय तथ्यों का संश्लेषण, विश्लेषण, निर्वाचन तथा सत्यापन करना ही प्रधान कर्तव्य रह जाता है। किंतु यह सब कुछ होने पर भी कार्लाईल के अनुसार एक सफल चरित का लिखना इतना ही कठिन है, जितना एक सफल जीवनी का अपने जीवन में निवाह ले जाना। इतना ही नहीं, हमारी समझ में तो यह काम उससे भी कहीं अधिक कठिन है; क्योंकि जॉहंसन रचित लाइफ ऑफ सेवेज के पश्चात् दो सौ बरस के अंतर में हमें सफल जीवन तो अनेक मिलते हैं, किंतु सफल जीवन के विषय में लिखी गई सफल जीवनियाँ अंगुलियों पर गिनी जाने योग्य ही बन पाई हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि वे कौन से उपकरण हैं, जिनके समवेत होने पर जीवनी अपना प्रसन्न रूप धारण करती है। इसके उत्तर में हम कहेंगे कि चरितलेखक के लिए सब से अधिक आवश्यक उपकरण है समुचित संक्षेप—अर्थात् किसी भी अनावश्यक बात को अपनी रचना में न आने देना और किसी भी अपेक्षित तथ्य को आँख से न बचने देना। इसके साथ ही दूसरा उपकरण है

समस्त रचना में अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखना।

जीवनी में किसी भी अनपेक्षित तथ्य को न आने देने और किसी भी अपेक्षित तथ्य को न छोड़ने का सार है उसमें एकता की रक्षा करना, अर्थात् नायक की जीवनी के अंगों को उसकी जीवनसमष्टि के साथ समीचीन रूप से बैठाना। इसी बात को दूसरे शब्दों में हम यों व्यक्त कर सकते हैं कि जीवन चरित्र की प्रतिपंक्ति में उसका नायक खड़ा हुआ चमकता रहना चाहिए; उसमें उसका व्यक्तित्व दीपक की भाँति सतत प्रकाशवान् बना रहना चाहिए। कहना न होगा कि इस काम के लिए कलाकार को अत्यन्त ही प्रवीण तथा प्रौढ़ बनना पड़ता है; उसे अपने विषय का पारदर्शी होना होता है। सभी जानते हैं कि हम में से तुच्छातितुच्छ व्यक्ति की सत्ता भी बहुमुखी संकुलता (complexities) से संकीर्ण है; हममें से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण जीवन की नानामुखी धाराओं में बहता रहता है। एक सफल चरित के लिए आवश्यक है कि वह अपने विषय के यथार्थ तथा अशेष रूप को दृष्टि में रखता हुआ उसकी सामान्यतम रेखाओं पर भी ऐसा प्रकाश डाले कि उनमें से हर एक रेखा, फड़कती हुई, चित्र की परिपूर्णता में सहायक बनकर; उनके अशेष रूप को एक तथा अखंड बनाकर पाठकों के संमुख प्रस्तुत करने में सहकारिणी बने। उसकी रचना में नायक के जीवन की प्रत्येक घटना, उसके विषय का प्रत्येक प्रमाण, उसकी बौद्धिक, हार्दिक तथा व्यावहारिक सभी प्रकार की अनुभूतियाँ—जो उसने अपने जीवन में एकत्र की हैं—उसका प्रत्येक भाव तथा व्यापार, प्रत्येक विचार तथा (मनुष्यों के साथ होने वाला प्रत्येक) संसर्ग—जिसका कि लेखक को ज्ञान है—सभी का अपने अपने महत्व के अनुसार उसकी जीवनसमष्टि में अचित होना अपेक्षित है। समय तथा स्थान, अवस्था तथा वातावरण, इस रचना में सभी

का उभरे रहना आवश्यक है; और जिस प्रकार ये, उसी प्रकार सभी प्रकार के बौद्धिक विचारों तथा सहकारी व्यक्तियों का सिर उठाए खड़े रहना वांछनीय है। किसी न किसी प्रकार भाँति-भाँति की अनुभूतियों का उनके उपादानसहित संप्रदर्शन किया जाना अपेक्षित है। साथ ही इस बात को कौन नहीं जानता कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति एक ही समय में नानामुख और नानाधी बना रहता है; एक व्यक्ति होता हुआ भी वह अनेक पात्रों में परिवर्तित होता रहता है। एक में समवेत होने वाले इन सब नानामुख पात्रों का निदर्शन होना आवश्यक है; और यह सब कुछ औचित्य तथा समंजसता के साथ; अपने अपने महत्त्व के अनुसार। संक्षेप में एक चरित्र लेखक को बहुविधता के संकुल में से एकता को जन्म देना होता है; व्यस्तता में से विन्यास का उद्घाटन करना होता है; स्वतंत्र लयों और तालों के संकर में से स्वरैक्य का उत्थापन करना होता है।

जीवनी में किसी अनपेक्षित तथ्य के न आने देने और किसी भी अपेक्षित तथ्य के न छुटने देने में संघटन की वह सारी ही प्रक्रिया आ जाती है, जिसके द्वारा विकीर्ण सामग्री के संघ में से एक परिपूर्ण व्यक्ति की एकता तथा सजीवता का उद्भावन किया जाता है; इसे हस्तगत करना चरित्रलेखक का प्रथम कर्तव्य है। चरित्रलेखक की दूसरी आवश्यकता है अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखना। स्ट्रेची के अनुसार इनका आशय है, उसे अपने नायक का अंधा पुजारी न बन कर उसके विषय में ज्ञात हुए सभी तथ्यों को पाठकों के सम्मुख रखना।

आज हम स्ट्रेची के उक्त कथन के महत्त्व को सहज ही भूल जाते हैं, क्योंकि इस विषय में चरित्रलेखकों की सामान्य मनोवृत्ति, १९१८ में, जब कि उसने अपने एमिनेंट विक्टोरियंस के उपोद्घात में उक्त शब्द लिखे थे, आज की मनोवृत्ति से भिन्न प्रकार की थी। उन दिनों के जीवनचरितों

में साप का वंश बहुत कुछ हास हो चुका था और लेखक अपने नायक की जीवनी को ऐसे रूप में लेखबद्ध करते थे, जैसा कि उन्हें और उनके पाठकों को भाता था।

किंतु जीवनचरित के विषय में स्ट्रेची द्वारा स्थापित किए गए सिद्धांत में एक बात है, जिसे हमने अब तक बिना टिप्पणी के छोड़ रखा है और वह है अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखना, जीवन-विषयक तथ्यों को प्रदर्शित करना, किंतु उन्हें इस प्रकार प्रदर्शित करना जैसा कि लेखक में समझा है। सब जानते हैं कि साहित्य की इतर विधाओं की भाँति चरित में भी कथनीय विषय और कथन करने वाले रचयिता के मध्य एक प्रकार की सहकारिता होती है; जिस का परिणाम यह होता है कि कला, रचयिता के व्यक्तित्व में रँगी जाती है। और इस दृष्टि से देखने पर हम जीवनियों के दो विभाग कर सकते हैं; एक वह जिसका आविष्कार मेसन ने किया था और जो आगे चलकर बोसवैल में पराकोटि को प्राप्त हुई। वर्तमानयुग में इस श्रेणी का निदर्शन प्रामी लॉवेल रचित कीट्स की जीवनी और डी. ए. विल्सन द्वारा रची गई कार्लाइल की जीवनी है। जीवनियों की दूसरी राशि वह है, जिस का सूत्रपात स्वयं जॉनसन ने किया था और जिस का मध्य निदर्शन लिटन स्ट्रेची की रचनाएँ हैं। ध्येय दोनों का समान रूप से नायक के व्यक्तित्व को सजीव बनाना है। दोनों ही उसके विषय में ज्ञात हुई सामग्री का समुचित उपयोग करती हैं; किंतु उस सामग्री का उपयोग करने के प्रकार दोनों के अपने भिन्न भिन्न हैं। पहले प्रकार की अपने विषय की ओर पहुँच अवैयक्तिक है, और दूसरे की वैयक्तिक। बोसवैल ने बड़ी धीरता के साथ उस सभी सामग्री का संचय किया था जो उसे अपने नायक के विषय में उपलब्ध हो सकी थी; उसके आधार पर उसने अपने नायक का ऐसा सर्वांगपूर्ण प्रतिमान खड़ा किया, जिसे वह प्रतिक्षण अपने

मन और हृदय में धारण किए रहता था। बस यहीं पर उसने अपने व्यक्तित्व की इति कर दी है। उसने अपने प्रतिमान को पाठकों के संमुख प्रस्तुत करते हुए उनके सामने वह दृष्टिकोण नहीं रखा, जिसके द्वारा वह उसे देखता था; उसने अपनी अर्थसामग्री में अपने व्यक्तित्व की पुट भी नहीं दी। जीवनी को सूत्रबद्ध करते समय बोसवैल का ध्यान अपने व्यक्तित्व पर था ही नहीं; उसने जानबूझ कर अपने व्यक्तित्व को जॉंहसन की जीवनी में नहीं संनिहित होने दिया। उसके पास एक प्रच्छद पट था, . जिसे खोल कर उसने जनता के संमुख रख दिया; यह जनता पर निर्भर है कि वह उस पट को किस दृष्टिकोण से देखती है। इसका यह आशय नहीं कि लाइफ आफ सैमुअल जॉंहसन में बोसवैल का व्यक्तित्व है ही नहीं; वह है; किंतु है अनजाने में, अपने आप; इतना, जितना कि एक कलाकार का उस की कला में होना सर्वथा अनिवार्य है। उसने निष्पक्ष हो अपने नायक को भली-बुरी सभी बातें पाठकों के सम्मुख रख दी हैं। बोसवैल ने अपनी रचना के उपोद्घात में लिखा है कि वह अपनी रचना में अपने नायक को इतने परिपूर्ण तथा सर्वांगीण रूप में दिखाएगा, जितने में आज तक कोई भी व्यक्ति नहीं दीख पाया—और उसने अपने इस दावे को शतशः करके दिखा भी दिया है। क्योंकि आज तक बोसवैल की रचना के कॉंटे पर संसार की दूसरी जीवनी नहीं उतर पाई। उसने अपनी प्रतिभा के द्वारा चरितरचना के उस प्रकार का आविष्कार किया, जो आगे चल कर इस कोटि की रचनाओं के लिए आदर्शरूप संपन्न हुआ। क्योंकि जॉंहसन की सत्ता जनता के मन में एक महान् लेखक अथवा तत्त्वज्ञ के रूप में नहीं थी; उसे लोग किसी जातीय कला के उत्थापक के रूप में भी नहीं देखते थे; उनकी दृष्टि में वह एक महान् पुरुष था, एक मूर्त सत्ता थी, जिसे वे लोग सुनते थे और देखते थे, जो उनकी दृष्टि को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था; और ठीक एक महान् पुरुष के

रूप में ही वह बोसवैल के पृष्ठों में संनद्ध हुआ खड़ा है और सदा खड़ा रहेगा। बोसवैल ने उसकी यथार्थता को अपनी रचना में संपुटित कर दिया है; अपनी प्रतिभा द्वारा उस व्यक्ति को निर्जीव मुद्रण में कील दिया है; जो विल्कीस के साथ भोजन करता था, जो छोटे बच्चों के हाथों में पैसा पकड़ाता था, जो संतरे के छिलकों को एकत्र करता था, जो मृत्यु के नाम से कांप जाता था, जो अपनी गोद में बैठा कर उसे चूमने वाली महिला से कहता था, "एक बार मुझे फिर चूमो, चूमते चले जाओ, देखें तुम पहले थकती हो या मैं।"

किंतु जीवनचरित की बोसवैलद्वारा स्थापित की गई सरणि सब विषय में समानरूप से सफल नहीं हो सकती। हम कह सकते हैं कि इसकी सफलता का प्रमुख कारण यह है कि यह जीवनी जॉनसन के विषय में लिखी गई है, जब कि जॉनसन रचित लाइफ आफ सेवेज की सफलता का प्रधान कारण यह है कि वह जॉनसन द्वारा लिखी गई है। पहली में उसका कथनीय विषय महान् है, जो, चाहे जिस प्रकार कहा जाय, फब जाता है; दूसरी में विषय का कहने वाला महान् है, जो, चाहे जिस प्रकार के विषय पर हाथ डाले, उस पर अपने महत्त्व की मुद्रा अंकित कर देता है। बोसवैल के समान जॉनसन ने भी अपनी कथनीय वस्तु के विषय में यथासंभव सभी कुछ एकत्र किया था; किंतु उसने उसे पाठकों के समुख उस रूप में रखा, जिस रूप में वह उसे समझता था, देखता था; उसने उसे अपने व्यक्तित्व के रंग में रंग कर जनता के सामने प्रस्तुत किया; उसके ऊपर मनचाहे मूल्य की तख्ती लगा कर दर्शकों को दिखाया। इसी का परिणाम है कि उसके रचे लाइफ आफ सेवेज में हम प्रतिदिन जॉनसन की अपनी जीवनी को पढ़ सकते हैं, उसके प्रति संदर्भ में हमें सेवेज के पीछे स्वयं जॉनसन खड़े हुए दीख पड़ते हैं। लिटन स्ट्रेची ने अपनी रचना में इसी सरणि को अपनाया है, जिसकी

अनुकृति हमें आंद्रे मोर्वा तथा हेरल्ड निकल्सन की रचनाओं में दीख पड़ती है। अपनी रचना में यथासंभव अपने कथनीय विषय से विश्लिष्ट रहने का प्रयत्न करने पर भी स्ट्रेची अपने हृदय में चरित्र का व्याख्याता है; और उसने अपने सभी पात्रों को उसी दृष्टिकोण से पाठकों के संमुख रखा है। जब तक पाठक उसके साहचर्य में रहता है उसके संमुख वही एक दृष्टिकोण तना खड़ा रहता है, उसे स्ट्रेची के पात्रों को उसी एक दृष्टिकोण से देखना पड़ता है।

इसमें संशय नहीं कि जीवनी की इस सरणि ने स्ट्रेची की सफलता को किसी सीमा तक संकुचित कर दिया है; किंतु जहाँ इसके द्वारा उसकी व्यापकता में प्रतिबंध आया है, वहाँ साथ ही उसकी संकुचित सफलता में तीव्रता तथा गम्भीरता भी भर गई है। क्योंकि व्यक्ति के सभी विवेचनों में तद्विषयक तथ्यों का एक एक पटलविशेष होता है; प्रतिमूर्ति खिचाने के लिए बैठने वाले का एक आसनविशेष होता है, जिसमें उसकी अशेष वास्तविकता केंद्रित होकर संपुटित हो जाती है। यदि चरित-लेखक ने किसी प्रकार अपने नायक के इस आसन को पकड़ लिया, यदि उसने उसकी इस परिछिन्न मुद्रा को हस्तगत कर लिया तो समझो उसके द्वारा उतारा गया नायक का चित्र अत्यंत ही भव्य तथा मनोज्ञ संपन्न होगा; वह स्ट्रेची की रचना में हमें यही बात निष्पन्न हुई दीख पड़ती है।

कहना न होगा कि जीवनी की उक्त सरणि भी दोषों से सर्वथा स्वतंत्र नहीं है और सभी जीवनियों पर समान रूप से सफलता के साथ इसका उपयोग भी नहीं किया जा सकता। हमने ऊपर कहा था कि एक ही व्यक्ति के एक ही समय में अनेक रूप हुआ करते हैं, एक ही समय में उसके अनेक मत तथा दृष्टिकोण रहा करते हैं। उन सब मतों तथा दृष्टिकोणों को एक ही दृष्टि में देख लेना और उन में से उस एक दृष्टिकोण

को छाँट लेना, जिसमें उस व्यक्ति का अशेष व्यक्तित्व प्रतिफलित तथा जीवित हुआ है, शेक्सपीयर जैसी विश्वमुखीन प्रतिभाओं ही का काम है; और सम्भव है जिन पात्रों को स्ट्रेची ने अपने द्वारा उद्भावित किए दृष्टिकोण विशेष में प्रतिबद्ध किया है, वह उनका सच्चा तथा स्थायी दृष्टिकोण न हो और इस प्रकार स्ट्रेची ने उनके यथार्थ आत्मा को किसी और ही रूप में हमारे सम्मुख रख दिया हो। उत्कृष्ट जीवन के लिखने में इस प्रकार की अनेक कठिनाइयाँ लेखक के सम्मुख आया करती हैं; इन सब से बचना और प्रभाव-शालिता के साथ यथार्थ रूप में अपने नायक की जीवनी को पाठक के सम्मुख रखना; इसी बात में इस कला की इतिकर्तव्यता है।

कुछ भी हो, स्ट्रेची की सरणि ने साहित्य की इस श्रेणी में स्वतंत्रता का संचार करते हुए इसे प्रशंसा करने का साधन न रहने देकर नायक की यथार्थ आत्मा का उपासक बनाया। एमिनेंट विक्टोरियंस के प्रकाशन से ११ वर्ष पहले फादर एंड सन नाम की रचना निकली, जिसके उ उसके लेखक का नाम नहीं था, किन्तु जिसे लोग ऐडमंड गोस्स की रच बताते थे। जीवनचरित के सामान्य अर्थ में फादर एंड सन एक जीवन नहीं थी। इसके द्वारा साहित्य की एक नवीन ही विधा का सूत्रपात हुआ था। अपने तथा अपने पिता के रूप में गोस्स को मरते हुए पवित्रतावाद और उदीयमान होने वाले तर्कवाद के मध्य होने वाला संघर्ष दीख पड़ा था। किन्तु भिन्न भिन्न विचारों वाले दो युगों के मध्य होने वाले संघर्ष के साथ साथ इस रचना में दो व्यक्तियों के मध्य होने वाला संघर्ष भी प्रतिफलित हुआ है। फादर एंड सन का नाम लेते ही ग्रेस अबाउंडिंग के साथ इसकी तुलना फुर जाती है; क्योंकि फादर एंड सन में भी हम एक व्यक्ति को उसी प्रकार के ज्वलंत तथा मूर्त मत में विश्वास करता हुआ देखते जैसा कि बनियन के मन में था। किन्तु जहाँ बनियन रचित ग्रेस अबा

डिंग में एक आत्मा का संघर्ष वर्णित है, वहाँ फादर एंड सन में दो आत्माओं का संघर्ष चित्रित किया गया है इसका केन्द्रीय विषय दो भावों का पारस्परिक व्याघात है। बनियन ने अपनी रचना में आत्मा तथा परमात्मा का पारस्परिक सामंजस्य ढूँढा है तो गोस्स ने अपनी कृति में दो आत्माओं को परस्पर मिलाया है। फादर एंड सन को हम एक प्रकार की आत्मकथा कह सकते हैं।

दूसरों द्वारा लिखे गए जीवनचरितों के साथ साथ कुछ लेखकों ने अपने जीवन अपने आप भी लिखे हैं। इनमें कला की दृष्टि से इनेगिने ही परिष्कृत बन पाए हैं। कारण इस कठिनाई का यह है कि आत्मवेदन कला का सब से प्रबल घातक है और आत्मकथा में आत्मवेदन ही की प्रधानता रहती है। जब कोई व्यक्ति अपनी कथा लिखने बैठता है; तब वह स्वभावतः बाह्य जगत् को भूल अपने आपे में समाहित हो जाता है और अपने आत्मा को दूसरों के सम्मुख गुणान्वित दिखाने और अपनी रचना को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से बहुधा अपने आप को ऐसे रूप में वर्णित करता है जैसा वह वास्तव में होता नहीं है। इस प्रकार की कठिनाइयों के होते हुए भी रूसो ने अपने *कंफेशंस* में वर्णनीय सफलता प्राप्त की है। उसने अपनी जीवनी में मानवीय स्वभाव के सत्य का उद्घाटन किया है और उसका विश्वास है कि इस रचना के पढ़ने के उपरांत कोई भी पाठक अपने आपको उसके लेखक की अपेक्षा श्रेयान् नहीं कह सकता; और सचमुच यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि रूसो द्वारा दिए गए इस आत्मचित्र को देखकर भी लोग उसके इतने भक्त तथा प्रेमी कैसे बने और बनते रहे हैं। साहित्य की इस श्रेणी में सेन्ट आगस्टिन के *कंफेशंस*, बनियन की *ग्रेस अबाउंडिंग*, न्यूमैन की *अपोलोजिया* और *बेंजामिन रोबर्ट हेडन की आत्मजीवनी* ध्यान देने योग्य हैं। हाल ही में महात्मा गांधी तथा पं० जवाहरलाल द्वारा लिखी गई

आत्मकथाओं ने इस क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

निबंध के समान जीवनचरित लिखने की प्रथा भी हिंदी में अंग्रेजी आई है; इसीलिए हमने जीवनचरित के उपकरणों का विवरण करने के लि ऊपर अंग्रेजी के चरितलेखकों का दिग्दर्शन कराया है। हिंदी में चरितलेखन कला अभी अपने शैशव में है कहने को तो हिंदी में महान् पुरुषों के अनेक चरित्र प्रकाशित हुए हैं, किंतु कला की दृष्टि से हम उन्हें उत्कृष्ट साहित्य में नहीं गिन सकते। कल्याण मार्ग का पथिक जैसी रचनाएँ हिंदी में इनी गिनी हैं। महात्मा गांधी तथा पण्डित जवाहरलाल की आत्मकथाओं के हिंदी में अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

गद्यकाव्य—पत्र

पत्रों में लेखक का आत्मा प्रत्यक्षरूप में संपुटित होता है; इसी लिए उनकी अपील पाठक के मन में घर कर जाती है। पत्रलेखक का ध्यान कला ी ओर नहीं जाता; वह लोकप्रियता के लिए भी अपने हृदय के उद्गारों कागज पर नहीं रखता अपनी रचना के लिए वह अनोखी भूमिका भी ी बाँधता। उसके हृदय में एक आवेग होता है; जब वह आवेग बाँध कर बहने लगता है, तभी उसकी लेखनी कागज पर चलने लगती है। निर्योजना, तथा स्वाभाविकता में ही पत्र की महत्ता संनिहित है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह एकांत से भागता और अपने साथियों ति में आनंदलाभ करता है। अपने साथियों के साथ स्थायी संपर्क करने के लिए उसने साहित्य की अनेक विधाओं का आविष्कार किया न सभी विधाओं में उसे जीवन की समष्टि अथवा उसके किसी एक रण पर ध्यानावस्थित होना पड़ता है। इसके विपरीत पत्र में उसका

कोई एक पटल प्रकाशित होता है; उसके जीवन का कोई पक्षविशेष उद्दीपित होता है। जिस प्रकार बिजली बादल के एक देश को चमका कर उसमें घुस जाती है, इसी प्रकार पत्र भी लेखक की वृत्ति के एक अंश को प्रदीपित कर बहुधा नष्ट हो जाता है; और कभी कभी, भाग्य हुआ तो, सुरक्षित भी बन जाता है।

अंग्रेज़ी में डोरोथी ओस्बोर्न के द्वारा अपने पति सर विलियम टेंपल को लिखे गए पत्र प्रसिद्ध हैं। उनमें जहाँ डोरोथी का आत्मा अपने सारस्य में प्रवाहित हुआ है, वहाँ साथ ही टेंपल के स्वभाव का भी अत्यंत ही भावुक चित्रण संपन्न हुआ है। ये पत्र १६५२ से १६५४ तक लिखे गए थे।

चरित्र की दृष्टि से लोगों ने प्रेमपत्रों पर आक्षेप किए हैं। उन आक्षेपों के रहते हुए भी मनुष्य ने इस कोटि के पत्रों में जो रसास्वादन किया है वह अन्य प्रकार के साहित्य में दुष्प्राप्य है। इन पत्रों में मनुष्य की प्रेमवृत्ति एक धारा में समृद्ध होकर बहती है; उसका आत्मा प्रेमी से संश्लिष्ट हो उसके कान में प्रेमालाप करता है। इस समृद्धि तथा विविक्तता में ही इन पत्रों की अमरता का स्रोत है।

स्विफ्ट के द्वारा स्टेल्ला को, और कीट्स द्वारा फैनी ब्राउन को लिखे गए प्रेमपत्रों में हमें प्रेम का वह विविक्त तथा परिपूत प्रवाह दीख पड़ता है जो साहित्य की अन्य किसी भी रचना में स्यात् ही मिल सके। जेन कार्लाइल के द्वारा अपने प्रेमी के प्रति लिखे गए पत्रों में उद्धृत हुए प्रेम में कहीं कहीं शारीरिकता का अंश आवश्यकता से अधिक व्यक्त हो गया है। इस प्रकरण में हॉरेस वॉलपोल तथा जेन आस्टन के प्रेमपत्र स्मरणीय हैं।

और जहाँ हम पत्रसाहित्य में उनके लेखकों का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं वहाँ साथ ही हम उन्हें प्रतिदिन की छोटी से छोटी, किन्तु प्रेमियों के लिए सब से अधिक महत्त्वशाली बातों में संलग्न हुआ भी पाते हैं। यहाँ हम

टेंपल को अपनी प्रेमिका डोरोथी के लिए पेयविशेष खरीदता हुआ देखते हैं, और स्विफ्ट को स्टेल्ला के लिए चोकोलेट भेजता हुआ पाते हैं। ये लोग एक दूसरे के लिए पैसा पैसा जोड़ते और खर्च करते दीख पड़ते हैं। यहाँ हमें हम यहाँ होरेस वेलपोल को स्ट्रावेरी हिल वाले मकान में फर्निचर जुटाते हुआ देखते है। यहाँ हमें ये लोग ठीक उसी वेशभूषा में दीख पड़ते हैं जिस में ये रहते थे; उनकी सारी घरेलू बातें यहाँ हमारे सामने आ जाती हैं; यहाँ तक कि उनका सारा आपा ही हमारे सामने विवृत हो जाता है।

इसके साथ ही पत्रों के द्वारा हमें किसी सीमा तक अतीत का ज्ञान भी होता है। जिस बात को हम इतिहास के पृष्ठों में नीरसता के साथ पढ़ते हैं वही पत्रों की परिधि में आ सरस बन जाती है और हम अनायास ही इतिहास की कुक्षि में सरक जाते हैं। जहाँ हमें इन पत्रों में प्रेमी लोग हाथ में हाथ मिला खड़े दीख पड़ते हैं वहाँ साथ ही हमें इनमें उनके समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा व्यावहारिक परिस्थिति का भी किसी अंश तक बोध हो जाता है। इन पत्रों के द्वारा हमें अनजाने ही पता चलता है कि किस प्रकार जोंदन एवलिन जैसे सुभद्र तथा सुसंस्कृत नागरिक भी यन्त्रणा में फँसे हुए व्यक्तियों को देखने जाते थे, किस प्रकार गिरफ्तार के शरीर को निर्जीव बना कर उसे, दो पैसे की फीस रखकर, प्रेक्षकों को दिखाया जाता था। लण्डन में लगने वाली आग हमारी आँखों के सामने फिर से नाचने लगती है, जब हम पेपीस में पढ़ते हैं कि वहाँ कबूतरों ने अपने घोंसले तब तक नहीं छोड़े; जब तक कि उनके पंख झुलस नहीं गए। अठारहवीं सदी के लंदन का आयाम और व्यायाम एक दम हमारे सामने आ जाता है जब हम स्विफ्ट को स्टेल्ला के प्रति यह लिखता पाते हैं कि आज उसने लंडन और चेल्सिया के बीच पड़ने वाले खेतों की सैर की। इसी प्रकार उस समय के भोजन का परिमाण और

उसकी व्यवस्था उस समय के थियेटरों की दशा, उस समय के हाउस ऑफ कामंस तथा उसके सदस्यों की वृत्तियाँ, सभी बातें इन पत्रों को पढ़कर हमारी आँखों के आगे आ खड़ी होती हैं।

जिस प्रकार पत्र लिखने वालों का उसी प्रकार पत्रों का भी अन्त नहीं है। पत्र लिखने की कोई विशेष कला भी नहीं है; क्योंकि भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न प्रकार के पत्र लिखे हैं। किन्तु सब प्रकार के पत्रों के अन्तस्तल में एक कला काम करती है, और वह है यह, कि पत्र की परिधि में उसका लिखने वाला सचमुच पत्रमय हो जाता है; पत्र लिखते समय सारे संसार को त्याग वह अपने विविक्त व्यक्तित्व को अपने प्रेमी के संमुख रखता है; बस उसकी कला का सार इसी बात में है।

हिंदीजगत् में पत्रों के महत्त्व को अभी तक नहीं पहचाना गया है, और न ही पत्रों को साहित्य की किसी विधा में ही प्रविष्ट किया गया है। हमारे यहाँ पत्रों को सुरक्षित रखने की प्रथा भी नहीं चली है। हाँ महात्मा गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रीका से अपने कुटुम्बीय जनों को लिखे गए पत्र प्रकाशित हो चुके हैं और साथ ही पण्डित जवाहरलाल द्वारा अपनी पुत्री इंदिरा कुमारी की ऐतिहासिक परिज्ञान के लिए लिखे गए पत्र भी हिंदी में आ गए हैं।

वर्तमान जगत् और आलोचक

साहित्य की प्रत्येक रचना, इतिहास के युगविशेष में होने वाला परिस्थितिविशेष में जीने वाले व्यक्तिविशेष के आत्मीय अनुभवों का वाग्मात्मक प्रकाशन है; फलतः इसमें रचयिता के व्यक्तित्व का प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। किंतु अब प्रश्न यह है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व

पर उस समाज का, जिसमें कि वह जीता है, कहाँ तक प्रभाव पड़ता है; दूसरे शब्दों में हम यह पूछ सकते हैं कि साहित्य का उस युगविशेष के आत्मा के साथ और एक कलाकार का अपने समसामयिक जगत् के साथ क्या संबंध है।

इतिहास के प्रत्येक युग का आत्मा भिन्न होता है

इसमें संदेह नहीं कि इतिहास के प्रत्येक युग का आत्मा पृथक् ही होता है, जो उस युग में प्रायित होने वाली सामाजिक तथा बौद्धिक शक्तियों से उत्पन्न होता है। मान लीजिए, हम भारतीय इतिहास के वैदिक युग पर दृष्टिपात करते हैं; इस युग का नाम लेते ही उच्च भावों से विभूषित आर्य जाति इस देश को अभ्युदय की ओर अग्र करती हुई हमारी आँखों में बस जाती है और हमें वे दिन याद आ ज है जब प्रातः और संध्या काल के समय नदियों के तट वैदिक मंत्रों गान से मुखरित हो उठते थे और दिन का शेष समय बीरता तथ साहस के कार्यों में व्यतीत हुआ करता था। इसी प्रकार जब हम बौद्ध युग पर दृष्टिपात करते हैं तब धर्म कर्म में दीक्षित हुए बौद्ध भिक्षुक, संघों में विभक्त होकर देश विदेशों में बुद्ध भगवान् का संदेश सुनाने के लिए कटिबद्ध हुए हमारे सामने आ जाते हैं और हमें भारत का वह स्वरूप स्मरण हो आता है जब निःश्रेयस तथा निर्वाण लाभ के लिए लालायित हो इसने ऐहिक अभ्युदय की ओर से आँख मीच ली थी। इसी प्रकार जब हम इंगलैंड के विक्टोरियन युग को स्मरण करते हैं, तब हमारे मन में नाना प्रकार के नये प्रतिरूप और प्रस्तर भर जाते हैं और बड़े बड़े विशाल-काय, लंबी दाढ़ी और भारी सिरों वाले मानव हमारे सम्मुख आ खड़े होते हैं, जिनमें से कुछ स्वांतःसुख को व्यक्त करने वाली ता रखते दीख पड़ते हैं, और कुछ की लेखनी राजनीतिविषयक तथ

में व्याप्त होती दीख पड़ती है। कतिपय मनस्वी उदात्त ध्येय, प्रौढ़ शिक्षण, गृहनिर्माण, निर्वाचनाधिकार तथा इसी प्रकार के अन्य सामाजिक सुधारों में रत हुए दीख पड़ते हैं और किन्हीं का मस्तिष्क विज्ञान के विश्लेषण में संलग्न हुआ दृष्टिगत होता है।

अतीत युगों के चित्र परिपूर्ण थे जब कि वर्तमान युग के चित्र अपूर्ण हैं

इसके विपरीत जब हम वर्तमान जगत् पर दृष्टि डालते हैं, तब हमें आधुनिक युग का एक भी चित्र परिपूर्ण नहीं दीख पड़ता। वैदिक युग के ऋषि को ज्ञात था कि उसका जीवन एक है और उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी एक है। उसे उस बात का बोध था, जिसकी, कला के क्षेत्र में उसे आवश्यकता थी। इसी प्रकार जब हम इंगलैंड के विक्टोरियन युग में संपन्न हुए उपन्यास, कविता, नाटक, तथा सामाजिक इतिहास को पढ़ते हैं तब भी हमारे संमुख उस समय के इंगलैंड की सभ्यता तथा संस्कृति का एक ठोस तथा परिपूर्ण चित्र आ विराजता है। किंतु आधुनिक जगत् की सभ्यता को मूर्त रूप में पाठकों के संमुख रखने के लिए हमारे पास एक भी परिपूर्ण चित्र नहीं है।

सदा से ही मनुष्य अपने वर्तमान से असंतुष्ट रहता आया है

संसार के इतिहास में ऐसा काल कभी नहीं आया, जब कि समालोचकों ने अपनी समसामयिक सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना न की हो और जब कवियों ने अपने युग की निंदा करके अतीत में आनंद की उद्भावना न की हो। सन् १८०० में हम वर्ड्सवर्थ को तात्कालिक समाज में दीख पड़ने वाली बाह्यवृत्तिता की कटु आलोचना करता पाते हैं तो अपने यहाँ वैदिक काल में भी हम ऋग्वेद के संकलयिता ऋषियों को अपने से पुरातन

कर्मों में वर्तमान से संतुष्ट नहीं ...
समझा करता है। उसकी सदा से यही परिदेवना रही है कि
...ल में उन्नति बहुत धीमी है, यौवन बहुत अस्थायी है, प्रतिमा
...कुचित है और आचार में बहुत उच्छृंखलता है।

... प्रकार की परंपरागत परिदेवना पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना वृथा है; किंतु इसमें संदेह नहीं कि आज

...ग के ... गुण

हमारा युग विघटन (disintegration) का युग है। इसमें हमें किसी भी जगह किसी प्रकार का विधान अथवा संघटन नहीं दीख पड़ता। आज मनुष्य के ऊपर ... प्रकार के कर्तव्यों का अभिनिवेश नहीं रहा। विज्ञान ने इसकी ...द्धा को भुला दिया है; उसने उसे बता दिया है कि विश्व के ... किसी भी दैवीय शक्ति का हाथ नहीं है। उसके जीवन में कोई ... अथवा अनुसंधान नहीं है। राजनीतिक दृष्ट्या वह एक गतसग ... वह अपने आप को किसी भी ऐसी धार्मिक अथवा राजनीतिक ... सदस्य नहीं समझता, जिस को कि उसके चहुँओर के व्यक्ति ...नते हों। आज वह अपने आपको नीति तथा अर्थ की प्राचीन ...के भग्नावशेषों पर खड़ा हुआ पाता है, और उन्नीसवीं सदी में ...ई सामाजिक सुधार की इच्छा से उसके मन में किसी भी प्रकार ...त्ता नहीं सचरित होती।

...ाजिक क्षेत्र में भी आज आचार-व्यवहार की चिरंतन नियमावलि ... है। आज मनुष्य की दृष्टि में पाप कोई वस्तु नहीं रह गया है। ...नाशास्त्र ने उसे जता दिया है कि आचारशास्त्र का एकमात्र ... रीतिरिवाज हैं, जीवविद्या तथा मनोविज्ञान ने उसके ब्रह्मचर्यसंबंधी

विचारों में परिवर्तन ला दिया है और आज उसे समाज के संघटन के पीछे एकमात्र स्वार्थ तथा अर्थलिप्सा के भाव काम करते दीख पड़ते हैं।

आज के आत्मिक जगत् में सब से अधिक खलने वाली वृत्ति यह है कि आगे या पीछे एक न एक दिन आत्मा को शरीर के संमुख झुक जाना है; जल्दी या देर में सभी आत्माओं को रुग्ण तथा भग्न शरीर द्वारा पराभूत होना है; आज या कल ऐसा समय अवश्य आना है, जब विचार नहीं होंगे, एकमात्र उत्पाद, अनुताप, उच्छ्वसन और अंतिम निद्रा होगी। वर्तमान जगत् में आत्मा का कोई मूल्य ही नहीं रह गया है। वह एकतामयी उदात्त भावना, जिस के अनुसार प्रत्येक निर्माण में क्रम और एक प्रकार का संतुलन दीख पड़ता था, मनुष्य और विश्व एक दूसरे से सबंद्ध और एक दूसरे के आश्रित दीख पड़ते थे, वह व्यापक ऋतु, जिसमें हर वस्तु के लिए एक निश्चित स्थान था और जिस के वशंवद हो हर वस्तु अपने निश्चित ध्येय की ओर अग्रसर रहती थी, आज प्रभाववादियों द्वारा खींचा गया भग्नावशेषों की राशि का उखड़ा-पुखड़ा चित्र बन गया है; और मनुष्य अपनी रक्षा तथा वस्तुजात के परम निर्माण में अपना कोई निश्चित स्थान न देख सकने के कारण स्वर्गधाम से दूर जा पड़ा है। उसका चिरपरिचित जगत् उसके लिए अपरिचित सा बन गया है।

विश्वप्रविभाएँ देशकाल की परिधि से बाहर होती हैं

ऐसी अवस्था में इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि इन सब बातों का साहित्य के साथ क्या संबंध है; और निःसंदेह साहित्य का प्रत्यक्ष रूप से इन बातों से कोई संबंध है भी नहीं। कला की प्रत्येक रचना में एक तत्त्व ऐसा होता है जिस का मनुष्य के चिरसहचर मनोवेगों के अतिरिक्त और किसी बात से संबंध नहीं होता; और कविता तो विशेष रूप से देश काल की परिधि से बाहर रहती आई है।

विश्व के महान् कलाकारों में एक ऐसी व्यापक शक्तिमत्ता होती है, जिस
द्वारा वे अपने चहुँओर के वातावरण में रह कर भी उससे ऊपर उभरे र
हैं, और अपनी रचनाओं में उन्हीं तत्त्वों का संकलन करते हैं, जिन क
प्रवृत्ति उनकी निगूढ़ मनःस्पर्शों से होती है। हमारे यहाँ वाल्मीकि, व्यास,
कालिदास और तुलसीदास ऐसे ही कलाकार हुए हैं। इंगलैंड में शेक्सपीयर,
मिल्टन और वर्ड्सवर्थ इसी कोटि के कलाकार थे।

किंतु ज्यों ही हम इस बात को अंगीकार करते हैं कि विश्वजनीमाएँ
सामान्य वातावरण में रह कर भी उससे ऊपर रहती
देशकाल की परि- हैं, त्यों ही हम इस बात को मान लेते हैं कि उन पर
धि से बाहर रहने भी सामान्य वातावरण का प्रभाव पड़ा करता है और
पर भी विश्वव्रति वे भी अपने समय की प्रभविष्णु वृत्ति से प्रभावित
भावों पर इनका हुआ करती हैं। देश और काल के ये तत्त्व, अनजाने
प्रभाव पड़ता है ही, उनके रचनातन्तुओं में आ विराजते हैं और उनकी
प्रतिभा को ऐसे राजपथों पर डाल देते हैं, जिन के दोनों
ओर देश काल के नानाविध तत्त्वों की प्रदर्शिनी लगी रहती है। उनकी
रचना में जीवन की परिपूर्णता हो तब आती है, जब वे शाश्वत में
अपने समय के अशाश्वत को भी संमिलित कर दें। अपने यहाँ कालिदास
की रचनाओं में यही बात दीख पड़ती है; और शाश्वत तथा अशाश्वत
के इस संविधान में ही विश्वजनीन कवियों की इतिकर्तव्यता है।

किन्तु वर्तमान जगत् की परिस्थिति कुछ विपरीत सी हो रही है।
आजकल कल की प्रभविष्णु वृत्ति मुतरां निषेधात्मक
साहित्य का चरित्र है, और हमें आधुनिक साहित्य में जो कुछ भी थोड़ा
से संबंध है, उस बहुत विधेयात्मक अंश मिलता है, वह एकमात्र रा,
चरित्र का वर्तमान वेल्स और प्रेमचन्द जैसे युग के पुजारियों की देन

काल में अभाव है है। आधुनिक लेखकों की दीख पड़ने वाली प्रतिभा की न्यूनता का एक कारण यह भी है कि वे अपने चहुँओर दीख पड़ने वाले चारित्रिक नियमों का प्रत्याख्यान करते हैं; और स्मरण रहे, इन गठे हुए चारित्रिक नियमों में ही प्राचीन काल की बहुसंख्यक रचनाओं का मूल निहित है, और कौन कह सकता है कि यदि चरित्र के विषय में बनाये गए ये नियम न होते, तो आज हमारे साहित्य की क्या गति होती और उसका परिणाम कितना निर्बल रहा होता। संसार के साहित्य का आधे से अधिक भाग चरित्र के नियमों में ही आविर्भूत हुआ है।

किन्तु साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य सदा से विश्व के साथ सम्बन्ध जोड़ कर शान्ति ढूँढता आया है। उसकी इच्छा यही रही है कि वह समष्टि का अंग बन कर रहे। चिरंतन काल से वह इस प्रकार के आयोजन में आस्था रखता आया है, जिसमें हर व्यक्ति संघ का अवयव बन कर रहता हो। मनुष्य की इस अभिलाषा को पूरा करने के लिए ही आनुक्रमिक सभ्यताओं ने पौराणिक जगत् में देवताओं को और दृश्यमान जगत् में सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं की आयोजना की है; और यह सचमुच बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि वर्तमान काल के साहित्यिक पुरुषों का जीवन अपने चहुँओर दीख पड़ने वाले धर्म, समाज और नीति के खँडहरों में बीत रहा है, और उन में मनुष्यजाति को संघटित करने वाले किसी संघ को स्थापित करने की न तो इच्छा ही रह गई है, और न उत्साह ही है।

और ठीक इसी अवस्था पर पहुँच कर आधुनिक पाठक और लेखक दोनों ही ने, विश्वव्यापी एकतान को उपलब्ध करना असम्भव समझ, वैयक्तिक शरीर की वृत्ति को अपनी विवेचना का विषय बनाया है। अतीत

के सभी कलाकारों ने मनुष्य का, उसके चहुँओर फैली हुई प्राकृतिक शक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उसे देखा है। क्या हिन्दू, क्या ग्रीक, क्या हीब्रू और क्या ईसाई, सभी धर्मों ने प्रकृति की इन मूक शक्तियों को सजीव बना कर देखा है; उन्हें हमारे समान शरीरधारी बनाकर उनके विषय में कथाएँ घड़ी हैं, जिन को लेकर ही प्राचीन काल की साहित्यिक रचनाएँ संपन्न हो पाई हैं। किन्तु आधुनिक कवि के लिए जहाँ परंपरागत देवी देवता चल बसे हैं, वहाँ उसकी दृष्टि में उनकी कथाकहानियों का भी कोई मूल्य नहीं रह गया है। आज हम उन कथाओं को अपनी रचना का आधार भले ही बना लें; किन्तु हमें उनमें होने वाली घटनाओं का हार्दिक अनुभव नहीं होता। यदि वर्तमान काल का लेखक धर्म सम्बन्धी रचना करने बैठता है, तो उसे अपने मनोवेगों के लिए निज प्रतीक घड़ने पड़ते हैं। आजकल के बहुसंख्यक कलाकारों के लिए आत्मा अचेतन बन गया है, और पुराणकथिक जगत् निरर्थक रह गया है।

आधुनिक कलाकारों को पौराणिक तथ्यों में आस्था नहीं है

और यहाँ हम, वर्तमान साहित्य "अहं" की अभिव्यक्ति के लिए कौन कौन से उपाय काम में लाता है इस विषय में कुछ न कह केवल यह बताएँगे कि सांप्रतिक साहित्य और समाज वर्तमान काल के पाठकों और समालोचकों को किस प्रकार प्रभावित करता है।

सभी जानते हैं कि समालोचक भी, कलाकार के समान, एक व्यक्ति ही है, और प्रत्येक व्यक्ति की अपनी रुचि पृथक् ही हुआ करती है। प्रत्येक व्यक्ति का साहित्यरसास्वाद अपनी अपनी आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार विशिष्ट प्रकार का होता है। साहित्यिक रचना के रसास्वादन में प्रत्येक की अपनी अवस्था, चित्तवृत्ति, तथा अनुभव साथ दिया करते हैं।

जिस प्रकार साहित्यरचना में, उसी प्रकार समालोचना में भी देश औ
काल का जागरूक रहना स्वाभाविक है। क्यों कि साहित्यकार के सम
समालोचक भी इतिहास के किसी युगविशेष में जीता है और उसकी
अपनी एक परिस्थिति और वातावरण हुआ करता है। और यह ब
प्रत्यक्ष है कि प्रत्येक युग अपनी आवश्यकता और अपने दृष्टिकोण
अनुकूल ही कला के उत्पादों पर विचार किया करता है।

किन्तु यह सब कुछ होने पर भी वर्तमान युग के प्रतिरूप-विरे
को पढ़ने वाले फैशन तथा विचारों की अंतरतली में जीवन का वही चिरं
तान छिपा हुआ है जो हमें पौराणिक रचनाओं में सुनाई पड़ता है। हम
अपने आशाव्याघातों के पीछे भी चिरन्तन काल के विश्वास और आ
व्याघात छिपे बैठे हैं। हमारे मनोविश्लेषण के मूल में अतीत सदियों
अगणित मनोभाव तथा इच्छाभंग संनिहित हैं और हमारी अचेतन की स
के पीछे आदि काल से चला आने वाला मानव-हृदय का ज्ञान छि
हुआ है।

इस प्रकार की परिस्थिति में पूछा जा सकता है कि सच्चा समालो
कौन है और उसका क्या कर्तव्य है? उन लोगों के प्रति उसका क्या र
होना चाहिए, जो उससे पूछते हैं कि उन्हें कौन सी पुस्तकें पढ़नी चाहि
और वे उन्हें किस प्रकार पढ़ें?

प्रथम प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं। महाशय टी. एस. ईलि

समालोचक के लक्षण

के मत में विचारवान् समालोचक वह है, जो व
की वर्तमान समस्याओं में रत रहता हो
अतीत की शक्तियों को उन समस्याओं के
करने में जोड़ता हो। समालोचना की इस परिभाषा के मूल में निश
समालोचक कलाकार बन कर बोल रहा है। एफ. आर. लेविस

अनुसार सफल समालोचक वह है जो विचारी मंनिवेश (situation) में सहायता देता हो। मैक्स ईस्टमान के मत में समालोचना को भी वैज्ञानिक बनाया जा सकता है, और उनकी दृष्टि में समालोचना के अनेक रहस्यों को सहज ही हल किया जा सकता है, यदि हम अपने मन को भलीभाँति पहचान जाएँ। यह बात कहने में सहज प्रतीत होती है; और इसमें संदेह नहीं कि जब विज्ञान यह बता सकेगा कि जीवन क्या वस्तु है, समालोचना के भी बहुत से रहस्य प्रकट हो जाएँगे। किंतु इस बीच में, जब तक कि वैज्ञानिक जीवन का निरूपण न कर उसका मूल और शक्ति इन शब्दों के द्वारा वर्णन करते रहेंगे, तब तक एक साहित्यिक समालोच भी—उत्पत्तिप्रक्रिया को मनोविज्ञान के द्वारा निरूपित न कर सकने के कारण, अपने अनुभवों के द्वारा ही इसके परिणाम का वर्णन करता रहेगा।

प्रोफेसर आई. ए. रिचार्ड्स—जिन्होंने कलासंबंधी अनुभव का मनोविज्ञान द्वारा व्याख्यान करने का सूत्रपात किया था—अब भाषा-विज्ञान के द्वारा उसकी उपपत्ति मानने लगे हैं। अब उन्हें समालोचना का भविष्य भाषाविज्ञान के गहन तथा अब तक उपेक्षा की दृष्टि से देखे गए क्षेत्र में दीख पड़ता है। क्योंकि शब्दों के अर्थ और उनकी वृत्ति के विषय में प्रश्न करना, दूसरे शब्दों में, मनुष्य के आत्मप्रकाशन के अशेष उपकरण समवाय पर विचार करना है। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान द्वारा हम ने बाह्य परिस्थिति पर अधिकार प्राप्त किया है इसी प्रकार शब्दविद्या द्वारा हम अपनी मानसिक वृत्तियों पर अधिकार स्थापित कर सकेंगे।

कहना न होगा कि उक्त प्रकार का अनुशीलन गिने-चुने विशेषज्ञों क काम है। इसके लिए इतने अधिक मानसिक विकास और मनोविज्ञान वे इतने अधिक गहन परिज्ञान की आवश्यकता है कि जिसका प्राप्त करना

सामान्य जनता के लिए असंभव है। इस कोटि के समालोचकों द्वारा किए गए साहित्यविवेचन को सुन कर जनता के यह कह उठने का भय है कि इसमें समालोचक समालोचना नहीं कर रहा, अपितु वह अपनी व्युत्पत्ति और विदग्धता प्रदर्शित कर रहा है।

एक बात और। बहुधा हमें ऐसे समालोचक मिलते हैं, जिनका प्रत्यक्ष संबंध साहित्यिक इतिहास से होता है, अथवा जो समालोचना का समाज, मनोविकास अथवा पुस्तक-संपादन से संबंध प्रमुख ध्येय पाठकों रखते हैं। निश्चय ही ये बातें सदा साहित्य के अध्ययन की रुचि का तथा अनुशीलन के लिए अनिवार्य रहेंगी; क्योंकि ज्ञान के परिष्कार है बिना रुचि में दृढ़ता नहीं आती; और पाठकों की रुचि का परिष्कार ही समालोचना का प्रमुख लक्ष्य है।

प्रतिभा वह शक्ति है, जो सौष्ठव को जन्म देती है; रुचि वह शक्ति है; जो प्रतिभा द्वारा उत्पन्न किए गए सौष्ठव को—अधिक से अधिक दृष्टकोणों से, उसके गहन से गहन स्तर तक पहुँचकर, उसके अधिक से अधिक परिष्कार वैशिष्ट्य तथा संबंधों को ध्यान में रखती हुई,—देखती है। संक्षेप में हम प्रतिभा के उत्पाद्यों से प्रभावित होने की शक्ति को रुचि कहते हैं।

हैज़लिट के अनुसार समालोचना का काम कलान्वित रचनाओं के विशेष गुणों को पहचानना और उनका लक्षण करना है। दूसरे शब्दों में उनके अनुसार समालोचना साहित्य का विवरण ठहरती है। समालोचना के द्वारा रुचि पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। पुस्तकों के साथ होने वाले घनिष्ठ परिचय से ही साहित्यचर्वण की शक्ति का उपलाभ होता है।

समालोचना के निर्विकल्प नियम कोई नहीं हैं; और कोई भी संमति, चाहे वह कितने भी बल के साथ पद्य या गद्य में घोषित की गई

वना है, ... किंतु स्मरण रहे, वैयक्तिक,
व समालोचना भी वैयक्तिक होती है। किंतु स्मरण रहे, वैयक्तिक
संमतियों के पीछे एक मापदंड रहता है, जो एकांततः
होने पर भी इतना ही अविचल तथा अभय होता है; जितना कि
ा में दोष पड़ने वाले बुद्धिचातुर्य के पीछे संनिहित हुआ अशेष
ा पौनःपुनिक सार। महाकवि गॉएटे ने कालिदास रचित शकुन्तला
लोचना करते हुए कहा था कि यह रचना सामान्य तथा अविच्छिन्न
मानव जाति का आदरपात्र रहती आई है। इस समालोचना का
अधिक स्थायी मापदंड यह स्थिरता ही है। जो रचना
यतया संस्कृति, सौष्ठव तथा रुचि की परिपोषक हो, समष्टि
रचना वास्तव में अमर है, और यह सदा साहित्यिकों के मन
संचार करती रहेगी। एकांत सौष्ठववाद की समस्याएँ, अमूर्त तत्वों
ुशीलन करने वाले विचारकों को सदा अपनी ओर आकृष्ट करती
किंतु साहित्य का आस्वाद तो मानवजाति का सामान्य दाय है।
सन्देह नहीं कि साहित्यरसन पर भी, मानव स्वभाव में अविभाज्य रूप
निविष्ट हुई कठोरता तथा पक्षपातों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है,
ा समालोचनकला की बहुत अंशों में जीवन-कला के साथ समानता
जिस प्रकार हमारे जीवन में निषेधात्मक तत्वों की अपेक्षा
ात्मक तत्वों का अधिक महत्त्व है, इसी प्रकार समालोचना में
सदा से विधेयात्मक दृष्टिकोण का ही महत्त्व स्थापित रहता
ा है। कौन नहीं जानता कि कटु भावनाओं की अपेक्षा समवेदना और
यता के भाव अधिक मंगलमय हैं; केवल बुद्धि की अपेक्षा मन तथा
दोनों को सरकृत करना श्रेयस्कर है, घृणा की अपेक्षा प्रेम करना
कल्याणकारी है। प्रत्येक समालोचना में ज्ञान का होना

आवश्यक है, किंतु यही ज्ञान एक प्रतिसंपन्न समालोचक की देन बन कर उसे मानसिक विदग्धता में रंग देता है, इस पर विवेक और सद्भावना की कूची फेर देता है, जीवन की व्यापक परिधि की नानामुखता तथा विस्तार को पहचानने की शक्ति से भूषित कर देता है, और इस प्रकार मन के अनुभवों का, उन्हें मनोवेग तथा इंद्रियतत्त्वों के साथ मिला कर व्याख्यान करता है। उसकी दृष्टि में जीवन तथा साहित्य, स्मृति तथा ऐशोन्मेष (revelation) साथ साथ चलते हैं। ज्यों ज्यों वह मनुष्य के ज्ञान और जीवन के अनुभवों को हृद्गत करता है, त्यों त्यों साहित्य के प्रति उसकी प्रतिक्रिया अधिकाधिक पूर्ण तथा बलवती होती चली जाती है, और ज्यों ज्यों उसका साहित्यपरिशीलन बढ़ता जाता है, त्यों त्यों साहित्य के प्रति उसका अनुराग भी द्विगुणित होता चला जाता है।

समालोचक का महत्त्व

और यद्यपि हम आज आशाभंगों के वर्तमान नास्तिक युग में जी रहे हैं, तथापि रसिक पाठक के संमुख, चाहे वह अपने सिद्धान्तों तथा नियमों की किसी फलक पर उत्कीर्ण हुआ न भी देख सके, जीवन की गरिमा का एक मापदंड विद्यमान है, जिसे वह अपनी हड्डियों में अविचल तथा अपरिवर्तनीय रूप से संनिहित हुआ अनुभव करता है। अपनी आँखों के संमुख भग्न होने वाले मंतव्यों के बीच में, आर्थिक, सामाजिक तथा चारित्रिक आदर्शों के गिरने की तड़ातड़ में, विज्ञान तथा व्यापार द्वारा द्विगुणित हुई मृगतृष्णा की उत्ताता में, राजनीति के घातक दावपेंचों में तानाशाही के निरंकुश प्रसर में, विघटन विभंग तथा विच्छेद के संक्रामक संकुल में, यह काम एक मनस्वी समालोचक ही का है कि वह व्याकुल समाज को जीवन का सरल, स्पष्ट तथा कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करे।

ऐसा समालोचक घोषित कर सकता है कि राम और सीता के पावन चरित की अन्यतमता में उसका पूर्ण विश्वास है। शकुन्तला की प्रेमोच्छ्वसित सरल गरिमा में उसकी अटल आस्था है। उसकी दृष्टि में हैमलेट, प्रोमेथियस, एरमंड सदा से अक्षय बने रहेंगे। उसकी आस्था है रामायण, महाभारत और पैराडाइज लॉस्ट की गरिमा में, शकुंतला तथा गेटे की रोजमंड की मसृणता में, सूरसागर, की मार्मिक मधुरिमा में, भूषण और लाल के वीररस की लहरों में, और रामचरितमानस की सर्वतोमुखी एकतानता में। वह कह सकता है कि उसका विश्वास है शेक्सपीअर तथा टाल्स्टाय की विश्वजनीनता में, कविवर रवींद्र की घनता तथा तत्त्वज्ञता में, शा की मानसिक निर्व्याजता में और वेल्स की मानसिक उत्सुकता में। वह घोषित कर सकता है कि उसकी श्रद्धा है चासर, फील्डिंग, टॉल्स्टाय, बाल्जाक और प्रेमचंद की व्यापिनी तथा वेदनाशील सुस्थता में और शेक्सपीअर के कवित्व की गरिमा, प्रभुता और प्रमात में।

यह विश्वास, यह आस्था और यह अभिनिवेश ऐसे हैं, जिनके समर्थन में रसिक समालोचक को कभी भी नतमस्तक नहीं होना पड़ता। चतुर समालोचक अतीत और वर्तमान दोनों ही पर व्यापक दृष्टि रखता हुआ इनको गतिमान तथा बलवान बना सकता है। उसका ध्येय होना चाहिए समवेदना के साथ साहित्य का व्याख्यान करना। यहाँ उसे क्रोध, ईर्ष्या, असूया तथा मत्सर का परित्याग करना होगा; अपनी परिधि में न उसे किसी का उपहास करना है और न किसी की अनुचित रूप से पीठ ठोंकनी है। उसका प्रमुख कर्तव्य है साहित्य को समझना और उसे समवेदना के साथ समझना।

...के मर्म का निदर्शन हो चुका; अब उसकी प्रक्रिया पर कुछ

आलोचना के प्रकार

विचार करना है। स्पिंगर्न के अनुसार सफल समालोचक को निम्नलिखित छः प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए—

१. विवेच्य रचना के लेखक ने क्या करने का प्रयत्न किया है?
२. उसने इसको किस प्रकार किया है?
३. वह क्या व्यक्त करना चाहता है?
४. उसने इसे किस प्रकार व्यक्त किया है?
५. उसकी रचना का मुझ (समालोचक) पर क्या प्रभाव पड़ा है?
६. मैं (समालोचक) उस अंकन का किस प्रकार व्यक्त कर सकता हूँ?

ध्यान रहे, ऊपर लिखी प्रश्नावलि में वैयक्तिक प्रतिक्रिया को पहला स्थान न देकर पाँचवें नम्बर पर रखा गया है। क्रोस के अनुसार आज समालोचना में वैयक्तिक प्रतिवचन का यही स्थान है।

प्रोफ़ेसर मिडल्टन मरे समालोचना की तुलनात्मक प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखते है—

सब से पहले एक समालोचक को अपनी समालोच्य रचना के अशेष प्रभाव को, अर्थात् उसकी विशिष्ट अपूर्वता को व्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे, पीछे की ओर चल कर, उसे इस प्रकाशन को अनिवार्य बनाने वाली अनुभूति के अपूर्व गुण का निरूपण करना चाहिए। तीसरे उस अनुभूति के निर्धारक कारणों को प्रतिष्ठित करना चाहिए। चौथे, उसे उन उपायों का विश्लेषण करना चाहिए, जिनके द्वारा इस अनुभूति का अभिव्यंजन किया गया है; (इसी को हम दूसरे शब्दों में रचनाशैली आदि का परीक्षण करना कहते हैं।) पाँचवें; उसे इस रचना के किसी संदीपक उदाहरण का, अर्थात् ऐसे उदाहरण का, जिसमें लेखक की अनुभूति जगमगा उठी हो, ध्यान से परीक्षण

कर्तव्य है कि वह सभी युगों से परिचय प्राप्त करे और साथ ही समालोच्य युग में पूरी पूरी प्रवीणता उपलब्ध करे। उस युगविशेष में प्राप्त की गई प्रवीणता से उसे सब धार्मिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक परिस्थितियों का परिज्ञान हो जायगा, जिनकी समष्टि में से उसकी उस समालोच्य रचना का आविर्भाव हुआ है।

समालोचक के वे दो प्रधान उपकरण, अर्थात् विश्लेषण और तुलना, रुचि (taste) के विना निरर्थक से हैं; रुचि प्रकाशन के लिए सत्प्रवृत्ति तथा साहस अपेक्षित हैं; क्योंकि एक न्यायप्रिय समालोचक को अपने समसामयिक रीतिरिवाजों तथा वेशभूषाओं पर ध्यान न देते हुए अपने विचार प्रकट करने हैं। उसे, चाहे उसका समालोच्य लेखक कितना भी महान् क्यों न हो—उसके उन विंदुओं को देखना और प्रकाशित करना है, जो किसी लेखक को महान् से अच्छे में परिवर्तित कर देते हैं।

सच्चे समालोचक में जोष (gusto) होना अपेक्षित है। उसमें अपनी प्रसन्नता तथा अनुराग को दूसरों पर सक्रमित करने की क्षमता होनी चाहिए। उसकी तीक्ष्णता संक्रामक होनी चाहिए। हम चाहते हैं कि वह हमें अपने उत्साह और विरक्ति दोनों में सम्मिलित करे। समालोचना की शैली मधुमती होनी चाहिए और उसके पाठक को आनन्द मिलना चाहिए। समालोचक जितने ही अच्छे प्रकार से अपनी कला को प्रकाशित करता है, उतने ही अधिक चाव से हम उसकी रचना के पृष्ठों को उलटते हैं।

समालोचना के दो प्रकार

हम अपेक्षा करते हैं एक समालोचक से—समालोचना के शरीर के रूप में, गरिमान्वित समालोच्य सामग्री की; इस शरीर को प्रकाश तथा पुष्टि प्रदान करने के लिए स्फुटता और सुनिश्चितता की; उसे अनुप्राणित करने के लिए उत्साह की; और इन सब को उसमें एकता-

न्वित करने और उसके स्वाद को दूसरों तक पहुँचाने के लिए वर्चस्वी व्यक्तित्व की। इन उपकरणों का किसी एक समालोचक में एक साथ मिलना दुर्लभ होता है। कतिपय आचार्य तो समालोचकों से इससे भी कहीं अधिक आशा करते हैं। इस प्रसंग में डे लेविस का कथन है कि समालोचना के महत्त्वशाली दो वर्ग हो सकते हैं, पहले वर्ग में पाठक के मार्ग में उसके मार्गप्रदर्शन के लिए निदर्शनचिह्न लगाए जाते हैं; कठिन घाटियों में उसका हाथ पकड़ कर उसे सहारा दिया जाता है और उसे समझाया जाता है कि यह यात्रा करने योग्य है अथवा नहीं। समालोचना का दूसरा; अर्थात् विधायक प्रकार, अन्य विधायक रचनाओं की भाँति दुर्घट है। जब कोई समालोचक किसी लेखक का परिशीलन कर चुका होता है, पर्याप्त समय तक उसके साथ उसी की चित्तवृत्तियों में लीन रह चुका होता है, उससे अतिहित हो चुका होता है, तब उन दोनों में एक प्रकार की सजातीयता उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि आचार्य की कुछ शक्ति शिष्य पर संक्रमित हो जाती है। एलिस मेलन ने समालोचक के गुणों की एक लंबी-चौड़ी सूची तैयार करके अंत में उसके लिए ये बातें वाञ्छनीय बताई हैं; सुनिश्चितता—और उनके असाधारण सहचर, स्वातंत्र्य, उत्प्लुति, उदात्तता, उत्साह, अवकाशयुक्त सामीप्यबोध आत्मिक अनुभूति के लिए संनद्धता; और एकांतवासी पाठक अशेष गंभीरता तथा व्यवसाय।

समालोचना के विषय में रीड का मत

हाल ही हमारा ध्यान साहित्य के सामाजिक समन्वय (implicati... की ओर आकृष्ट हुआ है। प्रो० हर्बर्ट रीड ने कहा है सच्ची साहित्यिक समालोचना वह है जो कला के उत्पाद का प्रादुर्भाव, व्यक्ति के मनोविज्ञान और समाज के आर्थिक संस्थान में ढूँढती हो। इस उक्ति का मूल हमें उस विश्वास में निहित हुआ प्रतीत होता है,

जिसके अनुसार साहित्य मनुष्यों के जीवन का एक यथार्थ अंग है। समालोचना के इस नवीन सिद्धांत के अनुसार हाल ही में अंग्रेज़ी साहित्य का एक इतिहास, वहां के समाज को ध्यान में रख कर लिखा गया है। इस प्रणाली में सब से बड़ा दोष यह है कि इसमें लेखकों को समाज के ऐतिहासिकों द्वारा गढ़े गए, ढांचे में बलात् कहीं ठोका जाता है और उनकी रचनाओं के वे भाग, जिनका अपने समसामयिक समाज के साथ कोई संबध नहीं होता, अनालोचित रह जाते हैं। इस प्रवृत्ति को पराकोटि से हम यही परिणाम निकाल सकते हैं कि साहित्य और उसके समालोचक दोनों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनका समाज के साथ गहरा संबंध है।

हमें समालोचक का आदर करना चाहिए

हो सकता है कि हमें आदर्श आलोचक के कभी दर्शन ही न हों; यह भी संभव है कि हम कभी, आदर्श आलोचक को भूषित करने वाले कौन से उपकरण हैं, इस पर भी एकमत न हो सकें। किंतु हमारे मध्य इस विषय में कभी मतिद्वैध नहीं होना चाहिए कि आलोचकों ने हमारे ऊपर उपकार किए हैं, और उनकी रचनाओं का भी अपना एक विशेष महत्त्व है। हमें उन्हें चेकोव के इस कटाक्ष से, कि समालोचक तो घोड़े की वह मक्खी है जो उसे हल चलाने से रोकती है और सिबेलियस के इस आक्षेप से कि स्मरण रखो समालोचक के लिए कभी किसी ने कोई स्मारक नहीं खड़ा किया बचाना चाहिए। वर्तमान युग के समालोचक को स्मारक की आवश्यकता नहीं है, और कौन जानता है कि भविष्य में मानवसमाज उसे कितने आदर की दृष्टि से देखेगा।

समालोचना पर लिखने वाले आचार्यों ने समालोच्य सामग्री और समालोचनाप्रणाली के अनुसार उसके अनेक वर्ग किए हैं; हम यहाँ उनमें

कर संक्षेप में पाश्चात्य तथा भारतीय आलोचना का दिग्दर्शन करेंगे।

श्चिम का सर्वप्रथम साहित्याचार्य प्लेटो है। उसने साहित्य का

वमी

वना

साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करते हुए कला और सत्य का अटूट संबंध दर्शाया है। उसके मत में काव्य द्वारा जो कुछ प्रतिपादित अथवा अभिव्यक्त किया जाय वह सत्य होना चाहिए; अपने आधारभूत प्राकृतिक सत्य से मेल हुआ होना चाहिए। इस प्रकार सत्य के निश्चित आदर्श को सामने कर कला और काव्य की परीक्षा करने वाले प्लेटो की यथार्थवाद ज़ोर देने वाली समालोचनापद्धति को हम आदर्शवादी कह हैं।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु के यथार्थवाद को स्वीकार किया; जहाँ प्लेटो ने काव्य को सत्य की प्रतिमूर्ति माना था, वहाँ अरस्तू ने अनुकरण मानते हुए कला तथा विज्ञान का भेद बता कर काव्यसाहित्य सामान्यसाहित्य में भेद निदर्शित किया।

ईसा की तीसरी शताब्दी में लांगीनस (Longinus) नाम का प्रख्यात क हुआ, जिसने दि सब्लाइम नाम के प्रसिद्ध प्रबंध में काव्य तथा कला अच्छा विवेचन किया।

अर्वाचीन काल में एडिसन ने आलोचना के क्षेत्र में कल्पना का सूत्र- करके, मनोविज्ञान के आधार पर कल्पना और कल्पनाजन्य सुख का किया। "इस प्रकार इस काल में सत्य, सुषमा और कल्पना के आधार आलोचना के तीन तत्त्व स्थिर हुए, वस्तु, रीति, और सुखानुभव कराने ।"

...क इतिहास के कतिपय युग आदर्श समालोचना के लिए ... सिद्ध होते हैं। एलिज़ाबेथ के समय में समालोचकों के संपुष्ट

समालोचना का परिछिन्न मापदंड उपस्थित न था, और उन्हें अपने देश
वासियों की रचनाओं का विवरण ग्रीक तथा लैटिन साहित्य के नियमों
अनुसार करना पड़ता था। सत्रहवीं शताब्दी के इंगलैंड में यह आवाज़ उठ
कि इंगलैंड का अपना साहित्य फरांसीसी साहित्य से नीची श्रेणी का है
ड्रायडन ने इस आक्षेप का प्रत्याख्यान करते हुए अपने देशवासियों
अपनी मातृभाषा की सेवा में दत्तचित्त किया। अठारवीं सदी में नियमा
नुसारता—अर्थात् साहित्यशास्त्र के नियमों पर चलने की परिपाटी पर बल
दिया गया। इस सदी के अंतिम भाग में भी हम रेनल्ड्स (Reynolds
को नियमों की पूजा करते हुए देखते हैं। उसके अनुसार एक कलाकार क
सब से बड़ा गुण महाकवियों के पदचिह्नों पर चलना है। उन्नीसवीं सदी के
प्रथमार्ध में राजनीतिक दृष्टिकोण ने समालोचना के विकास में बाध
डाली। दि एडिनबरा रिव्यू, दि क्वार्टर्ली और ब्लेकवुड्स में प्रकाशित होने
वाली समालोचना का दृष्टिकोण लेखक के राजनीतिक दृष्टिकोण से संबद्ध
रहता था; और बहुधा अच्छे से अच्छे लेखकों को उनके वैयक्तिक राज
नीतिक दृष्टिकोण के कारण दुतकार दिया जाता था। इस युग में जेफ्र
(Jeffrey) ने समालोचना क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की। मैकाले ने
बताया कि समालोचना के परिशीलन में भी रसानुभव हो सकता है; इसके
अनुशीलन में भी उत्तेजना तथा उद्दीपन हो सकते हैं। आर्नल्ड ने सामान्य
कोटि की रचनाओं का पराभव करके लेखकों को उत्कृष्ट रचनाओं की ओर
अग्रसर किया। कार्लाइल ने ग्राम्यता तथा परिसीमितता का प्रत्याख्यान
करते हुए अपने युग के कवियों को जर्मन साहित्य का अनुशीलन करने की
ओर प्रवृत्त किया।

बीसवीं सदी के साथ हमारे संमुख फिर वही प्राचीन समस्या आती है
और हम विधायी अंगीकार (Constructive acceptance)—

कि निर्माण करने वाले कलाकारों का राजपथ है—और क्रांति, जिस पर साहसी मार्गप्रदर्शक चलते आए हैं, इन दोनों सिद्धांतों में से किसे ग्रहण करें और किसे छोड़ें इस दुविधा में फँस जाते हैं। प्रजातंत्रवाद से प्रसूत हुई प्रचुर साक्षरता के युग ने, देश के नगर नगर, ग्राम ग्राम और कोने-कोने में बसने वाले पतिपत्नियों के अवकाश के समय को अनायास गुज़ारने के उद्देश्य से पुस्तकों को इतनी विपुल संख्या में जन्म दिया है कि जिसका वर्णन करना कठिन है। इसके साथ ही इन पुस्तकों के ढेरों में से ग्राह्य पुस्तकों को चुनने के प्रधान उपकरण समालोचनासाहित्य को, और समाचार-पत्र तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली समालोचनाओं को भी यथेष्ट प्रगति मिली; किंतु दुःख है कि अव्यवस्था तथा अस्तव्यस्तता के वर्तमान युग में, जब कि उत्कृष्ट कोटि के समालोचनासाहित्य की सब से अधिक आवश्यकता थी, उसका बहुत ही न्यून मात्रा में विकास हो पाया है।

अंग्रेज़ी समालोचनाक्षेत्र में चॉसर, सिडने, बेन, जॉनसन, ड्रायडन, पोप, एडीसन, जॉहँसन, हैज़लिट, लैंब, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, कीट्स, आर्नल्ड, हार्डी, गाल्सवर्दी, ईलियट, रीड, और ऑडन, के नाम स्मरणीय हैं।

जिस प्रकार हमने संक्षेप में पाश्चात्य समालोचना का सिंहावलोकन किया है, उसी प्रकार भारतीय समालोचना पर भी एक दृष्टि दौड़ानी है। भामह के काव्यालंकार, दंडी के काव्यादर्श, मम्मट के काव्यप्रकाश, आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण और राजशेखर के काव्यमीमांसा आदि ग्रंथों को सभी जानते हैं, और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय आचार्यों ने शब्द, अर्थ और रस की जितने विस्तार और जितनी

भारतीय समालोचनाशास्त्र

साथ विवेचना की है, उतनी अन्य किसी भी देश के आचार्यों ने

नहीं की। पाश्चात्य समालोचकों के सभी सिद्धांत किसी न किसी रूप में हमारे आचार्यों ने यूरोपीय समालोचकों से कहीं पहले बता दिए हैं; यहाँ तक कि उन्होंने अपनी उत्कृष्ट विवेचना शक्ति के द्वारा समालोचना को काव्यक्षेत्र से ऊपर उभार विज्ञान और दर्शन की परिधि में पहुँचा दिया है।

कहना न होगा कि जिस प्रकार अन्य अंगों में उसी प्रकार समालोचना में भी, हिंदी साहित्य संस्कृत साहित्य का अनुगामी रहा है; और जिस प्रकार रस तथा अलंकार आदि काव्योपकरणों पर हमें संस्कृत में अगणित ग्रंथ मिलते हैं, इसी प्रकार हिंदी साहित्य में भी इन पर प्रचुर विचार किया गया है। हिंदी समालोचना के इस पटल को छोड़ हम उसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। इतिहास, तुलना, भूमिका, और परिचय। हिंदी साहित्य के कतिपय इतिहास लिखे जा चुके हैं। कतिपय कवियों का तुलनात्मक आलोचन भी हो चुका है। प्राचीन तथा नवीन कवियों की भूमिकाएँ लिखी गई हैं और पत्रपत्रिकाओं में परिचय के रूप में छोटी-मोटी आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहती है। किंतु अभी दो आवश्यक अंग अछूते पड़े हैं : कवियों की सर्वांगीण समालोचना और आलोचना-शास्त्र का निर्धारित रूप। दोनों ही क्षेत्रों में यत्न हो रहा है; किंतु अभी उल्लेख योग्य कार्य नहीं हो पाया है।

पद्य+गद्य : दृश्यकाव्य—नाटक

साहित्य का निरूपण करते हुए हम ने उसे दो विभागों में विभक्त किया था : एक श्रव्य और दूसरा दृश्य। श्रव्य काव्य का वर्णन हो चुका। प्रस्तुत प्रकरण में दृश्य काव्य, अर्थात् नाटक का विवेचन किया जायगा।

उपन्यास के प्रकरण में हम उन सभी तत्वों पर विचार कर आए हैं जो उपन्यास के समान नाटक के निर्माण में भी उपकरण बनते हैं, जैसे—

कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, देशकाल और जीवन का व्याख्यान। किंतु इन तत्त्वों के समान होने पर भी नाटकीय कलाकार की कार्य परिस्थिति उपन्यासकार की परिस्थिति से सुतरां भिन्न प्रकार को होती है, और इसी कारण दोनों अपनी अपनी अर्थ-सामग्री को भिन्न भिन्न प्रकार से उपयोग में लाते हैं। फलतः कला की दृष्टि से उपन्यास तथा नाटक में मौलिक भेद है, यह मौलिक भेद ही हमारे वर्तमान विवेचन का मूलाधार है।

नाटक के विषय में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि वे बातें, जिन्हें हम नाटकीय विधान के सिद्धांत अथवा नाटकीय कला के नियमों के नाम से पुकारते हैं, नाटक की उन आवश्यकताओं तथा अपेक्षाओं से उत्पन्न होते हैं, जो एक नाटक के लिए, उसकी अपनी सत्ता के कारण, आवश्यक बन जाते हैं। हम जानते हैं कि प्राचीन महाकाव्य सुनाने के लिए रचा गया था, और आधुनिक उपन्यास का उद्देश्य पढ़ना है, जब कि एक नाटक का लक्ष्य कथानक की घटनाओं को विकसाने वाले व्यक्तियों के प्रतिनिधिभूत पात्रों के द्वारा अभिनय करना है। इसी कारण जब कि महाकाव्य और उपन्यास की मौलिक वृत्ति वर्णन करना है नाटक का काम अभिनय और कथोपकथन के द्वारा अनुकरण करना है, और अनुकरण की इस वृत्ति के लिए अनिवार्यरूपेण आवश्यक होने वाले तत्त्वों पर ध्यान देते हुए ही नाटक के तत्त्वों पर विचार करना लाभदायक होगा।

कहना न होगा कि उपन्यास तथा नाटक के मध्य दीखने वाले प्रमुख भेद को सिद्धांत की दृष्टि से कूत लेने पर भी उसका स्पष्ट रूप से पहचानना दुष्कर है; इसलिये इस विषय में यहाँ किंचित् विस्तार में जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

नाटक रंगमंच का खेल है

उपन्यास अपने आपे में परिपूर्ण होता है; अर्थात् एक उपन्यासकार अपनी परिधि में उन सब बातों का समावेश करता है, जिन्हें वह अपनी

कथनीय वस्तु को दिखलाने के लिए आवश्यक समझता है। दूसरी ओर एक नाटक—जैसा कि वह मुद्रित होकर हमारे संमुख आता है और जिस रूप में हम इसे पढ़ते हैं—उपन्यास के समान अपने आपे में परिपूर्ण नहीं होता। पद पद पर इसे उन बाह्य संकेतों की अपेक्षा रहती है, जो मुद्रित रचना में नहीं आने पाते। वस्तुतः जिस नाटक को हम पुस्तक के रूप में पढ़ते हैं वह तो कथानक की रूपरेखामात्र है, अर्थात् यह उस वस्तु का कच्चा खाका है, जिसे हमने पात्रों के क्रियाकलाप द्वारा अभी भरना है; यह तो रंगमंच पर दिखाए जाने वाले अभिनय की—जिसके उचित विधान पर नाटकीय कलाकार की सफलता निर्भर है—एक साहित्यिक अथवा लेखात्मक संकेतधारा है। फलतः नाटक के पढ़ने में हमें बहुत सी असुविधाओं तथा न्यूनताओं का सामना करना पड़ता है, क्योंकि हम पर होने वाले नाटकीय प्रभाव का अधिकांश, हमारी कल्पना के प्रति की जाने वाली उन अपीलों के, उन वर्णनों के, उन व्याख्यानों तथा वैयक्तिक टीकाओं के अभाव में—जिनके द्वारा हम पात्रों को समझते और उनके ध्येयों तथा उनके क्रियाकलाप के चारित्रिक महत्त्व को पहचानते हैं—नष्ट हो जाता है। इसी कारण साहित्य के रूप में एक नाटक का समझना हमारे लिए उपन्यास को समझने की अपेक्षा कहीं अधिक दुःसाध्य हो जाता है। नाटक को पढ़ते समय हमें उन सब बाह्य परिस्थितियों की—जिनमें नाटक का आरम्भ संपुटित रहता है—अपनी ओर से ऊहा करनी पड़ती है; वास्तविक अभिनय की कला को भी हम अपनी ओर से पूरा करते हैं। संक्षेप में विस्तार की उन सभी बातों को, जिन्हें हम रंगशाला में बैठ पात्रों को अपनी आँखों के आगे काम करता हुआ देख कर सहज ही हृद्गत कर लेते हैं, नाटक को पुस्तक के रूप में पढ़ते समय अपनी ओर से पूरा करते हैं। फलतः नाटकीय रचना को पढ़ते समय हमारी कल्पना इतनी तीव्र होनी चाहिए कि ज्यों ज्यों हम नाटक

को पढ़ते जायँ त्यों त्यों उसके भिन्न भिन्न दृश्य हमारी आँखों के सामने इस प्रकार उभड़ते चले जायँ, मानों हम उन्हें नाटक में बैठे देख रहे हों। सामान्यतया, कालिदास और शेक्सपीअर के नाटकों को पढ़ते समय—जिन्हें हम आज रंगमंच पर खेलने आदि के अभिप्राय से लिखे गए न समझ विशुद्ध साहित्य; अर्थात् कविता आदि के रूप में मानने लगे हैं—हम इस प्रकार की अत्यंत आवश्यक नाटकीय बातों को भूल जाते हैं। फलतः इस बात पर बल देना अभीष्ट प्रतीत होता है कि किसी भी नाटक के अनुशीलन के समय हमें उसके लिए अनिवार्यरूपेण आवश्यक होने वाली नाटकीय परिस्थितियों को अपने संमुख लाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि नाटकीय रचना को पढ़ते हुए भी हम उसमें रंगमंचीय अभिनय का आनंद ले सकें। क्योंकि नाटक को लिखने का प्रमुख लक्ष्य ही अभिनय के द्वारा प्रेक्षकों का चित्तरंजन करना है।

कहना न होगा कि साहित्य की अन्य विधाओं के समान नाटक भी जीवन का व्याख्यान करता है; और इस काम के लिए वह भी उपन्यास के समान कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन आदि तत्त्वों पर खड़ा होता है। किंतु अपनी कथावस्तु के उत्थान में एक नाटककार को उपन्यासकार की अपेक्षा कहीं अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उपन्यासकार अपनी रचना को, जितना चाहे, विस्तृत बना सकता है और उसी के अनुरूप वह अपनी रचना में, जितना चाहे, सामग्री भी एकत्र कर सकता है। किंतु इन दोनों ही बातों में नाटककार के ऊपर अनेक प्रतिरोध हैं। हम जानते हैं कि उपन्यास एक ही बैठक में पढ़ने के उद्देश्य से नहीं लिखा जाता; इसे पढ़ना प्रारंभ करके हम बीच में उठा कर रख सकते हैं और अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार जहाँ से इसे छोड़ा था, वहीं से फिर प्रारंभ कर सकते हैं। इसका पढ़ना कई दिनों और कई सप्ताहों तक चल

सकता है। उपन्यास की प्रमुख विशेषता ही यह है कि इसकी कथनीय वस्तु में हमारी रुचि ऐसी बनी रहे कि हम इसे जब चाहें पढ़ लें दूसरी ओर, अरस्तू के अनुसार एक नाटक को एक ही बैठक में समाप्त होना चाहिए; और क्योंकि प्रेक्षकों की सहनशक्ति की एक सीमा है, और किसी निश्चित सीमा तक पहुँच जाने पर अच्छे से अच्छे दृश्यों को देखने से भी प्रेक्षकों का मन ऊब जाना स्वाभाविक है, इसलिए नाटक में उसकी दर्शनीय वस्तु का संक्षिप्त होना सब से अधिक आवश्यक है। और इसी कारण एक उपन्यासकार की अपेक्षा नाटककार को कहीं अधिक संकुचित परिधि में काम करना पड़ता है; और इसी उद्देश्य से उसे अपनी सामग्री को काट-छांट कर नपी-तुली बनाना होता है; उसमें से उन सब वस्तुओं को जिनके बिना उसका काम चल सकता है, निकाल देना पड़ता है, और अपनी रचना में एकमात्र उन्हीं महत्त्वशाली घटनाओं तथा परिस्थितियों को अपनाना होता है, जिनके समावेश के बिना उसकी कथा आगे सरक ही नहीं सकती। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने कहा था कि एक नाटककार को अपनी दुःखांतकथा महाकाव्य के प्रसार में नहीं कहनी चाहिए, अर्थात् उसे अपनी रचना का विषय ऐसी कथा को नहीं बनाना चाहिए, जिसके गर्भ में अनेक कथाओं का आना स्वाभाविक हो, जैसा कि रामायण, महाभारत, इलियड और ओडेसी की कथाएँ। और यही बात लागू होती है किसी बड़े उपन्यास के वस्तुतत्त्व पर; क्योंकि एक महाकाव्य के समान विशाल उपन्यास की कथा को भी सफलता के साथ नाटक के रूप में नहीं बदला जा सकता। इस में संदेह नहीं कि इस संक्षेप और संकोच की उपलब्धि में एक नाटककार को रंगमंच से संबंध रखने वाली भाँति भाँति की परिभाषाओं से पर्याप्त सहायता मिलती है, क्योंकि वे बहुत सी बात, जिनका एक उपन्यासकार को वर्णन करना पड़ता है, नाटक में ऐतिहासिक परिज्ञान

पर छोड़ दी जाती है, जब कि रंगमंच का अपना विशेष प्रकार का विधा
नाट्यकार को वाग्गात्मक वर्णन की आवश्यकता से किसी सीमा तक मुक्त क
देता है। किंतु इस संकुचित परिधि में काम करते हुए भी अपनी कथनीय
वस्तु को स्पष्टता के साथ व्यक्त करने की आवश्यकता एक नाटककार की
निर्माणशक्ति पर भारी दबाव डालती है, और उसकी उपपाद्य वस्तु के इसी
महत्त्वशाली पटल पर हमें सब से पहले विचार करना है।

नाटकीय विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जहाँ एक उपन्यासकार प्रसंग
प्रसंग पर उठने वाली छोटी-बड़ी सभी बातों को अपनी रचना में
स्थान देता हुआ विस्तार के साथ अपनी कहानी कहता है, वहाँ प्रवीण
नाटककार गौण बातों को नाटक में आने वाले उन दृश्यों द्वारा दिखाया
करता है, जो बहुधा कथा की कड़ियों को जोड़ने का काम करते हैं। किंतु
इस विषय में भी रंगमंच की रूपरेखा में परिवर्तन हो जाने के कारण प्राचीन
नाटकों तथा नवीन नाटकों में भारी भेद आ गया है। और जब हम इस
दृष्टि से शेक्सपीअर तथा इब्सन के नाटकों का सांमुख्य करते हैं तब हमें
इब्सन की अपेक्षा शेक्सपीअर का कथनप्रकार बहुत कुछ महाकाव्यों के कथन
प्रकार से मिलता दीख पड़ता है; क्योंकि महाकवियों के समान शेक्सपीअर
भी बहुधा अपने कथावस्तु को गौण दृश्यों की परंपरा के मध्य में से आगे
सरकाते हैं। कहना न होगा कि उनकी इस प्रकिया का मूल किसी सीमा तक
उनके समसामयिक रंगमंच की खुली स्वतंत्रता में है।

नाटकीय अभिनय का सार उसकी गतिशीलता में है। दूसरे
शब्दों में नाटक का प्रमुख ध्येय है प्रेक्षकों के मन में
प्रगति (progression) उत्पन्न करना। इसी लिए
नाटक में गतिशून्य तत्त्वों को आवश्यकता से अधिक स्थान

कथावस्तु को
म देने वाला।

शीलता के लिए—और यही है नाटक का आत्मा—आवश्यक है कि यह उस विरोध अथवा विग्रह में परिणत हो, जो नाटकीय अनुभूति का सर्वस्व है। इस बात में किसी अंश तक अत्युक्ति है; क्योंकि स्वयं चेखोव के नाटक ही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि नाटक के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि उसमें पराकोटि और परिणाम से अनुगत विरोध अथवा विग्रह अवश्य हो; जैसा कि ग्रीक नाटकों में पाया जाता है। किंतु, क्योंकि सभी प्रकार की आनन्दप्रद नाटकीय अनुभूति का आधार पात्रों का व्यापार में प्रदर्शन करना है, इसलिए हमारी समझ में नाटक की उत्पत्ति तब तक असंभव है, जब तक कि पात्रों का संबंध किसी प्रकार के ऐसे संकरण (complication) से न हो, जो अनिवार्यरूप से दो विरोधी व्यक्तियों, भावनाओं, परिस्थितियों अथवा विचारों में दीख पड़ने वाले प्रातीप्य में परिणत हो जाया करता है, जैसा कि ओथेलो और इयागो का; कभी यह विरोध चरित्र और परिस्थिति के मध्य दीख पड़ने वाले वैमुख्य के रूप में प्रकट होता है; कभी एक ही पात्र में दीख पड़ने वाली दो विरोधी वृत्तियों के वैमुख्य के रूप में हमारे संमुख आता है, जैसा मैकबेथ में; और कभी एक ही पात्र में एकत्र हुए अनेक प्रतीपी वृत्तियों के वैमुख्य में जैसा कि हैमलेट में। यह वैमुख्य कभी इच्छा तथा ध्येय के मध्य दीख पड़ने वाले विरोध का रूप धारण कर सकता है; कभी एक प्रकार के जीवन की दूसरी प्रकार के जीवन से होने वाली टक्कर में परिणत हो जाता है। कभी कुछ तथ्यों का दूसरे तथ्यों से, कभी तथ्यों का सिद्धांतों से और कभी आत्मिक विभूति का यंत्रकला से विरोध भी देखा गया है।

दो विरोधी शक्तियों के इस पारस्परिक विग्रह ही में नाटकीय कथावस्तु की उत्पत्ति होती है, और इस कथावस्तु की वृत्ति—और यही है नाटक का सब से सारवान् स्थल—है परिस्थिति के ऐसे संस्थान की ऊहा

बच्चे की होती है, अर्थात् "मुझे कहानी सुनाओ।" और यहाँ हम कथा का कथा के रूप में महत्त्व कम न बताते हुए यह कहेंगे कि नाटक में कथा; घटना और परिस्थिति; जब तक कि इनका पात्र के साथ संबंध नहीं जुड़ता, किसी सीमा तक वृथा और निरर्थक रहती हैं। वस्तुतः नाटक के ये सब उपकरण चरित्रचित्रण के ही रूपविशेष हैं। किसी भी नाटक के मौलिक महत्त्व का आधार उसमें निष्पन्न होने वाला चरित्रचित्रण है। इस सिद्धांत को हृदृत करने के लिए हमें कालिदास द्वारा किया गया शकुंतला का चित्रण और शेक्सपीअर द्वारा किया गया उनके अनेक पात्रों का चित्रण देखना चाहिए। कोई भी वेदनाशील पाठक इस बात से सहमत नहीं होगा कि इन दोनों साहित्यिक महारथियों की नाटकीय जगत् में दीख पड़ने वाली अमरता का आधार उनकी रचनाओं की कथावस्तु है, वह बात, जिसने उनकी रचनाओं को शाश्वत बनाया है, नर और नारियों का उनके द्वारा किया गया चरित्रचित्रण है। शकुंतला की अमरता दुष्यंत के द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान और उनके पुनर्मिलन में नहीं, अपितु कालिदास द्वारा खींचे गए शकुन्तला और दुष्यन्त के सर्वांगपूर्ण चरित्र में है। शेक्सपीअर के मैकबेथ नाटक की गरिमा लेडी मैकबेथ द्वारा किए गए नृशंस नरघात में नहीं अपितु शेक्सपीअर द्वारा उद्‌घाटित किए गए मैकबेथ के रोमहर्षण चरित्र में है। इसी प्रकार उनके रचे मर्चेंट ऑफ वेनिस की रुचिता उस नाटक में घटने वाली घटनाओं की परंपरा में नहीं, अपितु उन घटनाओं को जन्म देने वाले पात्रों की मनोज्ञता में। एकमात्र कथावस्तु की दृष्टि से विचार करने पर शेक्सपीअर का हैमलेट नाटक ऐसा खूनी दुलात अथवा "प्रतिक्रिया नाटक" ठहरेगा, जो एलीज़ाबीथन युग के इंगलैंड की कठोररुचि को भरपूर सहलाता था। ... निर्माणकला द्वारा इसी ... नानामुखी नाटक

की सृष्टि कर दी, और यह सब उसने संपन्न किया उस तत्त्व के आश्रय जिसे हम आजकल की भाषा में मनोवैज्ञानिक तत्त्व के नाम से पुकारा करते हैं। और मार्मिक विश्लेषण की दृष्टि से विचार करने पर सभी नाटकों की स्थायी महत्ता का आधार यह मनोवैज्ञानिक तत्त्व ही दीख पड़ेगा।

चरित्रचित्रण में संक्षेप

जिस प्रकार कथावस्तु के क्षेत्र में उसी प्रकार चरित्रचित्रण के क्षेत्र में भी चतुर नाट्यकार को संक्षेप और संकोच से काम लेना पड़ता है। आवश्यकता से अधिक विस्तार वाले उपन्यासों के प्रसार को न्यायसंगत बताने के लिए हम कहा करते हैं कि उनके ध्येय के उचित प्रदर्शन तथा उनके भीतर संमिलित हुए पात्रों के अभिलषित निदर्शन के लिए इतना अधिक विस्तार वांछनीय है। किंतु एक नाट्यकार को अपने ध्येयप्रदर्शन तथा चरित्रचित्रण के लिए इने-गिने दृश्यों की परिधि में ही रहकर काम करना पड़ता है; और साथ ही उसे इन्हीं दृश्यों में अपनी कहानी को भी आगे सरकाना होता है। जब तक कि नाटक के अंगीभूत इस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान विशेष प्रकार से आकृष्ट नहीं किया जायगा वे इसकी सार्थकता को भलीभाँति नहीं समझ सकेंगे। और इस उद्देश्य से यदि हम कालिदास अथवा शेक्सपीअर की रचनाओं में से किसी एक का निदर्शन देकर इस तथ्य को स्पष्ट करें तो कुछ अप्रासंगिक न होगा। संयत क्रियानिदर्शन की दृष्टि से कालिदास का शकुन्तला नाटक अलौकिक संपन्न हुआ है। साथ ही उसमें चरित्रचित्रण भी अत्यंत ही संक्षिप्त तथा गतिमान् बन पड़ा है। इसमें संदेह नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों ही का संघटन अनुपम सिद्ध हुआ है, तथापि बाजीगरी की वे चोटें, जिन के द्वारा कालिदास ने उनको गढ़ा है, अंगुलियों पर गिनी जाने वाली हैं, पर जितनी हैं, सचमुच बड़े ही मारके की। नाटक के आरंभ में ही हम शकुन्तला को

एक निष्कलंक सौंदर्य के लोक में अवतीर्ण होती देखते हैं। वहाँ वह सरल आनन्द के साथ अपनी सखियों तथा तरुलताओं से मिली-जुली है। उस स्वर्ग में छिपे-छिपे पाप ने प्रवेश किया और वह सौंदर्य कीटदष्ट कुसुम की भाँति विशीर्ण और त्रस्त हो गया। इसके अनन्तर लज्जा, संशय, दुःख विच्छेद और अनुताप आए और सब के अंत में स्फीततर, उन्नततर अमरावती में क्षमा, प्रीत और शांति का अवतरण हुआ; बस, शकुन्तला नाटक का सार यही है। कालिदास ने शकुन्तला के चरित्र का जो वर्णन किया है वह अत्यत ही संक्षिप्त, किंतु पराकोटि का मनोज्ञ तथा भावनासंवलित है। अरण्य की आर्जवपूर्ण मृगों की भाँति, तपोवन के निर्झरों की जलधारा के समान पंक के संपर्क में रहते पर भी उन्होंने बिना प्रयास ही शकुन्तला को अपनी नैसर्गिक निर्व्याजता तथा स्वच्छन्दता में शोभायमान होते दिखा दिया है। अपने अनुपम रचनाकौशल से उन्होंने अपनी नायिका को लीला तथा संयम, स्वभाव तथा नियम और नदी तथा समुद्र के ठीक संगम पर खड़ा कर दिया है। उसके पिता ऋषि और माता अप्सरा हैं; व्रतभग से उसका जन्म, और तपोवन में उसका भरणपोषण हुआ है। तपोवन एक ऐसा स्थान है। जहाँ स्वभाव और तपस्या, सौंदर्य और संयम का संयोग हुआ है; वहाँ समाज का कृत्रिम विधिविधान नहीं, वहाँ धर्म के कठोर नियम विराजमान हैं। बंधन और अबंधन के संगम पर गतिशील होने ही से शकुन्तला नाटक में एक अपूर्व विशेषता आ झलकती है। उसके सुख दुःख, संयोग और वियोग, सभी कुछ इन्हीं दोनों के घातप्रतिघात हैं। कालिदास ने शकुन्तला को तपोवन का एक अंग बना कर उसके मर्म को बड़ी ही अपूर्वता से विवृत किया है। लता के साथ फूल का जो संबंध है, वही संबंध तपोवन और शकुन्तला का बता कर उन्होंने शकुंतला के सरल सौंदर्य को कहीं अधिक मनोरम बना कर प्रस्तुत किया है। तपोवन, मृग,

बार। जब हम किसी नाटक का इस प्रकार विस्तार के साथ विश्लेषण करते हैं तब हमें उसके मार्मिक सौंदर्य का ज्ञान होता है और तभी हम इस बात को अवगत करते हैं कि कालिदास और शेक्सपीअर की लोकोत्तर रचनाओं के बीज किन उपकरणों तथा उपायों में संनिहित हैं।

कहना न होगा कि नाटकीय चरित्रचित्रण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित संक्षेप रूप तत्त्व के विद्यमान होने पर नाट्यकार का ध्यान पात्रों की उन वृत्तियों पर खचित होना स्वाभाविक है, जिन्हें वह मुख्य रूप से व्यक्त करना चाहता है। फलतः उपन्यास की अपेक्षा नाटक में कथोपकथन के प्रत्येक शब्द को कहीं अधिक सजीव बनाना पड़ता है; नाटक का समष्टि को ध्यान में रखते हुए नाटकीय अंगों का विवरण करना होता है, और इन सब बातों के लिए अनपेक्षित वार्तालाप को त्याग देना होता है। इस नियम के अनुसार कि प्रत्येक पात्र का निदर्शन इतना परिपूर्ण होना चाहिए कि वह उन सभी बातों को पूरा करने में क्षम हो, जिनकी नाटकीय कथावस्तु को उससे अपेक्षा है, यह बात स्वयमेव मान ली जाती है कि एक कलाकार को अपने नायक अथवा अन्य पात्रों की, केवल उन्हीं बातों को उभारना चाहिए, जो नाटकीय व्यापार पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हों, और इसी कारण, जिनका गुप्त रखना, अनुपयुक्त हो। और नाटकीय अभिनय के लिए सब से अधिक आवश्यक संक्षेप रूप तत्त्व पर ध्यान देते हुए यह बात दीखती भी है सर्वांशेन समुचित। किंतु कभी कभी हम चतुर नाट्यकार को कथावस्तु की आवश्यकता तथा अनावश्यकता पर ध्यान न देते हुए केवल चरित्रचित्रण के लिए चरित्र-चित्रण करता हुआ पाते हैं। और जब हम इस दृष्टि से शेक्सपीअर के नाटकों का अनुशीलन करते हैं तब हमें उनके चरित्रचित्रण में अनेक स्थलों पर यही वृत्ति काम करती दीख पड़ती है। उदाहरण के लिए हेमलेट के विषय में ऐसी बहुत सी बातें आती हैं, जिनका कथावस्तु के साथ किसी

कार का भी प्रायः संबंध नहीं है।

चतुर नाटककार को अपने चरित्रचित्रण में उपन्यासकार की भी अपेक्षा इ बात पर अधिक ध्यान देना चाहिए कि उसकी रचन

व्यक्तित्वमुद्रण का प्रभाव

में व्यक्तित्व का आवश्यकता से अधिक प्रतिफलन न होने पाये। हम जानते हैं कि उपन्यासकार स्वतंत्रता के साथ अपने पात्रों के साथ मिल सकता है, वह उनका इच्छानुसार विश्लेषण कर सकता है, वह उनके विचारों, भावनाओं तथा इच्छाओं को हमारे सामने रख सकता है; और अंत में उन सब पर अपना मत प्रकाशन कर सकता है; किंतु ये सभी बातें एक नाटककार के लिए निषिद्ध हैं। अपनी कला को निष्कलंक बनाए रखने के उद्देश्य से उसे अपनी रचना से पृथक् रहना पड़ता है; और इस बात में भी नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकार का ही हाथ ऊँचा रहता है, विशेषतया उन प्रसंगों में, जहाँ कि चरित्र में जटिलता हो और ध्येय तथा मनोवेगों के सूक्ष्म रूपों का निदर्शन करना हो। इस बात को ध्यान में रखते हुए जब हम उसके इस अतिरेक के साथ, व्यापार तथा अवकाश के क्षेत्र में प्राप्त हुई उसकी उस अनिरुद्ध स्वतंत्रता को मिला देते हैं, जिसे कभी कभी समालोचक उपन्यास के कला-संबंधी दोषों के नाम से पुकारा करते हैं—अर्थात् उसकी विस्तृत प्र[illegible] उसके संस्थान की अनियंत्रिता, स्वभावतः इसमें प्रतिफलित होने व[illegible] पन्यासकार की व्यक्तिता—तब हमें ज्ञात होता है कि चरित्रचित्रण के [illegible] एक उपन्यासकार को नाटककार की अपेक्षा कितनी अधिक सुविधा[illegible] त हैं।

'नाटक में उसके रचयिता का व्यक्तित्व नहीं प्रतिफलित होना चाहिए' बात का यह आशय कदापि नहीं कि नाटक के मूल में उसके रचयिता व्यक्तित्व सुतरां रहता ही नहीं है। ऐसा होने पर तो हम नाटक को

साहित्य ही नहीं कह सकते; क्योंकि साहित्य का विवेचन करते समय हम कह आए हैं कि साहित्य कहाने वाली प्रत्येक रचना में उसके रचयिता का व्यक्तित्व अवश्य निहित रहना चाहिए। व्यक्तित्वमुद्रण के अभाव का आशय तो केवल यही है कि जिस प्रकार एक निबंधलेखक, विषयिप्रधान कवि अथवा उपन्यासकार का अपने पाठकों के साथ तादात्म्य संबंध रहता है वैसा संबंध एक नाट्यकार का अपने प्रेक्षकों के साथ नहीं रहता। वैसे तो साहित्य की दृष्टि से नाट्यकार की व्यक्तिता उसकी रचना के मूल में अनिवार्यरूप से निहित रहती है, क्यों कि आखिरकार कहानी को ढूँढने और विकसाने वाला नाट्यकार स्वयं है, कहानी के किस पक्ष पर कितना और कैसा बल देना चाहिए इस बात का निर्धारक भी वह अपने आप है, कहानी के पात्रों को किस प्रकार कौन से व्यापार में जोड़ना है, उन से क्या क्या और कैसे कैसे कराना है यह सब बातें उसकी अपनी वैयक्तिक रुचि पर निर्भर हैं, पात्रों का बनाना, उन्हें बुलवाना उन्हें व्यापार में जोड़ना, उन्हें इष्ट या अनिष्ट रूप चरम परिणाम पर पहुँचाना भी उसका अपना काम है। इस प्रकार के व्यक्तित्वसंनिधान के क्या क्या और कैसे कैसे परिणाम हो सकते हैं। इस बात को देखना हो तो कालिदास, भवभूति, शेक्सपीअर, शॉ, और गाल्जवर्दी के नाटक की तुलना कीजिए। व्यक्तित्वसंनिधान का परिणाम और भी स्पष्ट रूप में देखना हो तो कालिदास की शकुंतला का शेक्सपीअर के टेम्पेस्ट नाटक से सांमुख्य कीजिए। जहाँ दोनों आचार्यों की कला में महदंतर है, वहाँ जीवन के प्रति होने वाले उन दोनों के दृष्टिकोण में भी मौलिक भेद है। शकुंतला नाटक की नायिका शकुंतला है और टेम्पेस्ट की मिरांडा। शक्ति और सबलता शकुंतला में भी है और टेम्पेस्ट में भी। किंतु टेम्पेस्ट में बल के द्वारा विजय है और शकुंतला में मंगल के द्वारा सिद्धि की अवाप्ति। टेम्पेस्ट में प्रसन्नपूर्णता में ही समाप्ति है : शकुंतला की समाप्ति

सम्पूर्णता में है। टेम्पेस्ट की मिरांडा आर्जव तथा मधुरता की मूर्ति है, उस सरलता की प्रतिष्ठा अज्ञता और अनभिज्ञता के ऊपर निर्भर है शकुंतला की सरलता अपराध में, दुःख में, अभिज्ञता में, धैर्य में और क्षमा में परिपक्व है, वह गंभीर है और स्थायी है।

साहित्य की अन्य विधाओं के समान नाटक पर भी उसके लेखक की मुद्रा छपी रहनी स्वाभाविक है। नाटयकार के द्वारा रचे गए जगत् की वृत्ति और उसका आकार-प्रकार उसके रचयिता की वृत्ति और आकारप्रकार पर निर्भर है। नाट्यकार अपनी कला के उन्मेष के लिए छोटा सा, किंतु फड़कता हुआ वायुमंडल प्रस्तुत कर सकता है जैसा कि चेखोव करता है; वह अपनी अर्थसामग्री पर एक प्रकार का दृष्टिकोण आरोपित करके अपने मूल्य-मूल्य को आँक सकता है, जैसा कि शॉ करते हैं; वह एकांततः शब्दशक्ति द्वारा अपने संसार की रचना कर सकता है, जैसा कौंग्रेव में दीख पड़ता है; वह एकमात्र मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विश्लेषण में व्याप्त रह सकता है जैसा कि इब्सन करते हैं, और अन्त में वह शेक्सपीअर के समान अपनी विश्वमुखी प्रतिभा को नानामुख जगत् के भावभरित निदर्शन में भी व्याप्त कर सकता है।

किंतु स्मरण रहे, नाट्यकार अपनी रचना में अपने व्यक्तित्व उद्द्योतित करने के लिए कदापि नहीं निकलता। अन्य कलाकारों भाँति उसका लक्ष्य भी अपने मन में निहित हुई विशेष प्रकार की सामग्री मूर्त रूप में ढालना होता है, अपनी कल्पना को भाषा की रूपरेखा में बाँध प्रेक्षकों के संमुख रखना होता है; अपनी अनुभूति को पात्रों पर आरोपित करके उसे मुखरित करना होता है। उसकी सबसे बड़ी समस्या इस प्रसंग में यह है कि वह अपने मन की इस सामग्री को किस प्रकार रंगमंच द्वारा, जीती-जागती, प्रेक्षकों तक पहुँचावे।

और ज्यों ही हम ऊपर संकेत की गई नाट्यकार की उक्त वृत्ति को भलीभांति हृद्‌गत कर लेते हैं, त्यों ही हमें इस बात का रहस्य ज्ञात हो जाता है कि क्यों और किस लिए प्रतिदिन के व्यवहार में अपने संमुख आने वाले व्यक्तियों और घटनाओं की अपेक्षा हमारा नाट्यकार के द्वारा खड़े किए गए व्यक्तियों और घटनाओं के साथ अधिक गहरा परिचय हो जाता है। और सच समझो, हम अपने गाँव में रहने वाली शकुन्तला को—जिसे हम प्रतिदिन कई बार अपनी आँखों से देखते हैं—इतनी अच्छी तरह नहीं जानते जितना कि कालिदास द्वारा शकुन्तला नाटक में उत्पादित की गई शकुन्तला को। उस नाटक को पढ़ कर और उसका अभिनय देख कर वह सरल, किंतु सुबोध शकुन्तला; हमारी आँखों के आगे चित्रपट पर शतधा मुखरित हो उठती है और हम कालिदास के द्वारा किए गए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उपायों द्वारा उसके मर्म मर्म को रंगमंच पर विवृत हुआ पाते हैं। इसी प्रकार संभव है स्वयं हैमलेट अपनी माता को इतना अच्छी न जानते हों, जितना शेक्सपीअर के नाटक को पढ़ कर हम उन्हें जान लेते हैं। और यही बात मैकबेथ, ओथेलो, इयागो, सीज़र आदि के विषय में कही जा सकती है। हमारी चर्मचक्षु व्यक्तियों के स्थूल शरीर को देखती और हमारी बुद्धि उनके अंतरंग को निहारती है; नाटकीय अभिनय में नाटक के पात्र कवि की कल्पना के मुलम्मे में से होकर रंगमंच पर नाचने आते हैं; उनकी अशेष वृत्तियों के अंतर्मुखीन हो जाने के कारण उनका क्रियाकलाप और वार्तालाप सं[illegible] तथा सजीव हो उठता है और इन बातों के साथ जब नाट्यकार की लोकातिशायिनी कला आ मिलती है तब सोने में सुगंध बस जाता है, और मांस के ये पुतले, अर्थात् पात्र, कुछ अनूठे और अटपटे ही रूप में हमारे सामने विराजने लगते हैं।

अपने इन पात्रों के चित्रण में एक नाट्यकार अनेक प्रकारों से काम

लिया करता है। उन उपायों में सब से पहला उपाय है आकृति। पात्र का प्रथम दर्शन ही एक अनुभवशील प्रेक्षक को उसके विषय में बहुत सी बातें बता देता है। आकार-प्रकार, संघटन, शरीरमुद्रा, आकृति की सुन्दरता अथवा विकृति, पात्र की विशालता अथवा दुर्बलता, इन सभी बातों से एक पात्र के विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है, और उसके पहले ही दर्शन से हमारे मन में उसके प्रति आकर्षण अथवा घृणा बुद्धि उद्बुद्ध हो जाती है। उसके नाक की बनावट, उसकी आँखों की स्थिरता, उसका केशवेश, उसकी दंतपंक्ति और मुखमुद्रा, उसके हाथों का आकार-प्रकार, उनका उत्थान और पतन, इन सभी बातों से उसके चरित्र का थोड़ा बहुत पता चल जाता है, और शरीर ही का एक भाग समझो उसकी वेश-भूषा को। उसके वस्त्रों की शुभ्रता अथवा अस्वच्छता, वेशविषयक उसकी बहुव्ययिता अथवा मितव्ययिता; वस्त्रधारण के विषय में उसकी सावधानी अथवा असावधानी, इन सब बातों का प्रेक्षक के मन पर बलात् एक प्रभाव पड़ता है, जो बहुत काल तक वैसा अटूट बना रहता है।

चरित्रचित्रण आकृति द्वारा

एक चतुर नाट्यकार, चरित्रचित्रण के इस सब से अधिक सरल और प्रत्यक्ष उपाय से बहुत काम निकाला करता है। और यद्यपि आकारप्रकार के द्वारा किए जाने वाले चरित्रचित्रण के रूप न केवल हर एक युग के अपने पृथक् रहे हैं, प्रत्युत हर नाट्यकार के भी वे अपने निर्धारित ही रहे हैं, तथापि वेषभूषा आदि के द्वारा चरित्रचित्रण करना एक ऐसी प्रथा है, जिसे न तो नाट्यकार ही को भूलना चाहिए और न प्रेक्षक वर्ग को ही।

आकारप्रकार से मिलता हुआ ही चरित्रचित्रण का दूसरा प्रकार वाणी है, जिसमें उच्चारण के साधन शरीर के अवयव और उच्चरित हुआ शब्दसमुदाय दोनों संमिलित हैं। और

वाणी द्वारा

चरित्रचित्रण यद्यपि हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में वाणी का महत्त्व श्रोता के श्रोत्रों की उत्कटता तथा सामान्यता पर निर्भर है, तथापि रंगमंच पर खड़े होकर बोलने वाले पात्र की वाणी, उसकी गहनता, गंभीरता, विपुलता, आकार, पटल, पात्र नाक से उच्चारण करता है अथवा गले से, उसकी वाणी स्थूल है अथवा सूक्ष्म, ये सब बातें नाट्यकार तथा प्रेक्षकगण दोनों ही के लिए चरित्रचित्रण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वशाली हैं।

वाणी की शारीरिक परिधि को छोड़ जब हम उस के उत्पाद्य शब्दजात पर ध्यान देते हैं तब हमारे संमुख चरित्रचित्रण के लिए उसकी महत्ता और भी अधिक विपुल बन कर आती है। और यह बात उपन्यास तथा नाटक दोनों के रचयिताओं पर समानरूप से लागू होती है। दोनों ही अपनी क्षमता के अनुसार अपने पात्रों को गरिमान्वित, जीवनमयी वाणी प्रदान कर सकते हैं; और हम चाहें तो, पात्र द्वारा उच्चरित हुई भाषा से, उसके वाक्यविन्यास की ऋजुता तथा वक्रता से, उसकी वाणी में प्रतिफलित होने वाले संस्कृति के माप से, उसकी भाषा की नागरिकता अथवा ग्राम्यता से, और उसकी वाक्यमाला में गुंथे हुए अलंकारों के चमत्कार तथा उसके अभाव से उसके मन तथा संस्कारों की थाह ले सकते हैं।

मति अथवा भाशय के द्वारा चरित्रचित्रण

पात्र के द्वारा अपने अथवा दूसरों के विषय में उच्चरित हुई वाणी से कुछ उतर कर उसके चरित्र चित्रण के लिए उसके विषय में प्रकट की गई दूसरे पात्रों की संमति है। बहुधा हम अपने प्रतिदिन के व्यवहार में इसी प्रक्रिया से काम लिया करते हैं। एक व्यक्ति से मिलने पर उसके विषय में जो हमारी धारणा होती है, उसे हम बहुधा उसके विषय में दूसरों की संमति जान कर ठीक कर लिया करते हैं। यही

बात एक नाट्यकार अपने पात्रों के विषय में किया करता है। हम कालिदास की शकुन्तला के विषय में उसके आकारप्रकार, उसकी वेशभूषा और उसकी वाणी से बहुत कुछ जान लेते हैं। इसके साथ ही हम उसके विषय में बहुत कुछ उसकी सखियों द्वारा उसके विषय में कही गई बातों से सीखते हैं। इसी प्रकार शेक्सपीअर ने अपने दुर्बोध पात्र हैमलेट को बहुत से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उपायों द्वारा हमारे सामने विशद बना कर रखने का प्रयत्न किया है। उन सभी उपायों से हम हैमलेट के अगम चरित्र को पहचानने का प्रयत्न करते हैं, हम उसके विषय में बहुत कुछ होरेशियो, क्लाडियस, गर्ट्रूड और ओफेलिया द्वारा उसके ऊपर की जाने वाली टीकाटिप्पणियों से भी सीखते हैं।

विचारों के द्वारा चरित्रचित्रण

किसी पात्र के चरित्र को पहचानने के लिए हमें उसके विचारों और मानसिक प्रक्रियाओं से प्रचुर सहायता मिलती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाट्यकार बहुधा विदूषक का उपयोग किया करते हैं, जो छाया की भाँति नायक के पार्श्व में रहता और नर्मसचिव के रूप में उसका चित्तरंजन करता और सुखदुःख में सदा उसका साथ देता है। नायकनायिका अपने गुप्ततम भावों को इस पर प्रकट कर देते हैं और इस प्रकार हम उनके निभृत मनोवेगों को जान कर उनके चरित्र के विषय में अपना मत निर्धारण कर लेते हैं।

स्वगत अथवा स्वगत द्वारा चरित्रचित्रण

कभी कभी पात्र अपने मन की निभृत भावनाओं को किसी और को न सुना उन्हें अपने आपे पर प्रकट किया करते हैं। स्वगत की यह प्रथा करुणरसजनक नाटकों में, इतनी नहीं बरती जाती जितनी कि सुखांत नाटकों में, जहाँ नायक-नायिका अपने चरित्र तथा अंतरात्मा में होने वाले विरोध अथवा

विग्रह का, उत्साह तथा भीरुता के सांमुख्य का, और उद्दीपित आशय की निष्पापता तथा वास्तविक अभिप्राय की असूया का प्रातीप्य दिखाने के लिए इसका उपयोग करते हैं।

आत्मभाषण के द्वारा चरित्रचित्रण

चरित्रचित्रण की दृष्टि से आत्मभाषण का बड़ा महत्त्व है। आत्मभाषण में पात्र अपने विचारों तथा मनोवेगों को अपने ही शब्दों में मुखरित करता है, अपनी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक सामग्री को विषय का रूप देकर उसकी विवेचना करता है। हम जानते हैं कि हमारे आंतरिक जीवन में एक वह अनुभूति भी होती है, जिसकी चेतना के प्रवाह में पर्यवेक्षण, निरीक्षण, अनुभव, मनोवेग और विचार सभी का संकलन रहता है। आत्मभाषण के द्वारा एक नाट्यकार पात्रों की इस अनुभूति को व्याहृत करता और अभिव्यक्त करता है।

जब नाट्यकारों का ध्यान चरित्रचित्रण के इस उपाय की ओर गया *उनकी दृष्टि में उसका उपयोग और महत्त्व विशद हो गया।* आत्मभाषण चरित्रचित्रण का एक ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा हम प्रत्यक्ष रूप से पात्र के अपने तथा अन्य वर्ग के विषय में निर्धारित किए विचारों को, उसके द्वारा किए गए अतीत व्यापार के महत्त्व को और भविष्य में उसके द्वारा की जाने वाली व्यापारशृंखला को जान लेते हैं। इसके द्वारा हम पात्र की अंतस्तली में इतना गहरा पैठ जाते हैं जितना कि एक नाटककार के लिए अभीष्ट तथा क्षम्य है। ग्रीक दुःखांत नाटकों में तो इसका उपयोग प्रस्तावना के स्थान में भी होता था और इसके द्वारा प्रेक्षक वर्ग को यह बता कर कि आज कौन सा नाटक खेला जायगा; *उसमें प्रधान व्यापार कौन सा होगा, उनके साथ रसबंध स्थापित किया* जाता था। शेक्सपीयर के नाटकों में आत्मभाषण का प्रचुर प्रयोग हुआ है

...के प्रदर्शन के लिए, यह उपयोग या तो मनोवेग संबंधी चरम कोटि के प्रदर्शन के लिए, ...या पाने वाले महत्त्वाकांक्षी साहस कृत्य पर आरूढ़ होने से पहले उनको ...तं करने वाले साधन आदि के उतार-चढ़ाव पर सिंहावलोकन करने के उद्देश्य से किया गया है। हैमलेट ने अपने प्रस्तात आत्मभाषण टु बी और नॉट टु बी ईट इज़ द क्वेश्चन में आत्मघात के उतार-चढ़ाव को ...आंका है, तो राजा के प्रार्थना करते समय उपस्थित हुए आत्मभाषण में उन्होंने यह देखा है कि क्या उनके उस समय राजहत्या करने से उनके उद्देश्य की सिद्धि होती अथवा नहीं। कुछ आत्मभाषणों में हैमलेट ने अपनी अंतरात्मा की रहस्यमय नानामुख गति पर विचार किया है, और इन सब आत्मभाषणों से हमें उनके सकल चरित्र को समझने में प्रचुर सहाय प्राप्त होती है।

व्यापार के द्वारा चरित्रचित्रण

क्यों कि नाटक का सार ही व्यापार का प्रतिनिधान करना है, इसलिए नाटक में चरित्रचित्रण का एक साधन पात्रों का व्यापार भी है। और जैसा कि वास्तविक जीवन में, वैसा ही नाटक में भी, यह बात, कि एक पुरुष किस काम को करता है या नहीं करता, करता है तो कैसे करता है, आपत् में उसकी चेष्टा किस प्रकार की होती है, अपने ध्येय की अवाप्ति में वह कहाँ तक व्यवसायात्मक बुद्धि से काम लेता है, उस पात्र के चरित्र को प्रकाशित करने में बहुत अधिक सहायक होती है।

पात्र को व्यापार द्वारा प्रदर्शित करते हुए (exhibiting char- ac... ough action) जो विशेष समस्या एक नाट्यकार के संमुख है पात्र और व्यापार में एक निर्धारित संबंध-स्थापन। हो कोई पात्र विशेष रूप से रुचिर अथवा कुरूप हो, कोई व्यापार ...क, अथवा हास्यजनक हो; किंतु जब तक पात्र और व्यापार के

मध्य सामंजस्य का स्थापन करने वाला संबंध नहीं उद्भावित किया जायगा तब तक रचना की संभाव्यता तथा विश्वासजनकता अधकचरी रहेगी और नाटक की सफलता और उसकी ऋजुता नष्ट होती जायगी। पात्र तथा व्यापार के मध्य सामंजस्यस्थापन की समस्या हमें नाटकीय ध्येय को ध्यान में रख कर हाथ डालना चाहिए। सामंजस्यस्थापना के मूल में काम करने वाली बात यह है कि रंगमंच पर घटित होने वाली महान् अथवा सामान्य सभी प्रकार की घटनाओं के लिए पर्याप्त कारण और पर्याप्त ध्येय विद्यमान होना चाहिए। कोई भी व्यापार ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसकी पात्रों की प्रकृति; उनके आशय और उनके उद्देश्य की दृष्टि से पूरी व्याख्या न की जा सके। संक्षेप में पात्रों का व्यापार उनकी मनोवृत्ति से प्रसूत होना चाहिए। इसका यह आशय नहीं है कि सभी व्यापारों की उत्पत्ति पात्रों का विवेचनात्मक बुद्धि से होनी चाहिए; ऐसा कहना मनोविज्ञान का निरादर करना होगा। पात्रों और उनके व्यापार के मध्य होने वाले सामंजस्य का आशय यही है कि पात्रों द्वारा किए गए अशेष क्रियाकलाप का व्याख्यान उनकी मनोवृत्ति, उनके मनोवेग, भावना, सहजाव-बोध, अभिलाषा, विवेचनात्मक बुद्धि तथा विचारों को ध्यान में रख कर संभव होना चाहिए।

पात्र और व्यापार में सामंजस्य उत्पन्न करने वाला महत्व प्र-योज्-अन

कहना न होगा कि चरित्र और व्यापार में सामंजस्य स्थापित करने वाले कतिपय तत्त्वों में प्र-योज-अन प्रधान तत्त्व है। किसी नाटक का प्रयोजन उसके अपने स्वरूप पर निर्भर है। स्वभावतः करुणाजनक नाटकों में, जिनमें जीवन के उत्कट मनोवेगों का पारस्परिक संघर्ष प्रदर्शित किया जाता है, उन सामान्य कोटि के नाटकों की अपेक्षा, जिनमें जीवन के साधारण तत्त्वों का प्रतिनिधान किया जाता है, प्रयोजन

यही अधिक गंभीर तथा उदात्त कोटि का होना वांछनीय है। इस तत्त्व के अनुसार हम ऐसे नाटकों की अवहेलना करने का पूर्ण अधिकार है जिनमें किसी उदात्त प्रयोजन को दृष्टि में रखे बिना ही जीवनसंविवर्तन और व्रवन-हरण की घटनाओं को सजाया गया हो, जिनमें छोटे से उद्देश्य से जीवन के गंभीर मर्मों को उभाड़ित किया गया हो। मनोविज्ञान की इस उपेक्षा के कारण ही बड़े बड़े करुणाजनक नाटक भी काचिराक नाटकों में बदल जाते हैं इसी प्रकार एक सुखांत नाटक की गंभीरता भी उसके प्रयोजन की गंभीरता तथा उदात्तता पर निर्भर है; और इसी लिए विश्व के प्रमुख सुखांत नाटकों में पात्रों तथा उनके व्यापार को एक दूसरे का तुल्यभार बनाने का प्रयत्न किया गया है। शेक्सपीयर के उन रोमांटिक नाटकों में, जो अपने ही एक अनूठे जगत् में विघटित होते हैं, हम किसी प्रकार के निर्धारित प्रयोजन की जिज्ञासा नहीं करते। छोटे छोटे प्रहसनों में तो एक सामान्य सी बात भी नाटकीय वस्तु का प्रयोजन बन सकती है।

प्रयोजन को सफल बनाने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है वे हैं: औचित्य, पर्याप्ति; संवादिता।

कहना न होगा कि नाटकीय व्यापार के लिए आवश्यक है कि वह, जेन पात्रों से उसकी प्रसूति हुई है, उनके अनुरूप प्रतीत होना चाहिए। शकुन्तला से प्रसूत होने वाले अशेष व्यापार उसके अनुकूल होने चाहिएँ और मिरांडा तथा क्रियोपेट्रा से प्रसूत होने वाली व्यापारधारा उनके अनुरूप होनी चाहिए। एक राजा को, चाहे वह कितना भी ओछा तथा छद्मी क्यों न हो, कभी न कभी राजा के अनुरूप उत्साह वाला होना चाहिए, कभी न कभी उससे धीर तथा उदात्त कार्यधारा की प्रसूति होनी चाहिए। वस्तुतः पात्र और व्यापार एक दूसरे के साथ पारस्परिक क्रिया-रिता के द्वारा संबद्ध हैं। जिस प्रकार व्यापार के अतिरिक्त और किसी

उपाय द्वारा किए गए चरित्रचित्रण से व्यापार के प्रयोजन पर प्रकाश पड़ता है उसी प्रकार स्वयं व्यापार भी पात्र के ऊपर संभवतः और सब उपायों की अपेक्षा अधिक प्रकाश डालने वाला है।

प्रयोजन की सफलता के लिए **औचित्य की अपेक्षा भी पर्याप्तता की अधिक आवश्यकता है।** एक नाट्यकार के लिए यह काम सहज है कि वह पात्रों के *अनुरूप व्यापार की, और व्यापार के अनुरूप पात्रों की उद्भावना* कर ले; किंतु उसके लिए प्रेक्षकवर्ग के मन में इस बात का विश्वास जमा देना इतना सहज नहीं है कि *रंगमंच पर प्रदर्शित किए गए व्यापार* का उसके द्वारा दिखाया गया प्रयोजन पर्याप्त है। और नाटक की वह कड़ी, जिससे कि प्रयोजन की पर्याप्तता परखी जाती है, करुणाजनक नाटक में नायक अथवा नायिका के द्वारा की जाने वाली आत्महत्या है। दुःखांत नाटक रचने वालों में से बहुतों ने अपने पल्लवग्राहि मनोविज्ञान के आधार पर सामान्य बातों के लिए अपने नायक नायिका को आत्मघात के अंधतमस् में धकेल दिया है। इस प्रकार का आत्मघात, जिसका प्रभाव नायक अथवा नायिका के स्वभाव का चिड़चिड़ापन है, रोमांटिक ट्रेजेडी अथवा भावों को गुदगुदाने वाले सामान्य नाटकों में तो किसी सीमा तक सह्य है भी, किंतु मार्मिक जीवन का निरूपण करने वाले उदात्त करुणाजनक नाटकों में इसके लिए स्थान नहीं है। प्रथम कोटि के करुणाजनक नाटकों को जाने दीजिए, उत्कृष्ट कोटि के सुखांत नाटकों में भी इस प्रकार के आत्मघात की उद्भावना नहीं की जाती। और यही कारण है कि कालिदास की सौम्य शकुन्तला, दुष्यंत के *द्वारा भरी सभा में* प्रत्याख्यात होने पर भी, आत्महत्या करना तो दूर रहा, फिर वन तक को न लौटती हुई, कर्मक्षेत्र में ही जीवन यापन करना श्रेयस्कर समझती है, और इसके अनुसार वह *उदात्त संयम तथा प्रशांत कर्मण्यता* के पावन संगम पर ही शांतिलाभ करती है। इसके विपरीत हमें इब्सन के हेडा

गेब्लर और सर आर्थर पिनेरो के दि सेकंड मिसेज़ टैंक्वेरे में आत्मघात का एक निदर्शन मिलता है। दोनों ही नाटकों में आत्मघात के द्वारा नाटक का जवनिकापतन कराया गया है, किन्तु जहाँ इब्सन के द्वारा कराया गया आत्मघात नाटकीय दृष्टि से न्याय्य कहा जा सकता है, वहाँ सर आर्थर द्वारा कराया गया आत्मघात एकमात्र थियेटर की दृष्टि से रोचक माना जा सकता है। पहला मनोविज्ञान के अनुकूल सफल हुआ है, दूसरे में वह बात नहीं आने पाई। इब्सन ने पात्र तथा परिस्थिति का अभूतपूर्व संकलन संघट करके हेडा के आत्मघात को हमारे लिए न्यायसंगत बना दिया है। हेडा एक भावदुष्ट प्रलयंकर प्राणी है; उसे पता चलता है कि उसका जीवन उसकी रोगभरित कल्पना से उद्भावित की गई परिस्थिति में असंभव है; वह अपने हाथों बिछाए काँटों में स्वयं फँस गई है; भविष्य में उसे पाप ही पाप पतन ही पतन, और विनाश ही विनाश मुँह बाए खड़े दीखते हैं; वह आत्मघा[illegible] कर लेती है और उसका आत्मघात किसी सीमा तक न्याय्य कहा जा सक[illegible] है। इसके विपरीत पौला टैंक्वेरे का; एलीन द्वारा अपने प्रेम का प्रत्याख्[illegible] किए जाने पर, आत्मघात कर लेना निष्प्रयोजन तथा निराधार दीख पड़ता [illegible]

इसी तथ्य के आधार पर हम कहेंगे कि भवभूति ने अपने उत्तररामच[illegible] नाटक में दुर्मुख के सीताविषयक लोकापवाद के घोषित करने पर, रा[illegible] हाथों गर्भिणी सीता को वन में पठा कर अपने नाटक के प्रमुख ना[illegible] आधार सीतावनवास को निर्मूल बना डाला है। हम नहीं समझते कि[illegible] प्रकार श्रीराम जैसे विचारशील राजा सामान्य पुरुष के सामान्य क[illegible] कहने पर उसकी जाँच पड़ताल किए बिना ही, अपनी गर्भिणी प्राणप्रि[illegible] बिना कुछ कहे सुने और बिना कुछ विचारे, वन में पठा सकते [illegible] भवभूति को सीतावनवास ही अपने नाटक का आधार बनाना था [illegible] विशिष्टतर कारण की उद्भावना करनी चाहिए [illegible]

उस कारण को उद्भूत करके राम के मन में कर्तव्य तथा प्रेम का तुमुल संघर्ष दिखाना था। भवभूति ने दोनों कामों में से एक भी न करके अपनी नाटकीय कला को सदा के लिए पंगु बना डाला है।

चरित्रचित्रण की गरिमा

चरित्रचित्रण को गरिमान्वित बनाने के लिए उसमें संवादिता, परिपूर्णता, प्रकाशकता, सारवत्ता तथा दर्शनीयता का होना अपेक्षित में। चाहे कोई पात्र शकुन्तला के समान सामान्य हो अथवा हैमलेट के समान संकुल, चाहे वह साधारण हो अथवा असाधारण, उस के चित्रण म संवादिता तथा बुद्धिगम्यता होनी आवश्यक है। उस के गौण अशों तथा व्यापारों का उसकी समष्टि तथा उसके प्रमुख व्यापार के साथ सामंजस्य होना चाहिए। चरित्रचित्रण की गरिमा उसकी परिपूर्णता पर भी निर्भर है। चरित्रचित्रण को नाटक में पढ़ कर अथवा उसे रंगमच पर उघड़ता हुआ देख कर हमें प्रतीत होना चाहिए कि हम उसे तीन परिमाणों में—अर्थात् विचार, वाणी और व्यापार इन के भीतर—उद्घटित होता देख रहे हैं। वे पात्र, जिनका विवरण ऊपर कहे तीन परिमाणों में से दो या एक परिमाण में किया जाता है, विशद तथा परिमेय भले ही सपन्न हो जाँय, उनमें सजीवता और गतिमत्ता नहीं आ पाती। उदात्त पात्रों में प्रकाशकता होना भी वांछनीय है, जिसका आशय यह है कि वे चाहे थोड़ा ही बोलें, किंतु जो कुछ बोलें वह उन के हृदय से निकला होना चाहिए; और औचित्य, अभिव्यंजकता, प्रकाशकता आदि गुणों से अलंकृत होना चाहिए। वास्तव में एक प्रकाशकतासंपन्न पात्र की वाणी में इस प्रकार की गूँज होनी चाहिए जो उसकी अपनी हो और जो और किसी भी पात्र के कंठ में न मिल सके। पात्र में, चाहे वह प्रधान हो अथवा गौण, दर्शनीयता भी अपेक्षित है। इसका यह आशय नहीं है कि हम उसकी ऊँचाई, मोटाई, तथा गोलाई आदि क

द्वारा उसे और सकें। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि हमें उस पात्र के विषय में उसके आकारप्रकार, उसकी मुद्रा, भावभंगी, ईहा और इंगित आदि का आभास होना चाहिए। किंतु संभवतः चरित्रचित्रण की गरिमा का सब से भी बड़ा निर्णायक तत्त्व पात्र की सारवत्ता है। कलाकार की किसी अनूठी ही कल्पना, पर्यवेक्षण, निर्माणशक्ति, तथा कलाकारिता के गर्भ में से ऐसे सजीव पात्रों की प्रसूति हुआ करती है। ऐसा पात्र, चाहे वह कलड़कारी हो अथवा पोच, चाहे वह प्रतिमा का पुतला हो अथवा कोरा आततायी, वह जो कुछ भी हो, उसके लिए मनस्वी और ऊर्जस्वी होना आवश्यक है। नाटकीय कला का सबसे बड़ा रहस्य इसी बात में है। क्योंकि इस में नाट्यकार परमात्मा के समान विधाता बन जाता है; शब्दों की तरल सामग्री में से वह ऐसे घन प्राणी उत्पन्न करता है जो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वास्तविक होते हैं, जो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक ऊर्जस्वी होते हैं और जिनसे हम इतने अधिक परिचित हो जाते हैं, जितने स्वयं उनके रचने वाले नाट्यकार से नहीं।

कथोपकथन

कथावस्तु, जिसके द्वारा हम पात्र को व्यापार में देखते हैं, पात्रों की रूपरेखा को ही व्यक्त कर सकता है, और इस काम को भलिभाँति पूरा करने के लिए यह भी आवश्यक है कि इसकी रूप-रेखाएँ उभरी हुई हों और यह स्वयं गतिमत्ता से सजीव हो; इसकी गंभीर परिस्थितियाँ ऐसी उघड़ी हुई हों कि उनके आशय को विपरीत समझना असंभव हो, और अंत में उसके पात्र अपेक्षाकृत विपुलता तथा ऋजुता से उपेत हों। किंतु चरित्रचित्रण के विस्तार के लिए और पात्रों के विचार प्रयोजन, तथा मनोवेगों की उत्पत्ति, वृद्धि, तथा परिणाम के संप्रदर्शन के लिए हमें व्यापार पर से आँख हटा कर

उसके साथ साथ चलने वाले पात्रों के कथोपकथन पर ध्यान देना होगा, जिसकी गरिमा उन नाटकों में और भी अधिक विपुल हो जाती है, जिनका *प्रत्यक्ष संबंध मनोविज्ञान से है और जिनकी कथावस्तु का संबंध व्यापार की* अंतस्तली में पैठी हुई आंतरिक शक्तियों से है, न कि उन बाह्य घटनाओं से, जिनके रूप में वे अपने आप को प्रवाहित करती हैं। और इस दृष्टि से देखने पर कथोपकथन व्यापार का एक आवश्यक सहचर ही नहीं, अपितु उसका एक मार्मिक अंग बन जाता है और वार्तालाप के माध्यम से उघड़ने वाली कथा का, इसके द्वारा पद पद पर विवरण होता है।

कहना न होगा कि वार्तालाप के समान कथोपकथन की भी दो वृत्तियाँ हैं : एक उपयोगिनी और दूसरी अनुपयोगिनी। उपयोगी कथोपकथन वह है जो कथावस्तु को गतिमान् बनाता, पात्रों के विचार, मनोवेग तथा उनके मार्मिक स्तरों को विवृत करता और विधान का वर्णन करता है। दूसरा और अनुपयोगी कथोपकथन अपनी कवीय उदात्तता तथा काल्पनिक विशदता से अथवा अपनी उपहासकता आदि वृत्तियों से हमारी रुचि को प्रोत्साहित करता है।

सामान्य वार्तालाप और नाटकीय कथोपकथन में मौलिक भेद यह है कि जहाँ सामान्य वार्तालाप उखड़ा-पुखड़ा, निरुद्देश्य, विषय से विषयांतर पर भटकने वाला होता है, वहाँ नाटकीय कथोपकथन पर नाटक के उस दृश्य-विशेष का—जिसका कि कथोपकथन एक अंश है—नियंत्रण रहता है;

सामान्य वार्तालाप तथा कथोपकथन में अंतर

यह कथावस्तु को गतिमान् बना कर परिणाम की ओर अग्रसर करता है, कभी कभी यह प्रधान अथवा गौण पात्रों की विशिष्ट मनोवृत्तियों को उघाड़ कर प्रेक्षकों के संमुख रखता है और कलाकारिता की दृष्टि से चरम परिपाक को पहुँचा हुआ कथोपकथन तो इन सब कामों

ो एक साथ पूरा करता है। कथोपकथन के इन नपे-तुले उपयोगों को ध्यान ं रखते हुए एक नाटककार को इस बात का अधिकार नहीं रह जाता कि ह चमत्कार, अनूठेपन अथवा सौष्ठव के आवेग में आ, नाटकीय वायुमंडल की आवश्यकताओं को भुला, अपने कथोपकथन के निरर्थक टाँपने में बह जाए। उसे अपने कथोपकथन को काट-छाँट कर, माँज पूछ कर, सीधा खड़ा करना होगा; और परिष्कार की इस प्रक्रिया में से गुज़रता हुआ उसका कथोपकथन स्वयमेव सोद्देश्य, सनिर्देश तथा सुबोध्य संपन्न हो जायगा।

कथोपकथन का उपयोग

नाटकीय कथोपकथन के उपयोगों में सब से प्रमुख है कथावस्तु को गतिमान् बना कर अग्रेसर करना। कथोपकथन अपने इस काम को अनेक प्रकार से पूरा कर सकता है। इन सब प्रकारों में दो प्रमुख हैं : पहला, रंगमंच पर दिखाए जाने वाले व्यापार का सहकारी बन कर, दूसरा रंगमंच से अलग होने वाले व्यापार का सूचक बन कर।

रंगमंच पर उघड़ने वाले व्यापार में कथोपकथन द्वारा विश्वसनीयता आ जाती है; और यदि कहीं नाटक को देखने वाले प्रेक्षक वर्ग कुछ तार्किक भी हुए तो स्वभावतः उनकी रुचि पात्रों के व्यापार में केंद्रित न हो, उस व्यापार का उन पात्रों की दृष्टि में क्या आशय है, इस बात में, अर्थात् व्यापार की बाह्यता से हट कर उसकी आंतरिकता पर केंद्रित होगी; और इस दृष्टि से देखने पर, यह बात, कि पात्रों के वार्तविरोध के आसार तथा उत्कर्ष में किंचित् भी परिवर्तन आ जाने पर उनके मन में विचारों और मनोभावों का कैसा संकुल उमड़ पड़ता है, इतनी ही अधिक रुचिकर बन जाती है जितने कि बड़े बड़े राजाओं के युद्ध संग्राम। प्रथम कोटि के मनोवैज्ञानिक नाटकों के कथोपकथन का विश्लेषण करके देखने पर ज्ञात होगा कि उनके कथोपकथन की रुचिरता तथा गरिमा का सब से बड़ा

उपकरण है उनके द्वारा उद्भावित होने वाला, रंगमंच पर दिखाई गई अथवा न दिखाई गई घटनाओं के प्रत्युत्तर में उठने वाली मनोवैज्ञानिक दशाओं का अविच्छिन्न पारंपर्य।

रंगमंच पर न दिखाए जाने वाले व्यापार की प्रेक्षकों तक सूचना पहुँचाने में तो कथोपकथन की उपयोगिता व्यक्त ही है। यह व्यापार भी दो प्रकार का है : पहला वह, जिसकी वृत्ति दूसरी बातों का व्याख्यान करना है; दूसरा वह जो पहले से प्रवाहित की गई कथावस्तु के विकास के लिए आवश्यक तो है; किंतु जिसका किसी कारण रंगमंच पर प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। नाटक के आरंभ होने से पहले होने वाली घटनाओं को प्रेक्षकों तक पहुँचाने का प्रमुख साधन ही कथोपकथन है।

रंगमंच पर न दिखाए जाने वाले व्यापार को प्रेक्षकों तक पहुँचाने की कला जितनी ग्रीक आचार्यों के हाथों परिष्कृत तथा उपयोगिनी संपन्न हुई है उतनी नाटकीय साहित्य के किसी भी दूसरे युग में नहीं हो पाई। उग्र हिंसा के व्यापारों को रंगमंच पर न दिखाने की ग्रीक आस्था के कारण चाहे जो भी हो, उनकी इस सरणि ने इस प्रकार की घटनाओं को प्रेक्षकों तक पहुँचाने के उद्देश्य से नाटक में दूतप्रवेश की वह प्रथा चलाई जो आगे चलकर बहुत ही उपयोगिनी तथा बलवान् संपन्न हुई। इस विषय में उनकी सफलता का एक उपकरण यह भी है कि उन्होंने नाटकीय कथोपकथन का प्रवेश उस प्रसंग पर कराया होता है, जब कि पात्र और प्रेक्षक दोनों ही वर्णित किए जाने वाले व्यापार के प्रति उत्सुकमना होते हैं; क्योंकि हम जानते हैं कि प्रेक्षकवर्ग, जिस व्यापार अथवा व्यापारपरंपरा में उनकी उत्सुकता और रुचि उत्कट हो चुकी है, उसके विषय में किए जाने वाले वर्णन को, चाहे वह कितना भी विस्तृत क्यों न हो, सुनने के लिए धीर बने रहते हैं।

हमने अभी कहा था कि नाटकीय कथोपकथन की उपयोगिनी तथा अनुपयोगिनी ये दो वृत्तियाँ होती हैं। जहाँ इसकी पहली विधा से कथावस्तु में गतिमत्ता आती है, चरित्रचित्रण होता है, विधान का वर्णन होता है, वहाँ इसकी दूसरी विधा प्रत्यक्षतः इसमें से कोई काम न करती हुई भी अपने आपे में ही नितांत रुचिकर होती है। किंतु जहाँ कथोपकथन की पहली विधा है, कथा और व्यापार के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध होने के कारण नाटक को ऋजु मार्ग से इधर उधर भटकने का भय कम रहता है, वहाँ उसकी दूसरी विधा में, व्यापार आदि के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध न होने के कारण यह भय बराबर बना रहता है। किंतु इस प्रकार की आशंकाएँ रहने पर भी गंभीर तथा सामान्य दोनों ही प्रकार के नाटकों में इस कोटि के कथोपकथन का स्वच्छंद प्रयोग होता आया है। सामान्य कोटि के नाटकों में तो इसका प्रयोग पराकाष्ठा को पहुँच गया है; और इस दृष्टि से विचार करने पर भवभूति तक के नाटकों में इस कोटि के कथोपकथन का आवश्यकता से अधिक उपयोग हमें अखरने सा लगता है। इतना ही नहीं, शेक्सपीअर तक के नाटक हमें इस दोष से स्वतंत्र नहीं दीख पड़ते। और जब हम इस दृष्टि से उनकी अमर रचना हैमलेट का अनुशीलन करते हैं, तब हमें उसके चतुर्थ दृश्य में आने वाला वह सारे का सारा प्रकरण, जिसमें मद्यपान की जातीय प्रथा का अनावश्यक प्रसार किया गया है, नीरस तथा दोषावह प्रतीत होने लगता है। और यदि करुणाजनक जैसे गंभीर नाटकों में भी इस कोटि के कथोपकथन का इस सीमा तक अभिनंदन किया जा सकता है, तो सुखांत नाटकों अथवा प्रहसनों के विषय में—जिनका प्रमुख लक्ष्य ही प्रेक्षकों का मनोविनोद करना है—कहना ही क्या। यहाँ तो जिस किसी बात से प्रेक्षकों का चित्तरंजन संभव हो उसका प्रवेश कराया जा सकता है। इस

अनुपयोगी कथोपकथन

एक नाट्यकार के लिए यह वांछनीय है कि वह, चाहे उसका कथोपकथन उपयोगी हो अथवा अनुपयोगी, उसे हर प्रकार से चित्तरंजक बनावे; काट-छाँट कर मनोरंजक तथ्यों द्वारा उसे ऐसा सुघड़ बनावे कि वह, कथा को अग्रसर बनाने आदि, जो उसके प्रत्यक्ष लक्ष्य हैं, उन्हें पूरा करता हुआ, स्वयं अपने आपे में भी एक रमणीय तथा चमत्कारी वाक्यवर्ग बन जाय।

पद्यबंध कथोपकथन

यहाँ पर इस समस्या के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है कि संसार के उत्कृष्ट नाटक, चाहे वे करुणाजनक हों अथवा सुखांत—किस लिए सदियों तक पद्य में लिखे जाते रहे हैं। चाहे यह काम नाटकीय अभिनय को, दृश्यमान जीवन की सामान्य परिधि से पृथक् करके उसे आदर्श के क्षेत्र में पहुँचाने के लिए किया गया हो, अथवा नाटकीय वस्तु को कल्पनाभरित अावृत्तिमयी भाषा के चित्रपट पर खचित करके उसमें रुचिरतासंपादन के लिए, इसमें संदेह नहीं है कि पद्यबंधन की प्रथा का आदि काल से ही नाटकीय कला के साथ संबंध रहता आया है। और यह बात तो बहुत पीछे जाकर हाल ही हुई है कि नाट्यकारों ने कम से कम करुणाजनक गंभीर नाटकों में पद्य का प्रत्याख्यान करके गद्य का आश्रय लिया है। फलतः पद्यबद्ध नाटकीय कथोपकथन पर भी ऐतिहासिक विकास की वे सभी बातें घटनी स्वाभाविक हैं जिनका हम सामान्य कविता के विषय में पहले अनुशीलन कर चुके हैं। और यह एक साहित्य के क्षेत्र में सचमुच बड़े ही आश्चर्य की बात है कि नाट्यकारों ने अपने कथोपकथन को पद्य में खड़ा करते हुए भी उसे नाटकीय अभिनय के प्रतिफलन और अग्रसारण में इतने सूक्ष्म तथा व्यापक रूप से समर्थ बनाया है कि उसने कलाकार के संकेत के अनुसार पात्रों की सूक्ष्मतम मनोवृत्तियों, गुप्ततम ईहाओं तथा चपलतम भावभंगियों पर मनचाहा प्रकाश डाला है। वस्तुतः किसी भी साहित्य का सुवर्णयुग

यही माना गया है; जब कि उस साहित्य के सब से उत्कृष्ट नाट्यकार, साथ ही, उत्कृष्टतम कवि भी हुए हैं।

नाटकीय कविता में उन सब आकर्षणों के साथ साथ, जो एक कविता में स्वभावतः होते हैं, वे सब अतिरिक्त विशेषताएँ भी होती हैं, जो नाटकीय तत्त्व के संनिधान द्वारा हमारे कथन में निसर्गतः आ जाया करती हैं। फलतः किसी साहित्य के सुवर्णयुगीन नाटकीय कवि की रचनाओं का विस्तृत विवेचन नाटकीय कविता के मार्मिक निदर्शन के लिए आवश्यक हुआ करता है; और उसमें हमें नाटकीय तत्त्वों के साथ साथ कविता के रीति, छंद, तथा चमत्कार आदि सब उपकरणों को एक साथ मिला कर नाटकीय कविता का सौष्ठव परखना होता है।

गद्य बद्ध कथोपकथन

यहाँ पर इस विषय की विवेचना करना अप्रासंगिक होगा कि नाटकीय क्षेत्र में कब और किन कारणों से पद्य का प्रत्याख्यान करके गद्य का सूत्रपात किया गया। इस बात के कारणों पर हम ने गद्य के प्रकरण में प्रकाश डाला है; पाठकों को उसे वहीं देखना चाहिए। आरंभ में, नाटकों के वे प्रकरण—जिनमें नाट्यकार ने अंतर्मुखीन हो जीवन की तलैटी में पैठ, वहाँ के भावरूप रत्नों को भाषा के प्रच्छ्रपट पर जड़ा है, अनायास ही पद्यों में मुखरित हुए हैं; इसके विपरीत वे प्रकरण जिनमें उसने जीवन की सतह के सामान्य भावों को टटोला है, अपेक्षाकृत न्यूनरस वाले होने के कारण गद्य की सरणि में ढाले हुए हैं। शनैः शनैः प्राचीन जीवन के आधुनिक जीवन में परिवर्तित होने पर, और उसके साथ ही विगत साहित्य के प्रचलित साहित्य के रूप में बदल जाने पर, नाटकीय कविता का स्थान भी गद्य ने ले लिया। आगे चल कर जिसका परिणाम

आधुनिक नाट्यकारों के उन नाटकों में हुआ, जिनमें कविता का नाम नहीं है और अशेष नाटक की परिनिष्ठा गद्य ही में संपन्न हुई है। कहना न होगा कि इस परिवर्तन के द्वारा जहाँ नाटक के कविता की कल्पनाभरित कुक्षि से दूर हो जाने के कारण उसके आकर्षण में न्यूनता हुई, वहाँ वह गद्य में परिनिष्ठित होने के कारण पहले की अपेक्षा, जीवन के कहीं अधिक समीप आ गया; और हम पहले ही देख चुके हैं कि जीवन का प्रतिनिधान ही नाटक का प्रमुख लक्षण है। किंतु जहाँ कविता के उत्तुंग मंच से उतर गद्य की निम्नस्थली में आ जाने के कारण नाटक के जीवनप्रदर्शन में यथार्थता आई, वहाँ साथ ही नाटकीय कथोपकथन को प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत होने वाले वार्तालाप जैसा बनाने की प्रवृत्ति के द्वारा उसमें नीरसता आ जाने का भय भी उत्पन्न हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक युग के नाटकों में यदि उत्कृष्ट कोटि की जीवन का अनुकरण करने की शक्ति है, तो उनमें सामान्यतया उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिकता नहीं मिलती; उनके द्वारा व्यवहृत किए गए कथोपकथन को सुनते पढ़ते प्रेक्षकों और पाठकों का मन ऊब जाता है; और स्मरण रहे, मन का ऊब जाना एक नाटक की नाटकीयता के लिए सब से बड़ा घातक है। कथोपकथन को जीवन में व्यवहृत होने वाले वार्तालाप के अनुकूल बनाते हुए भी उसे साहित्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बनाना आधुनिक नाटककार की दक्षता का श्रेष्ठ परिचायक है।

कहना न होगा कि एक कलाकार की कलावत्ता इस बात से परखी जाती है कि वह किस प्रकार जीवन को कला में परिवर्तित करता है, और एक चतुर नाट्यकार अपनी नाटकीय कला का आधार अपने उस कथोपकथन को बनाया करता है, जिसे वह अपने पात्रों के मुँह से उच्चरित कराता है। यदि कथा का घटन नाटक का ढांचा है तो कथोपकथन

को हम उस ढांचे को अनुप्राणित करने वाला रुधिर तथा प्राण कह सकते हैं। समालोचकों ने अब तक नाटक के रीतितत्त्व की विवेचना पर, समुचित ध्यान नहीं दिया है। एक समालोचक नाटक के विधान, उसके विषय, उसकी देशकालपरिस्थिति, उसके पात्र, और इन सब तत्त्वों का पारस्परिक संबंध, इन सब बातों की विवेचना करता हुआ भी उसके मार्मिक अंग, अर्थात् नाटकीय रीति को अछूता छोड़ सकता है। किंतु वह कौन सा तत्त्व है, जो थिएटर में आंतरिक चित्तोद्वेग तथा आनंद उत्पन्न करता है, जिसकी, किसी भव्य नाटक में पात्रों के शब्दोच्चारण करते ही उत्पत्ति हो जाती है और जो नाटकीय प्रतिमा के उत्थान और पतन के साथ साथ स्वयं भी किसी नाटक में चमका और छिप जाया करता है। नाटक का चरम सार यही तत्त्व है; इसको प्रयत्न द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता; किंतु इसके विद्यमान होने पर यह छिपाए नहीं छिप सकता। इसे हम केवल शाब्दिक चमत्कार नहीं कह सकते। कुछ नाटकों का तो जीवन ही इसके आधार पर है, उदाहरण के लिए, ओस्कर वाइल्ड तथा कौंग्रेव के नाटकों की थिएटर से बाहर की सत्ता एकमात्र उनके चोजभरे कथनों में है। इनका जगत् मजे हुए चामत्कारिक शब्दविन्यास में है। रह रह कर उनकी वाक्यावलि हमारे मन में उठती है। भवभूति आदि कविसामंतों की रचनाएँ अपने तालमय शब्दविन्यास के आधार पर अब तक खड़ी हुई हैं। रसों की नानाविध लहरियों में प्रवाहित होने वाली गीति में उनके नाटकों के दोष छिप जाते हैं और नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से कृपण होने पर भी इनके नाटक अब तक जनता द्वारा अपनाए जाते रहे हैं। किंतु मार्मिक नाटकीय सार तो आकृतिमय भाषा के उन ऊपरी प्रभावों की अपेक्षा कहीं अधिक गहन तथा सांद्र होता है। इसे हम कहते हैं कथोपकथन में लोकातिशायिनी शक्ति का संचार; इसके द्वारा शब्द एक अजीब ही, अनूठी हो, अभिव्यंजकता धारण

कर लेते हैं। जब हम कालिदास-रचित शकुंतला में शकुंतला को अपनी सखियों तथा आश्रमवासियों के साथ वार्तालाप करता देखते हैं, तब हमें अपनी आँखों के आगे जिस प्रकार पेट्रल पंप में तेल ऊपर चढ़ता और उतरता दीख पड़ता है, इसी प्रकार शकुंतला की स्वर्णाभ गात्रयष्टि में मनोवेगों की वीचियाँ उल्लोलित होती दीख पड़ती हैं। इसी प्रकार जब हम शेक्सपीअर के जूलियस सीज़र में ब्रूटस और कैशियस का कथोपकथन पढ़ते हैं, तब प्रतिपंक्ति, प्रतिपद और प्रतिवर्ण हमारा आत्मा पारस्परिक विद्वेष, असहनशीलता तथा घृणा की उन्हीं लपटों में झुलस उठता है जो उन दोनों के हृदयों में दहाड़ती दीख पड़ती हैं। पता नहीं शेक्सपीअर की किस अलौकिक कला ने उनके कथोपकथन में वह विद्युद्‌द्युति पैदा की है जो बिजली के बटन को छूने के नाई कथोपकथन पर आँख या कान देते ही हमारे हृदय का नानाविध रसों की उत्ताल तरंगों से आप्लावित कर देती है। चतुर *नाट्यकारों* ने *अपने कथोपकथन को उद्दाम भावनाओं के क्षेत्र में ही सबल* नहीं बनाया, जीवन के साधारण क्षेत्र में रख कर भी चेखोव आदि कलाकारों ने उसे उतना ही गतिमान् तथा बलवान् बनाया है।

देशकालविधान

क्योंकि सभी घटनाएँ न केवल एक समयविशेष में, अपितु एक स्थान-विशेष पर घटा करती हैं, इस लिए एक नाट्यकार का कर्तव्य होता है कि वह थोड़े बहुत विस्तार के साथ देश और काल के उस विधान का निदर्शन भी करा दे, जिस में कि उसके द्वारा वर्णित की गई घटनाएँ घटित हुई हैं। परंतु क्योंकि इने-गिने विश्वजनीन नाट्यकारों को छोड़, शेष सभी नाट्यकारों को अपने अपने युग के थिएटर पर ध्यान रखते हुए ही नाटकरचना करनी पड़ी है, इस लिए हमें भी उस उस युग के थिएटर पर ध्यान देते हुए ही *देशकालविधान का निदर्शन कराना होगा।*

यूरोप के नाट्यकारों के संमुख क्रम से चार प्रकार का थियेटर रहता आया है। पहला प्राचीन काल का स्थायिविधान रंगमंच (permanent-set stage) दूसरा चलनशील अथवा निश्चल प्लेटफार्म रंगमंच (moving or stable plateform-stage) जो इंगलैंड के मध्ययुग अथवा नवजननयुग (Renaissance) में बरता जाता था; तीसरा परावर्तन युग (Restoration) के अंत से लेकर १६ वीं शताब्दी के अंत तक बरता जाने वाला *चित्रसंस्थान रंगमंच* (picture-frame stage) और चौथा बीसवीं शताब्दी का यांत्रिक रंगमंच (mechanized stage)।

ऐतिहासिक नाटक का विधान

विधान की दृष्टि से प्राचीन युग के स्थायिविधान रंगमंच वाले थियेटर में नाट्यकार को देशविधान का अपेक्षाकृत न्यून अवसर मिलता था। करुणाजनक नाटकों का विधान या तो किसी मंदिर में होता था, अथवा राजप्रासाद में, जिसका वर्णन करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती था; और नाट्यकार इन स्थानों की शांति अथवा गरिमा आदि की ओर संकेत करके अपनी रचना में उपयोगी वायुमंडल का विधान कर देते थे। सुखांत नाटक का विधान बहुधा राजपथों पर होता था, जहाँ कि उन में भाग लेने वाले पात्र साधारणतया रहा करते थे। इस प्रकार के नाटकों में कभी कभी रंगमंच का संघटन करने वाले सूत्रधार आदि को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। अरिस्टॉफेनीज़-रचित दि बर्ड्स तथा दि क्लाउड्स आदि के विधान-निर्माण के लिए कभी कभी व्यवस्थापक को बड़ी कठिनाई होती थी, और जिन देशों अथवा स्थानों का रंगमंच पर विधान नहीं किया जा सकता था, उनको उन दिनों की जनता, कल्पना के द्वारा कूत लेती थी। राजपथों के आधार पर खड़े होने वाले सुखांत नाटकों को खेलने में भी बहुधा कठिनाई

होती थी। इन नाटकों में घर के भीतर होने वाली घटनाओं तथा कथोपकथनों को रंगमंचों पर ला कर दिखाना पड़ता था; और क्योंकि प्राचीन ग्रीक में सम्मानित घरों की महिलाएँ बहुधा अन्तःपुरस्था होती थीं और उनका रंगमंचों पर लाना अस्वाभाविक प्रतीत होता था इस लिए हमें उस काल के नाटकों में बहुधा ऐसी स्त्रियाँ भाग लेती दीख पड़ती हैं, जिनका समाज में अपेक्षाकृत नीचा स्थान होता था।

मध्ययुगीन नाटक का विधान

इंगलैंड के मध्ययुगीन नाटक में, जिसका रंगमंच एक निश्चल अथवा चलनशील प्लेटफार्म होता था, एक नाटककार को विधानविषयक अनेक महान समस्याओं का सामना करना पड़ता था। मध्ययुगीन धार्मिक नाटक में प्रदर्शन गाड़ी (pageant wagon) की स्टेज के, दर्शकों के लिए चहुँ ओर से खुला होने के कारण विधान की आवश्यकता बहुत कुछ न्यून हो जाती थी। निश्चल प्लेटफार्म वाले नाटकों में विधान को दर्शाने का विशेष प्रयत्न न करके उसकी ओर संकेतमात्र कर दिया जाता था। विधान-प्रदर्शन में किसी सीमा तक पात्रों की विशेष प्रकार की वेशभूषा से भी स्थान और काल का संकेत कराया जाता था।

इलीज़ाबेथन नाटक का विधान

मध्ययुग के आरंभिक प्लेटफार्म-रंगमंच की अपेक्षा नवजननयुगीन इंगलैंड का प्लेटफार्म-रंगमंच बहुत सी बातों में बढ़ा चढ़ा हुआ था। पब्लिक थियेटरों में रंगमंच इतना आगे को बढ़ा होता था कि उसके तीन ओर निम्नस्थ प्रेक्षक खड़े हो सकते थे। साथ ही प्रधान रंगमंच के साथ एक आन्तरिक रंगमंच भी होता था, जिसको, बीच में पर्दा डालकर, प्रधान रंगमंच से पृथक् किया जा सकता था। किन्तु जहाँ प्राचीन नाटक में परिवर्तन न होने के कारण एक प्रकार की सादगी थी, वहाँ इस युग के नाटक में

विधान-संबंधी यथेष्ट परिवर्तन करने की प्रथा ने नाट्यकारों पर, समय समय पर बदलने वाले विधानविशेषों को जनाने के लिए स्पष्ट करने की आवश्यकता का सूत्रपात भी कर दिया। किंतु यह सब कुछ होने पर भी इस काल के नाटक में भी देशविधान को पूरी पूरी सफलता न मिल सकी और उसका कुछ अंश तो पुनरपि अनिर्धारित ही रह जाता था और कुछ का नाट्यकार को अपनी रचना में वर्णन करके निदर्शन कराना पड़ता था।

रिस्टोरेशन के पश्चात् का विधान

चित्रसंस्थान-रंगमंच—जिसका इंगलैंड तथा यूरोप के शेष देशों में रिस्टोरेशन से लेकर १६ वीं सदी के अंत तक प्रचार रहा है—विधान की दृष्टि से प्राचीन रंगमंच—जिसके दृश्य विधान में विधानसंबंधी परिवर्तन न होता था, और इलीजाबीथन युग के रंगमंच, जिसमें विधानसंबंधी परिवर्तन बहुधा और शीघ्रता के साथ हुआ करते थे—बीच में आता था। पहले की अपेक्षा इसमें विधान का परिवर्तन अधिक होता था और दूसरे की अपेक्षा न्यून।

रंगमंच के इस रूप ने नाट्यकार का विधानसंबंधी भार बहुत न्यून कर दिया। वह अपने नाटक के लिए आवश्यक वायुमंडल की ओर संकेत करता हुआ अभीष्ट रंगमंचीय सामग्री को निर्देश कर देता था; जिसकी पूर्ति करना चित्रलेखक तथा वेशभूषा को बनाने वाले कलाकारों का काम होता था। शनैः शनैः इन नाटकों के विविध दृश्यों में बदल बदल कर आने वाले सभी विधानों को कलाकारों ने चित्रों में खींच दिया, जिससे नाटक खेलने वालों को बहुत कुछ सुविधा हो गई।

साहित्य में यथार्थवाद का सूत्रपात होने पर नाट्यकार तथा चित्रकार, विधान की दृष्टि से दोनों ही की उत्तरदायिता बढ़ गई; क्योंकि यथार्थवाद का एक परिणाम हुआ उपन्यास तथा नाटक दोनों ही में विधान और वातावरण की अतिशय देशीयता (localization)। इसी कारण वर्तमान

युग में लिखे जाने वाले नाटकों में बहुधा छात्रों को विधानसंबंधी विस्तृत निर्देश मिला करते हैं। और यद्यपि अमेरिका और यूरोप दोनों ही के थिएटरों में अभी तक चित्रसंस्थान-रंगमंच पर ही अभिनय किया जाता है, तथापि यह स्मरण रखना चाहिए, कि वर्तमान युग के यांत्रिक आविष्कारों ने—जिसमें विद्युत् प्रधान है—रंगमंच तथा उसके साथ संबंध रखने वाली सभी बातों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। विधान में भी अब चित्रकार का हाथ प्रासाद, राजपथ, उद्यान; सरोवर आदि तक ही परिसीमित न रह, पर्वत, वन, समुद्र तथा भयंकर और दूरातिदूर देशों और स्थानों पर चलने लगा है और रंगमंच पर होने वाले जो परिवर्तन अब तक हाथ द्वारा किए जाते थे, अब बिजली से किए जाने लगे हैं; और दृश्यों की जिस विविध रंग रूपता को संपन्न करने के लिए अब तक मोमबत्ती आदि से काम लिया जाता था, अब बिजली के रंगबिरंगे बल्बों द्वारा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह से संपन्न किया जाता है।

संकलनत्रय

नाटकीय विधान का संक्षेप में वर्णन हो चुका; अब हमें नाटकीय वस्तु, काल तथा स्थल के सकलन पर ध्यान देना है। प्राचीन यूनानी आचार्यों ने यह सिद्धांत स्थिर किया था कि आदि से अंत तक अशेष अभिनय किसी एक ही कृत्य के संबंध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान का होना चाहिए और एक ही दिन का होना चाहिए, अर्थात् एक दिन में एक स्थान पर जो कुछ कृत्य हुए हों, उन्हीं का अभिनय एक बार में होना चाहिए. नाटकरचना का यह नियम ग्रीस से इटली में और इटली से फ्रांस में पहुँचा था, जहाँ इसका बहुत दिन तक पालन होता रहा। किंतु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर ज्ञात हो जायगा कि सकलनसंबंधी यह नियम, उठती हुई नाक

कला की दृष्टि से कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न रहा हो, इसका उत्कृष्ट कोटि के कलाकारों ने पालन नहीं किया और शेक्सपीअर जैसी प्रतिभाओं ने तो इस पर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया। उनके नाटकों में से प्रायः सभी में अनेक स्थानों और अनेक वर्षों की घटनाएँ आ जाती हैं। प्राचीन काल के ग्रीक नाटक अपेक्षाकृत सादे होते थे और उनमें बहुधा तीन या पाँच पात्र हुआ करते थे। फलतः उन नाटकों में संकलन के उक्त नियमों का पालन सहजसाध्य था। किंतु वर्तमान काल के नाटकों और रंगशालाओं की अवस्था उस समय के नाटकों और रंगशालाओं से सुतरां भिन्न प्रकार की है; इसी लिए इन नियमों के पालन की अब न तो आवश्यकता ही रह गई है और न इनका पालन आजकल संभव ही है। हाँ, हम मानते हैं कि नाटककार को अपनी रचना में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथा का निर्वाह आदि से अंत तक सुतरां समंजस हो, आदि से अंत तक उसकी एक ही मुख्य कथावस्तु और एक ही मुख्य सिद्धांत हो। कुछ गौण कथावस्तुएँ और सिद्धांत भी उसमें स्थान पा सकते हैं, पर उनका समावेश इस प्रकार संपन्न होना अभीष्ट है कि मूल कथावस्तु के साथ उनका अटूट संबंध स्थापित हो जाय और वे उससे उखड़े-पुखड़े न दीख पड़ें।

कालसंकलन

कालसंकलन का मौलिक आशय यह था कि जो कृत्य जितने समय में हुआ हो उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए। प्राचीन ग्रीक नाटक दिन-दिन और रात-रात भर होते रहते थे; फलतः ग्रीस के प्रख्यात तत्ववेत्ता अरस्तू ने यह नियम निर्धारित किया था कि एक दिन और रात; अर्थात् चौबीस घंटों में जो जो कृत्य हुए अथवा हो सकते हों, उन्हीं का समावेश एक अभिनय में होना चाहिए। पीछे से फ्रांस के प्रख्यात दुःखांत नाटककार कौर्नेय्य ने काल की इस अवधि को चौबीस घंटे से बढ़ा कर तीस घंटे कर

दिया। पर साधारणतः नाटक तीन चार घंटे में पूरे हो जाते हैं; फलतः यदि चौबीस अथवा तीस घंटों का काम तीन चार घंटों में पूरा हो सकता है तो फिर छः मास या वर्ष भर का अथवा उससे भी कहीं अधिक काल का काम उतने ही समय में क्यों नहीं समाप्त किया जा सकता। यदि कालसंकलन का यूनानी अथवा फ्रांसीसी आशय लिया जाय तो फिर आज-कल की दृष्टि से किसी अच्छे नाटक की सृष्टि हो ही नहीं सकती। हाँ, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया जाय कि उसके मध्य का अवकाश, चाहे वह थोड़ा हो अथवा बहुत, चाहे वह कतिपय मास का हो अथवा कई वर्षों का, प्रतीत न होवे, और प्रेक्षक गण एक दृश्य से दूसरे दृश्य में ऐसे सरकते जाँय, जैसे हम अनजाने दिन से रात में और रात से दिन में खिसक जाते हैं।

शकुंतला नाटक के पहले अंक में राजा दुष्यंत की शकुंतला के साथ भेंट होती है। तीसरे अंक में पहले उनका मिलाप होता है और पश्चात् दोनों का विछोह हो जाता है। इसके उपरांत बीच में जो समय बीतता है उस पर हमारा ध्यान नहीं जाता और सातवें अंक में दुष्यंत अपने कुमार सर्वदमन को सिंह के शावकों के साथ खेलता हुआ पाते हैं। कालसंकलन की ग्रीक अथवा फ्रांसीसी रीति से देखने पर शकुन्तला नाटक हास्यास्पद प्रतीत होगा; किन्तु कालसंकलन की भारतीय दृष्टि से वह अत्यन्त ही रमणीय संपन्न हुआ है। प्रेक्षकवर्ग जिस समय नाटक देखने बैठते हैं उस समय वे रस मग्न हो जाते हैं, और अभिनय से उत्पन्न होने वाले रस में निमग्न हो जाने पर उन्हें घटनाओं के बीच का समय प्रतीत ही नहीं होता, और कालिदास की अनूठी जादूगरी के द्वारा वे एक अंक से दूसरे अंक में और एक घटना से दूसरी घटना पर ऐसे आ विराजते हैं जैसे नदी में प्रवाहित होने वाले काष्ठफलक पर बैठा हुआ पक्षी नदी की लहरियों को देखता

कला की दृष्टि से कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न रहा हो, इसका उल्लंघन बाद के कलाकारों ने पालन नहीं किया और शेक्सपीयर जैसे अंग्रेजों ने तो इस पर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया। उनके नाटकों में से प्रायः सभी में अनेक स्थानों और अनेक कालों की घटनाएँ आ जाती हैं। प्राचीन काल के ग्रीक नाटक अपेक्षाकृत छोटे होते थे और उनमें बहुधा तीन या पाँच पात्र हुआ करते थे। फलतः उन नाटकों में संकलन के उक्त नियमों का पालन सहजसाध्य था। किंतु वर्तमान काल के नाटकों और रंगशालाओं की व्यवस्था उस समय के नाटकों और रंगशालाओं से सुतरां भिन्न प्रकार की है; इसलिए इन नियमों के पालन की अब न तो आवश्यकता ही रह गई है और न इनका पालन यथावत् संभव ही है। हाँ, हम मानते हैं कि नाटककार को अपनी रचना में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथा का निर्वाह आदि से अंत तक सुतरां सुसंगत हो, आदि से अंत तक उसमें एक ही मुख्य कथावस्तु और एक ही मुख्य सिद्धांत हो। कुछ गौण कथाएँ और सिद्धांत भी उसमें स्थान पा सकते हैं, पर उनका समावेश इस प्रकार संपन्न होना अभीष्ट है कि मूल कथावस्तु के साथ उनका अटूट संबंध स्थापित हो जाय और वे उसमें उखड़े-पुखड़े न दीख पड़ें।

कालसंकलन

कालसंकलन का मौलिक आशय यह था कि जो कृत्य जितने समय में हुआ हो उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए। प्राचीन ग्रीक नाटक दिन-दिन और रात-रात भर होते रहते थे; फलतः ग्रीस के प्रख्यात तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने यह नियम निर्धारित किया था कि एक दिन और रात; अर्थात् चौबीस घंटों में जो जो कृत्य हुए अथवा हो सकते हों, उन्हीं का समावेश एक अभिनय में होना चाहिए। पीछे से फ्रांस के प्रख्यात दुःखांत नाटककार कौर्नेय्य ने काल की इस अवधि को चौबीस घंटे से बढ़ा कर तीस घंटे कर

दिया। पर साधारणतः नाटक तीन चार घंटे में पूरे हो जाते हैं; फलतः यदि चौबीस अथवा तीस घंटों का काम तीन चार घंटों में पूरा हो सकता है तो फिर छः मास या वर्ष भर का अथवा उससे भी कहीं अधिक काल का काम उतने ही समय में क्यों नहीं समाप्त किया जा सकता। यदि कालसंकलन का यूनानी अथवा फ्रांसीसी आशय लिया जाय तो फिर आज-कल की दृष्टि से किसी अच्छे नाटक की सृष्टि हो ही नहीं सकती। हाँ, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया जाय कि उसके मध्य का अवकाश, चाहे वह थोड़ा हो अथवा बहुत, चाहे वह कतिपय मास का हो अथवा कई वर्षों का, प्रतीत न होवे, और प्रेक्षक गण एक दृश्य से दूसरे दृश्य में ऐसे सरकते जाँय, जैसे हम अनजाने दिन से रात में और रात से दिन में खिसक जाते हैं।

शकुंतला नाटक के पहले अंक में राजा दुष्यंत की शकुंतला के साथ भेंट होती है। तीसरे अंक में पहले उनका मिलाप होता है और पश्चात् दोनों का विछोह हो जाता है। इसके उपरान्त बीच में जो समय बीतता है उस पर हमारा ध्यान नहीं जाता और सातवें अंक में दुष्यंत अपने कुमार सर्वदमन को सिंह के शावकों के साथ खेलता हुआ पाते हैं। कालसंकलन की ग्रीक अथवा फ्रांसीसी रीति से देखने पर शकुन्तला नाटक हास्यास्पद प्रतीत होगा; किन्तु कालसंकलन की भारतीय दृष्टि से वह अत्यन्त ही रमणीय संपन्न हुआ है। प्रेक्षकवर्ग जिस समय नाटक देखने बैठते हैं उस समय वे रस मग्न हो जाते हैं, और अभिनय से उत्पन्न होने वाले रस में निमग्न हो जाने पर उन्हें घटनाओं के बीच का समय प्रतीत ही नहीं होता, और कालिदास की अनूठी जादूगरी के द्वारा वे एक अंक से दूसरे अंक में और एक घटना से दूसरी घटना पर ऐसे जा विराजते हैं जैसे नदी में प्रवाहित होने वाले काष्ठफलक पर बैठा हुआ पक्षी नदी की लहरियों को देखता

हुआ, अनजाने, उसके एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर आ पहुँचता है।

स्थलसंकलन

स्थलसंकलन का प्राचीन आशय यह है कि नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए जो एक ही स्थान में, एक ही दृश्य में दिखलाई जा सके। अभिनय के बीच में रंगभूमि के दृश्य में इस नियम के अनुसार किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। यह व्यवस्था कला की दृष्टि से दूषित और साथ ही नाटक के तत्त्वों का ध्यान रखते हुए बहुत कुछ अस्वाभाविक भी थी। फलतः शेक्सपीयर जैसे प्रतिभाशाली नाट्यकारों ने जहाँ पहले संकलन का प्रत्याख्यान किया वहाँ इस पर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया। कहना न होगा कि भारतीय नाट्याचार्यों ने भी इस संकलन को नहीं अपनाया है।

उद्देश्य

उपन्यास की भाँति नाटक के उद्देश्य से भी हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। किन्तु जीवन की यह आलोचना उपन्यासों तथा नाटकों में भिन्न प्रकार से होती है। उपन्यासलेखक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से जीवन की व्याख्या करता है, पर नाटककार केवल प्रत्यक्ष रूप से ही यह काम कर सकता है। विद्वानों का कथन है कि, उपन्यास जीवन की सब से अधिक विस्तृत व्याख्या है। इसके विपरीत नाटक का क्षेत्र संकुचित है, क्योंकि इसमें नाटककार को अपनी ओर से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। इनके क्षेत्र के अनुसार उपन्यास जीवन का वैयक्तिक अंकन है, तो विपरीत नाटक को हम सैद्धान्तिक रूप से जीवन का सार्वभौम संदर्शन कह सकते हैं। फलतः जहाँ हम उपन्यास के क्षेत्र में का

के साथ उसके लेखक के आत्मीय विचारों को पहचान जाते हैं, वहाँ नाट्यक्षेत्र में उसके रचयिता के जीवनसंबंधी सिद्धान्तों को खोज निकालना हमारे लिए दुष्कर हो जाता है।

किंतु स्मरण रहे; नाटक की अवैयक्तिकता से हमारा आशय यह नहीं कि उसमें उसके लेखक के व्यक्तित्व का संसर्ग रहता ही नहीं; ऐसा होने पर तो हम नाटक को साहित्य ही नहीं कह सकते। उपन्यास के विपरीत नाटक के सुतरां विषय प्रधान होने पर भी उसका रचयिता नाटकीय बंधनों को तोड़ जहाँ तहाँ अपने पात्रों के मुँह से जीवन के विषय में अपने सिद्धान्त प्रेक्षकों को सुना ही देता है।

नाटक में उद्देश्य को प्रकट करने के भिन्न भिन्न उपाय

ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि ग्रीक करुणाजनक नाटकों में गायकगणों के मुँह से कही जाने वाली बातें बहुधा नाट्यरचयिता की अपनी होती थीं। उनमें उसके जीवनविषयक तत्त्वज्ञान का निष्कर्ष होता था। किन्तु आधुनिक नाटकों में गायकगणों के न रह जाने से नाटककार के हाथ में से अपने तत्त्वज्ञान को उद्घोषित करने का उक्त साधन छिन गया है, और उसे इस काम के लिए अपने पात्रों में से ऐसा पात्र छाँट लेना पड़ता है, जिसका कथावस्तु के साथ उतना अटूट सम्बन्ध नहीं होता, जितना अन्य पात्रों का होता है और जिसकी बातें बहुधा नाटक रचने वाले की अपनी बातें होती हैं। आधुनिक नाटकों में—जिसका प्रमुख लक्ष्य प्रेक्षकों के सम्मुख जीवन की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएं उपस्थित करना है—बहुधा एक पात्र ऐसा होता है, जो आदि से अंत तक सारे कथावस्तु में एक वैज्ञानिक दर्शक की भाँति उपस्थित रह कर, नाटककार की ओर से प्रेक्षकों को जीवन के सिद्धान्तों का संकेत कराता है। हाल के यूरोपियन नाटकों में तो यह पात्र इतना अधिक स्पष्ट

तथा सबल बन गया है कि फरांसीसियों की नाटकीय परिभाषा में उसका नाम ही तार्किक (raisonneur) पड़ गया है। किन्तु नाटकीय पात्रों में से इस तार्किक अथवा व्याख्याता को ठीक ठीक ढूंढ निकालना चतुरता का काम है, और बहुधा समालोचक किसी पात्र के मुँह से विशेष प्रकार की नात्विक बातें सुन कर उसे तार्किक समझने की भूल कर जाते हैं।

कहना न होगा कि चतुर नाटककार का कर्तव्य है कि वह अपने इस पात्र को कथावस्तु के साथ ऐसा संघटित कर दे कि वह नाटक में असंबद्ध व्यक्ति न प्रतीत होकर उसका एक अविभाज्य अंग बन जाए। ऐसा न होने पर नाटकीय दृष्टि से उस पर आक्षेप किया जा सकता है; और क्योंकि बहुधा नाटककारों को ऐसा करने में कठिनाई होती है इस लिए सिद्धान्त संकेतन के लिए इस उपाय का त्याग करके सामान्य पात्रों के मुँह से ही अपने सिद्धान्तों को संकेतित कराना नाट्यकार के लिए श्रेयस्कर होगा। किन्तु क्योंकि एक नाटक में अनेक पात्र होते हैं; उन सब के मुँह से निकली बातों को हम नाटककार की अपनी बातें नहीं कह सकते, इस लिए नाटककार के निजू सिद्धान्तों को खोजने के लिए सभी पात्रों के वार्तालाप को तुलनात्मक विवेचना करनी होगी और उसके उपरान्त नाटक का समष्टि के तत्त्व को ध्यान में रखते हुए उसके किसी विशेष पात्र के अथवा पात्रों के वार्तालाप में नाटककार के निजू सिद्धान्तों का उद्भावना करना होगी। एक बात और; रंगमंच पर जो सृष्टि दिखाई देती है, उसका स्रष्टा नाटककार ही है; फलतः उसकी रचना में उसके भावों, विचारों तथा सिद्धान्त आदि का समा जाना अनिवार्य तथा स्वाभाविक है। उसकी रची हुई साहित्य सृष्टि से हमें इस बात का भान हो जाना चाहिए कि वह इस संसार को किस दृष्टि से देखता है, वह उसका क्या आशय समझता है, वह उस किन नैतिक आदर्शों को महत्त्वशाली समझता है। जीवन का जो उ

उसे दीखता है, उसे ही वह प्रेक्षकों के संमुख उपस्थित करता है। फलतः किसी नाटक की अशेष घटना को देख कर हम सहज ही इस बात का निर्धारण कर सकते हैं कि जीवन के विषय में उसके रचयिता के क्या सिद्धान्त हैं। इस प्रसंग में बाबू श्यामसुन्दरदास ने अंगरेज़ी के प्रख्यात कवि शेले का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो संबंध है, वह नाटक में सब से अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि जो समाज जितना ही उन्नत होता है, उसकी रंगशाला भी उतनी ही उन्नत होती है। यदि किसी देश में किसी समय बहुत ही उच्च कोटि के नाटक रहे हों और पीछे से उन नाटकों का अन्त हो गया हो, अथवा उनमें कुछ दोष आ गए हों, तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस देश का उस समय का नैतिक पतन है।

कालिदास का नाटकीय आदर्श

कहना न होगा कि जिस प्रकार भद्र नाटक किसी देश की भव्य भावनाओं के द्योतक हैं उसी प्रकार कुत्सित नाटक उस देश के नैतिक पतन के व्यापक हैं। इस दृष्टि से जब हम कालिदास-रचित शकुन्तला नाटक पर विचार करते हैं तब हमें उस नाटक में वे सभी ऋजु भाव मूक मुद्रा में पंक्तिबद्ध हुए खड़े दीखते हैं, जो इस देश की अनादि काल से विभूति रहते आए हैं। कविवर रवींद्र के शब्दों में इस नाटक में एक गम्भीर परिणति का भाव परिपक्व होता है। वह परिणति फूल से फल में, मर्त्य से स्वर्ग में, और स्वभाव से धर्म में संपन्न हुई है। मेघदूत में जैसे पूर्वमेघ और उत्तरमेघ है, अर्थात् पूर्वमेघ में पृथ्वी के विचित्र सौन्दर्य का पर्यटन करके उत्तरमेघ में अलकापुरी के नित्य सौंदर्य में उत्तीर्ण होना होता है, वैसे ही शकुन्तला में एक पूर्वमिलन और दूसरा उत्तरमिलन

है। प्रथम अंक के उस मर्त्यलोक-सम्बन्धी चंचल सौंदर्यमय तथा अनूठे पूर्वमिलन से स्वर्ग के तपोवन में शाश्वत तथा आनन्दमय उत्तरमिलन की यात्रा ही शकुन्तला नाटक का सार है। यह केवल विशेषतः किसी भाव की अवतारणा नहीं है, और न विशेषतः किसी चरित्र का विकास ही है; वह तो सारे काव्य को एक लोक से अन्य लोक में ले जाना और प्रेम को स्वभावसौंदर्य के देश से मंगलसौंदर्य के अक्षय स्वर्गधाम में उत्तीर्ण कर देना है।

स्वर्ग और मर्त्य का यह जो मिलन है, इसे ही कालिदास ने अपने नाटक में प्रदर्शित किया है। उन्होंने फूल को इस सहज भाव से फल में परिणत कर दिया है, मर्त्य की सीमा को उन्होंने इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का व्यवहार किसी को दृष्टिगोचर ही नहीं होता।

कालिदास ने अपनी आश्रमपालिता नवयौवनशालिनी शकुंतला को सरलता तथा मधुरता का निदर्शन बनाते हुए उसे संशयशून्य स्वभाव से भूषित किया है। अंत तक उसके इस स्वभाव में बाधा नहीं पहुँचाई। फिर इसी शकुंतला को अन्यत्र शांत प्रकृति दुःखवहनशील, नियमचारिणी, और सतीधर्म की आदर्शरूपिणी बना कर चित्रित किया है। एक ओर तो वह तरुलताफलपुष्प की भाँति आत्मविस्मारक स्वभावधर्म के अनुगत दिखलाई पड़ती है और दूसरी ओर एकात्र तपःपरायण और कल्याण धर्म के शासन में एकांत भाव से नियंत्रित चित्रित की गई है। कालिदास ने अपने विचित्र रचनाकौशल से अपनी नायिका को लीला और धैर्य, स्वभाव और नियम तथा नदी और समुद्र के ठीक संगम पर खड़ा कर दिया है।

नाटक के आरंभ में ही हम शकुंतला को एक निष्कलंक सौंदर्यलोक में विहरती देखते हैं। वहाँ का अशेष वातावरण उसकी मधुर भावनाओं से आप्लावित हुआ दीख पड़ता है। उस तपोवन में वह आनंद के साथ

अपनी सखियों तथा तरुलताओं से हिली-जुली दीख पड़ती है। उस स्वर्ग में छिपे-छिपे पाप ने प्रवेश किया और वह स्वर्ग-सौंदर्य कीटदष्ट कुसुम की भाँति विशीर्ण और ध्वस्त हो गया। इसके अनंतर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद और अनुताप हुए; और सब के अवसान में विशुद्धतर, उन्नततर स्वर्गलोक में क्षमा, प्रीति और शांति दिखलाई पड़ने लगी। कविवर रवींद्र के शब्दों में शकुंतला का सार यही है और यही है भारतीय जीवन का चरम आदर्श। इस आदर्श की उत्थानिका जितनी रुचिकर कालिदास के शकुंतला नाटक में परिनिष्ठित हुई है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं।

दूसरी ओर यूरोप के सर्वोत्तम नाटककार शेक्सपीअर ने अपने टेम्पेस्ट नाटक में मनुष्य का प्रकृति के साथ, और मनुष्य का मनुष्य के साथ विरोध प्रदर्शित किया है। इस नाटक में उनके अन्य नाटकों की नाई आद्यंत विक्षोभ ही विक्षोभ लहर मार रहा है। मनुष्य की दुर्दम प्रवृत्तियाँ उसके जीवन में ऐसा ही विरोध खड़ा कर दिया करती हैं। शासन, दमन और पीड़न से इन प्रवृत्तियों को हिंस्र पशुओं की नाई संयत करके रखना पड़ता है। किंतु स्मरण रहे, इस प्रकार बल से इन प्रवृत्तियों को दबा देने पर, किंचित् काल के लिए उनका उत्पीडन हो जाता है; समय पाकर वे फिर उठ खड़ी होती हैं और फिर से मनुष्य के जीवन में विक्षोभ का तांडव उत्पन्न कर देती हैं। भारतीय आध्यात्मिक जगत् ने इस प्रकार के उत्पीडन को परिणाम नहीं समझा है। सौंदर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एक दम समूल नष्ट कर देना ही भारतीयों की दृष्टि में सच्ची परिणति समझी जाती रही है। इस परिणति का व्याख्यान करने वाला साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है, और उसी व्याख्यान में कविता के समान नाटक की भी परिनिष्ठा होनी वांछनीय है। इस प्रकार का साहित्य श्रेय को प्रिय और पुण्य को हृदय की संपत्ति बना

शेक्सपीअर का नाटकीय आदर्श

अपनी सखियों तथा लतिकाओं से हिली-मिली दीख पड़ती है। उस स्वर्ग में छिपे-छिपे पाप ने प्रवेश किया और वह स्वर्ग-सौंदर्य कीटदष्ट कुसुम की भाँति विशीर्ण और स्रस्त हो गया। इसके अनंतर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद और अनुताप हुए; और सब के अवसान में विशुद्धतर, उन्नततर स्वर्गलोक में क्षमा, प्रीति और शांति दिखलाई पड़ने लगी। कविवर रवींद्र के शब्दों में शकुंतला का सार यही है और यही है भारतीय जीवन का चरम आदर्श। इस आदर्श की उत्पानिका जितनी रुचिकर कालिदास के शकुंतला नाटक में परिनिष्ठित हुई है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं।

शेक्सपीअर का नाटकीय आदर्श

दूसरी ओर यूरोप के सर्वोत्तम नाटककार शेक्सपीअर ने अपने टेम्पेस्ट नाटक में मनुष्य का प्रकृति के साथ, और मनुष्य का मनुष्य के साथ विरोध प्रदर्शित किया है। इस नाटक में उनके अन्य नाटकों की नाईं आद्यंत विक्षोभ ही विक्षोभ लहर मार रहा है। मनुष्य की दुर्दम प्रवृत्तियाँ उसके जीवन में ऐसा ही विरोध खड़ा कर दिया करती हैं। शासन, दमन और पीड़न से इन प्रवृत्तियों को हिंस्र पशुओं की नाईं संयत करके रखना पड़ता है। किंतु स्मरण रहे, इस प्रकार बल से इन प्रवृत्तियों को दबा देने पर, किंचित् काल के लिए उनका उत्पीडन हो जाता है; समय पाकर वे फिर उठ खड़ी होती हैं और फिर से मनुष्य के जीवन में विक्षोभ का तांडव उत्पन्न कर देती हैं। भारतीय आध्यात्मिक जगत् ने इस प्रकार के उत्पीडन को परिणाम नहीं समझा है। सौंदर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एक दम समूल नष्ट कर देना ही भारतीयों की दृष्टि में सच्ची परिणति समझी जाती रही है। इस परिणति का व्याख्यान करने वाला साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है, और उसी व्याख्यान में कविता के समान नाटक की भी परिनिष्ठा होनी वांछनीय है। इस प्रकार का साहित्य श्रेय को प्रिय और पुण्य को हृदय की संपत्ति बना

कर जनता के संमुख उपस्थित करता है। यह अंतरात्मा के मंगलमय आंतरि
पथ का अवलंबन करके उसके मल को उसी के आँसुओं में धोया करता है
और इसी तत्त्व का चिंतन करते हुए कालिदास ने शेक्सपीअर की भाँति ब
को बल से, आग को आग से न शांत कर अपने नाटक में दुरंत प्रवृत्ति के
दावानल को अनुतप्त हृदय के अश्रुवर्षण से शांत किया है।

जीवनव्याख्या के इसी आदर्श को ध्यान में रख कर हमारे आचार्यों ने
कहा है कि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही नाटकीय कथावस्तु के फल
अथवा कार्य हैं, अर्थात् नाटकों में इन तीनों अथवा इनमें से किसी एक की
निष्पत्ति होना आवश्यक है। जिस नाटक में इनमें से किसी एक तत्त्व की भी
प्राप्ति न होती हो वह नाटक सचमुच निरर्थक है।

कमेडी और ट्रैजेडी

सुखांत नाटक

होरेस वेल पोल के अनुसार जीवन सुखांत है उन लोगों के लिए जो विचारशील हैं; और करुणरसजनक है उनके लिए जो अनुभवशील हैं। इस कथन के अनुसार हम क सकते हैं कि करुणरसजनक नाटक हमारे मनोवेगों क अपील करते हैं और सुखांत नाटक हमारे मस्तिष्क को।

इसी तत्त्व को मेरेडिथ ने अपने प्रख्यात निबंध कमेडी का आधार बनाया और इसी के आधार पर उन्होंने सुखांत नाटक का लक्षण विचारपूर्ण हास्य करते हुए इसे जीवन अनुभवों के लिए सामान्य ज्ञान (commonsense) का मापदंड बताया।

किंतु ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि सुखांत नाटक का उक्त लक्षण दोषयुक्त है। प्रकार अथवा आचारविषयक अनेक सुखांत नाटकों में—जैसे कि दि स्कूल फॉर स्कैंडल—केवल मस्तिष्क का व्यापार न रह कर बौद्धिक

तथा मनोवेगीय तत्वों का संकलन दृष्टिगत होता है; और जब हम सुखां
नाटक के उक्त लक्षण को शेक्सपीअर के सुखांत नाटकों पर घटाते हैं तब
वह उन पर किसी प्रकार घटता ही नहीं है।

शेक्सपीअर को किसी के भी अपावरण (exposure) में प्रसन्नता न
होती थी। उन्होंने अपने समय के किसी भी एक विचार, चारित्रिक मापदं
अथवा रीतिरिवाज की समालोचना नहीं की। शठों तथा मूर्खों के प्रति हृद
की वह कठोरता, जो कि प्रकार अथवा आचार-संबंधी सुखांत नाटकों
मेरुदंड है, शेक्सपीअर में ढूँढे नहीं मिलती।

हैज़लिट के शब्दों में शेक्सपीअर के उपहास में दुष्ट स्वभाव के डंक
अभाव है। उसकी सुखांत प्रतिभा इस काम से बहुत ऊपर है; उसने अप
प्रतिभा के द्वारा मूर्खता, आत्मवंचना, शठता और एंग्नुता आदि भावों
क्लेशावहता न दिखा उस के द्वारा दुर्भाग्य और अन्याय के वशीभूत हु
प्राणियों का सुख में अवसान दिखाया है।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि सुखांत नाटकों का अपना जग
पृथक् ही होता है, और उस जगत् के अपने अलग ही नियम होते हैं। व
के व्यवहार को हम वास्तविक जीवन के मापदंड से नहीं नाप सकते औ
जब हम इस दृष्टि से शेक्सपीअर के सुखांत नाटकों का अनुशीलन करते
तब हमें ज्ञात होता है कि उनके सौंदर्य का सार वातावरण तथा चित्तवृत्ति
है, जिसमें कि कवि ने उनका निर्माण किया है। अनुपपन्न परिस्थितियों से
भरे पड़े हैं, किसी न किसी प्रकार उन्हें सभी के लिए सुखांत बनाया गया
कथोपकथन उनका बहुधा नीरस तथा फीका है; यथार्थवाद के सभी मापदं
का उनमें कवि ने प्रत्याख्यान कर दिया है; इनके मिडसमर नाइट्स ड्रीम
सामान्य ज्ञान की जगह जगह धता बताई गई है, लड़के के वेष में फिर
वाली रोज़ालिंड का ओर्लेंडो तथा उसके पिता के द्वारा न पहचाना जा

इस बात का पर्याप्त निदर्शन है। किंतु ज्यों ही हम अपनी अविश्वासवृत्ति को त्याग, कवीय श्रद्धा से अनुप्राणित हो, इनके रचे मायारूप जगत् में पैठते हैं, त्यों ही हमें इनका रचा जगत् वास्तविक जीवन का अनुकरण करने वाले सुखांत नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक मंगलमय तथा वैभवसंपन्न दृष्टिगोचर होने लगता है। यहाँ पहुँच हमारे मन में एक प्रकार की श्रद्धा अंकुरित हो जाती है और हम समझने लगते हैं कि वह सभी भद्र है जहाँ हमें यौवन ले जाता है, जिधर हमें मूर्खता अग्रसर करती है। मनोज्ञता और आध्यात्मिकता से समुपेत, उदीयमान प्रेम और अनुपरक्तताओं की मर्मज्ञता से संपन्न, मानवीयता तथा प्रकृति के भीतर संनिहित सभी प्रसन्न, मधुर, तथा मंजुल तत्वों के प्रति एक प्रकार के प्रेम से समुल्लसित, सभी प्रकार के निरे-पगे, उखड़े-पुखड़े आचार की विचित्रताओं से चर्चित, उपहास की उत्कृष्ट भावना से आप्लावित और सभी प्रकार की मूर्खता के वैचित्र्य से अर्चित ये सुखांत नाटक कुछ अनूठे ही, किसी और ही जगत् के, किसी अन्य ही प्रकार के मनुष्यों से बसे हुए दीख पड़ते हैं। और अंत में शेक्सपीयर ने अपने अंतिम सुखांत नाटकों में इस जगत् में वास्तविक मानवीय असद्रता तथा द्विष्टता का प्रवेश किया है।

फलतः यह कहना कि सुखांत नाटक की अपील मस्तिष्क के प्रति और करुणरसजनक नाटक की अपील मनोवेगों के प्रति होती है, दोषयुक्त ठहरता है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि करुणरसजनक नाटक वे हैं, जिनमें नायक का निधन दर्शाया गया हो और सुखांत नाटक वे हैं, जिनमें ऐसा न होता हो तब हमें ऐसा मानना पड़ेगा कि दि ब्रौ सिरेनं, ऑरेरम, दि सिल्वर बॉक्स सुखांत नाटक हैं और वास्तवं डाइसेमा करुणजनक नाटक है, जब कि वास्तव में ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत यदि हम कहें कि मानवीय प्रसन्नता की कहानियाँ सुखांत नाटक हैं,

और उसके क्लेश की, कहानियाँ करुणरसजनक हैं तब हमें रोमिओ एंड जूलियट तथा उत्तररामचरित को करुणरसजनक नाटक और वोल्पोन को सुखांत नाटक मानना पड़ेगा, जब कि बात वास्तव में इसके सुतरां विपरीत है।

किंतु यह सब कुछ कह चुकने पर भी यह सभी को मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर; एक दूसरे से भिन्न प्रकार के होने पर भी ओथेलो, दि थ्री सिस्टर्स, योरदूस, तथा जस्टिस नाम के नाटकों में एक प्रकार आंतरिक समानता है; उसी प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर एक दूसरे से भिन्न प्रकार के होने पर भी शकुंतला, उत्तररामचरित, एज़ यू लाइक इट, वोल्पोन, दि कंट्री वाइफ, तथा मैन एंड सुपरमैन नाम के नाटकों में एक प्रकार की आंशिक समीपता है।

इस समानता का आश्रय इन नाटकों की कथनीय वस्तु नहीं है। एक ईर्ष्यालु पति, जो ओथेलो में करुणरसजनक नाटक का आधार बनता है, वही दि कंट्री वाइफ में सुखांत नाटक की कथावस्तु बन जाता है। शेक्सपीअर के एक नाटक में क्लियोपैट्रा करुणरसजनक सम्पन्न हुई है तो शॉ ने उसी को अपनी सुखांत रचना का विषय बनाया है। यह समानता इन नाटकों के पीछे काम करने वाले व्यक्तियों की समानता भी नहीं है और नहीं है वह उनके माध्यम के पारिभाषिक उपयोग की। और इस प्रकार अंत में यह समानता एकमात्र इन नाटकों के द्वारा प्रेक्षक अथवा पाठकवर्ग पर पड़ने वाले प्रभाव की ही ठहरती है। आइये, अब देखें कि वह प्रभाव कौनसा और किस प्रकार का है।

और इस अवस्थान पर आकर हमें करुणरसजनक तथा सुखांत नाटकों के प्रभाव में एक प्रकार का मौलिक प्रातीप्य दीख पड़ेगा। सुखांत नाटक का सार एक विशेष प्रकार की मनोवेगीय प्रतिक्रिया में है, तो करुण-

रसजनक का सार उससे दूसरे प्रकार की मनोवेगीय प्रतिक्रिया में ये प्रतीपी प्रभाव अथवा परिणाम मनोविज्ञान से संबंध रखते हैं। मानवीय चेतना के विषय में हमारा इतना ज्ञान नहीं है कि हम इस बात की गवेषणा कर सकें कि वह कौन सी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा इन परिणामों की उत्पत्ति होती है; संभवतः साहित्यिक रचना के लिए इन बातों की खोज में जाना उचित भी नहीं है। ऐसी दशा में हमारा कर्तव्य नाटकों के उक्त दो प्रकार के प्रभावों के मूल में न जाकर एकमात्र उन प्रभावों की विवेचना करना और यह देखना रह जाता है कि साहित्यिक कला से उनकी उत्पत्ति कैसे होती है।

और यहाँ हम इस समस्या के अनपेक्षित विस्तार में न फँस इतना ही कहेंगे कि नाटकीय समस्याओं के मनोवेगीय दिग्दर्शकत्व सुखांत नाटक में की विभिन्नता—जो ट्रैजेडी और कमेडी से उद्भूत होने मुक्ति की अनुभूति वाली अनुभूति की अतुल अवच्छेदक है—एकमात्र सुख या दुःख का, अथवा रात्रि के समय होने वाले भय और प्रातःकाल के साथ आने वाले आनंद का ही विभेद नहीं है, किंतु वह इनसे एक पग और आगे बढ़ नाटक के अंत में उद्भूत होने वाले मनोवेगीय मूल्यों (emotional values) से भी संबंध रखती है, और हम कह सकते हैं कि सुखांत नाटक का संबंध सामयिक मूल्यों से है, तो करुणरसजनक नाटक का संबंध शाश्वत मूल्यों से है। सुखांत नाटक में व्यक्ति का समाज के साथ और समाज का व्यक्ति के साथ जो संबंध है, उसका प्रदर्शन होता है। और उसका चरम मापदंड सदा से सामाजिक ...त नाटक के अवसान का संबंध अनिवार्यरूपेण उस वृत्ति से है, जिसमें कि सामान्य जीवन को अंतिम वह मापदंड अमूर्त न्याय से नहीं, अपितु इस जन्तु के

स्थूल मनोवेगीय तथा चारित्रिक निर्णयों से है। और जिस प्रकार चरित्र के क्षेत्र में, उसी प्रकार मनोवेगों की परिधि में सुखांत नाटक के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया में द्रष्टा को जीवन में दीख पड़ने वाले खिचाव तथा तनाव से मुक्ति प्राप्त होती है, उसके मनोवेगों का भार ढीला पड़ता है और वह खोटे भाग्य की चपेटों से बच कर शांति की ओर अग्रसर होता है। और यही कारण है कि सुखांत नाटक में अनिवार्यरूप से उपहास का अंश विद्यमान रहता है। सभी जानते हैं कि उपहास एक सामाजिक वस्तु है और मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसके पीछे मुक्ति अथवा सुस्पता की भावना बनी रहती है। सुखांत रचना में उपहास के इस तत्त्व को मुखरित होने का वह अवसर मिल जाता है, जो वास्तविक जीवन में दुष्प्राप्य है; क्योंकि कला के क्षेत्र में हमारे क्रियाकलाप और हमारी वृत्तियाँ, वास्तविक जीवन में अनिवार्यरूपेण उनसे उद्भूत होने वाले गंभीर परिणामों से पृथक हो जाने के कारण, उपहासास्पद बन जाती हैं, और इसी लिए वे उस नाटकीय आनंद का विषय बन सकती हैं जिससे वे यथार्थ जीवन में वंचित रहा करती हैं। फाल्स्टाफ का भद्दा मोटापन, उसकी शराब पीने और बात बात में झूठ बोलने की टेव, उसकी पद पद पर धोखा देने की आदत, और उसकी अन्य बहुत सी बेतुकी बातों का यथार्थ जीवन में प्रेक्षकों तथा श्रोताओं पर ऐसा कुरुचिजनक प्रभाव पड़ेगा कि उन्हें सुनकर वे उस पर थू-थू करने लगेंगे, किंतु फाल्स्टाफ की उन्हीं बातों के सुखांत नाटक की परिधि में प्रविष्ट हो जाने पर हम वास्तविक जीवन से नाटकीय जीवन में सरक जाते हैं, और फाल्स्टाफ के साथ तदात्म हो हम उसी स्वतंत्रता तथा मुक्ति का अनुभव करने लगते हैं, जो अपने शरीर और चरित्र की बेतुकी बातों के द्वारा इनके नियमित संस्थान की कठोरता से दूर भाग कर फाल्स्टाफ ने अनुभव की थी।

किन्तु इन सब बातों का यह आशय कदापि नहीं है कि एक सुखान्त नाटक में उपहास के अंश का होना अनिवार्य है। उपहास के प्रभाव में भी इस कोटि के नाटक को देख कर हमारे मन में एक प्रकार का संतोष तथा आनन्द उत्पन्न हो सकता है और सच पूछो तो, उच्च कोटि के सुखान्त नाटकों में हम साधारणतः कदाचित् ही हँसते होंगे। इसके द्वारा हमारे मन में विविध प्रकार की वृत्तियाँ उदय हो सकती हैं; क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं के समान सुखान्त नाटक भी अपने रचयिता की प्रतिमूर्ति है; और स्वभावतः सुखान्त नाटकों में उत्पन्न होने वाले स्वाद भी इतने ही होंगे, जितने कि इन नाटकों के रचने वाले कलाकार। किन्तु इस कोटि के नाटक में उत्पन्न होने वाला प्रभाव, चाहे ऐसा सरल हो जैसे कि यू नेवर कैन टेल का, अथवा इतना संकुल जैसा कि शकुन्तला अथवा टेम्पेस्ट का, दोनों ही प्रकार के प्रभावों में; उनसे उत्पन्न होने वाली मनोवैज्ञानिक तथा बौद्धिक प्रतिक्रिया में एक प्रकार की मुक्ति तथा संतोष का अंश विद्यमान रहता है। यदि एक सुखान्त नाटक को देख हमारे मन में मुक्ति की यह भावना न जगी, यदि उसने हमारे मन में मनोवेगों का तं तहलका मचा दिया किन्तु उनको एक लय का रूप दे मनस्तुष्टि की चरम स्थान में संकलित न किया तो समझो सुखान्त नाटक की दृष्टि से वह नाटक कोरा गया। और परिणाम में होने वाली इस एकतानता की दृष्टि से देखने पर शेक्सपीअर का सुखान्त नाटक मर्चेंट ऑफ वेनिस दोषपूर्ण ठहरता है, क्योंकि आधुनिक प्रेक्षकों के हृदय में इस नाटक का अवसान होने पर भी शायलाक का चरित्र तीर की भाँति गड़ा रहता है; और यही बात शेक्स-पीअर के मच ऐडो अबाउट नथिंग के विषय में दुहराई जा सकती है; क्योंकि वहाँ भी नायक की कठोर यातनाएँ, नाटक का अवसान हो चुकने पर भी, प्रेक्षकों को गाँस की नाईं सालती रहती हैं। सुखान्त नाटक की

चरम परिनिष्ठा कालिदास के शकुन्तला नाटक में संपन्न हुई है, जहाँ आदर्शभरित जीवनसरिता के तलपृष्ठ पर उतराने वाले अशेष बुद्बुदों का, अन्त में, उसी सरिता में, अवसान हो गया है और शकुन्तला अपने पथ के सब कंटकों का अपसारण कर अन्त में अपने इष्ट देव के साथ एक हो गई है।

ट्रैजेडी

और यह तथ्य, जिसके कारण कि मर्चेंट ऑफ वेनिस तथा मच एडो अबाउट नथिंग नामक नाटकों में क्लेश सुख में पर्यवसित न हो अन्त तक प्रेक्षकों के मन को सालता रहता है, करुणरसजनक नाटकों का मौलिक आधार है। ट्रैजेडी और कमेडी में प्रमुख भेद यही है कि ट्रैजेडी में हमें अपनी उस मनोवृत्ति का; जिसके द्वारा कि हम इस जीवन को बुद्धिगम्य समझते हैं, परित्याग कर देना पड़ता है। हमें इसे, जैसा यह हमारे सम्मुख प्रपंचित रहता है, उसी रूप में मान लेना पड़ता है; और एकतालता—यदि ट्रैजेडी की परिधि में इसकी संभावना है भी तो—दृश्यमान जगत के मूल्यों में उद्भूत न हो उस पार के जगत् के मूल्यों में दीख पड़ती है।

अरिस्टोटल के कथनानुसार ट्रैजेडी के रस करुण तथा भय होते हैं। करुणरसजनक नाटक का विषय निसर्गतः भद्र पुरुष को अभ्युदय से गिरा कर अवनति के गर्त में धकेलना नहीं होना चाहिए; क्योंकि इससे प्रेक्षकों का, उद्वेग के मारे हक्के-बक्के रह जाने का भय है। ट्रैजेडी का नायक ऐसे मनुष्य को बनाना उचित है जो सर्वांशेन भद्र न हो, और जो पतन के गर्त में अपनी नैसर्गिक नीचता से नहीं, अपितु अपने किसी प्रमाद अथवा निर्बलता के कारण गिर पड़ा हो।

किन्तु जब हम ध्यानपूर्वक उक्त कथन की परीक्षा करते हैं तब हमें ज्ञात

होता है कि ट्रैजेडी के देखने पर हमारे मन में एक मात्र करुणा तथा संत्रास के भाव न उत्पन्न हो कभी कभी साध्वस, विषाद, अमर्ष तथा क्रान्ति के भाव भी भर जाते हैं। क्या हम कह सकते हैं कि बड़ी से बड़ी ट्रैजेडी को देख कर भी हमारे मन में इन भावनाओं का उदय नहीं होता? क्या ओथेलो को देख कर हमारे मन में अमर्ष, दि ट्रोजान वोमेन को देख कर क्रान्ति, और घोस्ट को देख कर उग्र विषाद नहीं उत्पन्न होता?

ट्रैजेडी में मानवीय वेदना

अब यदि सिद्धान्तवाद के झमेले को छोड़ हम ट्रैजेडी में किसी ऐसे तत्त्व की खोज करें जो समान रूप से सभी करुणरसजनक नाटकों में संनिहित रहता हो तो वह हमें मानवीय संताप अथवा वेदना में मिल जाता है। कहना न होगा कि करुणरसजनक नाटक का रचयिता मानवसमाज को रहस्यमय अदृष्ट की चपेटों में परिविष्ट हुआ पाता है; वह उसे दुर्दम दैव से दलित, दैवी घटनाओं से परिहसित, परिस्थितियों का दास, और कठोरता, अन्याय, तथा उत्पीड़न का उत्पात बना हुआ देखता है। नियतियन्त्री के इस निरुद्देश्य नृत्य को वह कभी उन परंपरागत दैवोपाख्यानों में प्रतिफलित हुआ देखता है; जिनका जगत् देवताओं तथा धीरोदात्त नायकों से बसा हुआ है; जिसमें बदले वाले आगामेम्नन ने इफिजेनिया को अंधविश्वास की बलिवेदी पर चढ़ा दिया था; इफिजेनिया की माता ने उसके पति की हत्या करके उसका बदला लिया था; उसके पुत्र ओरेस्टिस ने अपने पिता की मृत्यु का बदला अपनी माता तथा उसके प्रेमी को मार कर लिया; और अन्त में देवताओं ने अपना बदला उससे लिया। नियतियन्त्री के इसी निरुद्देश्य ताँडव को वह उस आर्थर राजा की जीवनकथा में घटित होता देख सकता है, जो अपने राज्य को अपनी पुत्रियों में—उनके

चोट देता है; अथवा उस पुरुष और उसकी पत्नी की कहानी में देख सकता है, जो अपनी उच्चपदाभिलाषा से प्रेरित हो परघात करने को उद्यत होते हैं, किन्तु अपनी भीरुता के कारण उस पाप से दूर रह जाते हैं। इस नृत्य को वह ऐंटनी और क्रियोपेट्रा तथा जॉन ऑफ आर्क आदि ऐतिहासिक नायकनायिकाओं के जीवन में घटता देख सकता है; वह इसी अनिरुद्ध पादप्रहार को बड़े से बड़े और छोटे से छोटे मनुष्य के जीवन में ध्वनित होता देख सकता है।

मानवयन्त्रणा के इस दृश्य से, चाहे यह किसी भी रूप में और समाज की किसी भी श्रेणी में क्यों न हो—मानवजीवन के प्रति यह दैवदुर्नियोग लक्षित होता है, जो नाटकीय कला का सार है।

कहना न होगा कि नाटक में अभिनीत की जाने वाली मानवीय यन्त्रणा में किसी सीमा तक स्वय नायक और नायिका का अपना हाथ होता है; और उस दैवदुर्नियोग को, जिसमें कि वे फँसते हैं, वे स्वय अपने हाथों अप्रत्यक्ष रूप से आमन्त्रित करते हैं; और उनके इस प्रकार अनजाने अपनी मौत अपने आप बुलाने में ही ट्रैजेडी का चरम सार है।

ट्रैजेडी की मानव-वेदना में भाग्य का हाथ

करुणरसजनक नाटक में जहाँ उसके नायकनायिका अनजाने अपनी मौत आप बुलाते हैं, वहाँ साथ ही उनके क्रियाकलाप की प्रसूति में भाग्य के प्रतिनिवेश का भी बड़ा हाथ रहता है; और सभी जानते हैं कि भाग्यचक्र मनुष्य के हाथ से बाहर की वस्तु है, स्वयं विधाता भी इसमें फँसा हुआ सृष्टि के अविराम यातायात को चला रहा है। और जब कि हम सुखान्त नाटक में होने वाले परिणाम की नीतिपरता अथवा औचित्य को इसी जीवन में प्रत्यक्ष हुआ

पाते हैं, करुणरसजनक नाटक के परिणाम की नैतिमत्ता अथवा औचित्य को हम इस जगत् के मापदंड से नहीं नाप सकते; क्योंकि हम देखते हैं कि ओथेलो एक वदान्य तथा भव्य व्यक्ति था, और इयागो आमूलचूल पैशाचिकता में पगा हुआ नरपिशाच; अन्त दोनों का फिर भी एक समान था, मरे दोनों थे, और दोनों ही क्लेश और यातना के प्रचंड प्रवाह में। डेस्डिमोना, कार्डेलिया और ओफेलिया, जो फूलों पर पली थीं और फूलों से फलों में परिणत हुई थीं, भी अन्त में उसी प्रकार मृत्यु का ग्रास बनती हैं, जिस प्रकार कि नारकीय मंथरा और उसी कोटि की अन्य नागिनियाँ। इन परिणामों को हम भौतिक जीवन के सामाजिक मूल्यों से नहीं आंक सकते, यहाँ तो हमें 'बस भाग्य में यही बदा था" यह कह कर मौन हो जाना पड़ता है।

कहना न होगा कि करुणरसजनक नाटकों की बहुसंख्या में किसी प्रकार का मनोवेगीय एकलयता नहीं संपन्न होती। इसमें संदेह नहीं कि कर रसजनक नाटकों के अभिनय से एक प्रकार का आंतरिक आनंद उत होता है, किन्तु वह आनंद मानवीय यातना की कथा से नहीं, अपितु उ कथा को कहने के चामत्कारिक ढंग से, उस कथा के रचयिता की अनु कलावत्ता से प्राप्त होता है; यह आनंद है परिणाम उस समर्थ साहित्यि संयोजना का जिसके द्वारा कि एक परिनिष्ठित कलाकार ऐसा की भावन का, और नाटकीय संघर्ष की प्रमुखता तथा गहनता का परिपाक किया जाता है। प्रत्येक नाटक के अवसान में हमारे मन में एक परिपूर्ण, संतोषजनक, समृद्ध अनुभूति का उदय होता है। हम अनुभव करते हैं कि ट्रैजेडी का चक्र जितना चाहिए था उतना घूम चुका है, उसके परिणाम की ...

प्रकार की यह इतिश्री हो चुकी है जिसे हम नाटक के अवसान में रंगभूमि को छोड़ते समय यह कह कर व्यक्त किया करते हैं कि "ओह! क्या ही अच्छा नाटक था! उस कवि ने तो बस जीवन के चित्रण में लेखनी ही तोड़ दी!!" किंतु ध्यान रहे, यह आनंद, जिसका प्रकाशन हम उक्त शब्दों में किया करते हैं, बहुधा नाटक के रूप से, ट्रैजेडी की नाटकीयता से संबंध रखता है; इसकी प्रसूति नाटक में दीखने वाली मानवीय यंत्रणा के दर्शन से नहीं हुई है। इसे देख कर तो बहुधा हमारा मन मुरझाया ही रहता है और यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो व्यक्ति नाटकीय कला के अवबोध से वंचित हैं, वे इस कोटि के नाटकों को देख अंत में खिन्न ही हुआ करते हैं और कहा करते हैं कि क्या ही अच्छा होता यदि हम इस नाटक को देखने ही न जाते। वास्तविक जीवन के चित्रण के रूप में देखने पर ये नाटक हमारे मन में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न कर देते हैं; हम इनके भीतर नायक और नायिका की चरित्र की दृष्टि से उनके निष्पाप होने पर भी अकिंचनता को मुरझाए मन स्वीकार किया करते हैं। शेक्सपीअर रचित ओथेलो में हम अन्य बहुत से व्यक्तियों के पतन के साथ साथ उस नाटक के धीरोदात्त नायक ओथेलो को भी निहत होता देखते हैं। हैमलेट नाटक में जहाँ अन्य बहुत से नरनारी यमलोक की यात्रा करते हैं, वहाँ प्रतिक्षण विचारों में झूलने वाला उस नाटक का भावुक नायक भी नाटक के अंत में यही कहता सुनाई पड़ता है कि वस तैयार रहने में ही बहादुरी है। नाटकीय कला की दृष्टि से निधन का कितना भी महत्त्व क्यों न हो, इन नाटकों को देख कर प्रेक्षक वर्ग के लिए ओथेलो और हैमलेट जैसे भद्र पुरुषों का मृत्यु के मुख में जाता हुआ देखना कठिन हो जाता है और वे अकस्मात् चौंक पड़ते हैं क्या ऐसे वन्दनीय व्यक्तियों का भी जीवन में यही अवसान होना बदा था!

किंतु दैवदुर्नियोग के इतना कठोर होने पर भी, आर्त समाज की इस दुखी चीख के सुनाई देने पर भी कि "हे राम! क्या इसी को मनुष्य कहते हैं, क्या मनुष्य का यही अवसान है?" हमारे मन पर ट्रैजेडी का चरम अंकन एक भिन्न ही प्रकार का होता है, जिसका आँकना इहलोक के सामयिक मापदंड से न होकर परलोक के शाश्वत मापदंड से हुआ करता है। इन नरपुंगवों को भाग्य के साथ जूझता हुआ देखकर हमारे मन में क्षुद्रभावनाओं के स्थान पर उदात्त और उत्तुंग भावनाएँ जागृत होती हैं और संग्राम से उत्पन्न होने वाले उत्साह के साथ साथ हमारे मन में मनुष्य की मौलिक विशालता और उसके स्वाभाविक उत्कर्ष की गरिमा भी जागृत हो जाती है। और इसी लिए जहाँ हम अपने विषाद को गहरा बना कर उसकी उत्कटता प्रकट करते हैं, वहाँ ट्रैजेडी के समर्थक को सदा उन्नत तथा ऊँचा बना कर उसकी उदात्तता को व्यक्त किया करते हैं। और यद्यपि ओथेलो तथा हैमलेट की कथा को पढ़ कर हमारे मन में विषाद की तमिस्रा छा जाती है, तथापि अंततोगत्वा हमें इस बात की पूर्ण अनुभूति हो जाती है कि जीवन में शाश्वत मूल्य भद्रता, वदान्यता, शुचिता, निष्पापता और उत्साह का ही है, और इन्हीं के प्रदर्शन में मनुष्य की— चाहे उन पर कितने भी कष्ट क्यों न आवें, और हम जानते हैं कि कष्टों की अग्नि में तपकर ही आत्मा कुंदन बनता है—इतिकर्तव्यता है।

कहना न होगा कि भारतीय आचार्यों ने सदा से सुखांत नाटक का वरण करते हुए दुःखान्त नाटक का प्रत्याख्यान किया है। उनकी दृष्टि में किसी भी मंगलमय जीवन का अवसान अवसाद में नहीं होता; मंगल का अवसान अनिवार्य रूप से शिव तथा शांति में होता है; और शांति है मन का धर्म; और एक मंगलमय जीवन का वहन करने वाला त्यागी जब अपने देह

पर लदे भार को फेंकता है, तब स्वभावतः उसके हृदयाकाश में शांति की ज्योत्स्ना खिली रहती है और उसके शरीर के वेदनाओं से परिविष्ट रहने पर उसका अंतःकरण सुरमानसरोवर की नाईं निस्तब्ध तथा नीरव रहा करता है। यदि किसी व्यक्ति की वृत्ति अवसान के समय इससे विपरीत प्रकार की रही तो समझो वह सच्चा महात्मा नहीं है।

हमारे यहाँ इस जीवन की प्रसूति आनंदमय भगवान् से मानी गई है और उसी में उसका अवसान भी निर्धारित किया गया है। और क्योंकि हमारा आत्मा आनंदमय भगवान् का ही एक व्यक्तिरूप है इसलिए उसीके समान वह भी शाश्वत तथा आनंदमय है; हम अवश्य अपने आदि स्रोत अथवा अपने जैसे अगणित ज्योतिकणों का समष्टि में मिल कर एक हो जाना है। किंतु यह अनुष्ठान सदा तपस्या के द्वारा हुआ करता है। फलतः हमारे यहाँ जीवन के शाश्वत होने के कारण उसका अंत सदा ही आनंदमय रहता आया है और आत्मा को इस पद तक पहुँचाने के साधन तपस्या अथवा क्लेश का पहले ही अवसान हो चुका होता है। यह बात कालिदास के शकुंतला नाटक को देखने से भली भाँति व्यक्त हो जाती है। इस नाटक में भारत के अमर कवि ने पाप को हृदय के भीतर अपनी ही आग से आप ही दग्ध कर दिया है—बाहर से उसे राख में छिपा कर नहीं छोड़ा। उन्होंने दुष्यंत और शकुंतला के चरम मिलन के मध्य आने वाले सभी अमंगलों को भस्म करके यह नाटक समाप्त किया है, जिसका परिणाम यह होता है कि प्रेक्षकों के मन में एक मधुरदान मंगलमय परिणाम की शांति छा जाती है। बाहर से अचानक पापबीज पर आने से हृदय में जो विषवृक्ष खड़ा हो जाता है, वह भीतर से जब तक समूल नष्ट नहीं होता, तब तक उसका उच्छेद नहीं होता; कालिदास ने शकुंतला और दुष्यंत के मिलनरूप क्षेत्र में पड़े हुए दुर्वासा के शापरूप वृक्ष को समूल ध्वस्त करके

ही—और स्मरण रहे आदम और ईव का अशेष क्रियाकलाप ही इस शाप का परिणाम है—उनका चरम मंगलमय मिलन संपादित किया है। जीवन की जो मनोज्ञ प्रक्रिया नाटकीय क्षेत्र में कालिदास ने खड़ी की, भारत के विभिन्न नाटककारों ने अपनी अपनी रचनाओं में उसी को अंगीकार किया है।

नाटकरचना के सिद्धान्त

नाटकीय तत्त्व की विवेचना करते हुए हमने कहा था कि नाटकीय तत्त्व में संघर्ष अथवा द्वंद्व का होना आवश्यक है। यह संघर्ष नाटकीय पात्रों का बाह्य तथा आन्तर दोनों ही प्रकार के जगत् के साथ हो सकता है। बाह्यघटनाओं के साथ युद्ध दिखाने के निदर्शन ओथेलो तथा मैकबेथ हैं और आन्तरिक प्रवृत्तियों का द्वंद्व दिखाने के हैमलेट तथा किंग लियर निदर्शन हैं। नाटक के मूल आधार इस विरोध रूप तत्व के उदय, उत्थान और परिणाम के अनुसार ही नाटक के ढाँचे का पाश्चात्य आचार्यों ने विवेचन किया है।

नाटक में जहाँ से यह विरोध या द्वंद्व आरम्भ होता है वहीं से मुख्य कथावस्तु का भी आरम्भ होता है और जहाँ इस नाटकीय विकास विरोध या संघर्ष का कोई परिणाम निकलता है, वहीं की पाश्चात्य और कथावस्तु का भी अवसान हो जाता है। कथावस्तु भारतीय परिभाषा के आरम्भ में जो विरोध उत्पन्न होता है, वह पहले एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है, और उस परिधि के उपरान्त दो विरोधी पक्षों में से एक की विजय आरम्भ होने लगती है और तब अन्त में भले की बुरे पर अथवा भाग्य की व्यक्ति पर विजय प्राप्त होती है। नाटकीय कथावस्तु, अर्थात् संघर्ष के विकास के आधार पर पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक को पाँच भागों में विभक्त किया है;

पहला आरम्भ, जिसमें विरोध अथवा संघर्ष उत्पन्न करने वाली कुछ घटनाएँ होती हैं, दूसरा विकास, जिसमें संघर्ष बढ़ता है; तीसरा चरम सीमा, अथवा परा कोटि, जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय का आरम्भ होता है; चौथा उतार या निगति, जिसमें विजयी की विजय निश्चित हो जाती है; और पाँचवाँ अन्त या समाप्ति, जिसमें उस विरोध या द्वंद्व पर पटाक्षेप हो जाता है। विकास की इन्हीं अवस्थाओं को कुछ परिवर्तन के साथ भारतीय आचार्यों ने आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पाँच विधानों में व्यक्त किया है। भारतीय आचार्यों के अनुसार नायक अथवा नायिका के मन में किसी प्रकार का फल प्राप्त करने की अभिलाषा होती है और उसी अभिलाषा से नाटक का आरम्भ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिए जो व्यापार होता है, वह प्रयत्न कहाता है। आगे चल कर विघ्नों पर विजय लाभ करते हुए उस फल के प्राप्त होने की आशा होने लगती है, इसी को प्राप्त्याशा कहते हैं। इसके अनन्तर विघ्नों का नाश हो जाता है और फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, इसे नियताप्ति कहते हैं, और सब के अन्त में फलप्राप्ति होती है; जो फलागम कहाती है।

ही—और स्मरण रहे आदम और ईव का अघोर क्रियाकलाप ही उस द का परिणाम है—उनका चरम मंगलमय मिलन संपादित किया है। जीवन की जो मनोज्ञ प्रक्रिया नाटकीय क्षेत्र में कालिदास ने खड़ी की, भारत के विभिन्न नाटककारों ने अपनी अपनी रचनाओं में उसी को अंगीकार किया है।

नाटकरचना के सिद्धान्त

नाटकीय तत्त्व की विवेचना करते हुए हमने कहा था कि नाटकीय तत्त्व में संघर्ष अथवा द्वंद्व का होना आवश्यक है। यह संघर्ष नाटकीय पात्रों का बाह्य तथा आन्तर दोनों ही प्रकार के जगत् के साथ हो सकता है। बाह्यघटनाओं के साथ युद्ध दिखाने के निदर्शन अंग्रेजी तथा मैकबेथ हैं और आन्तरिक प्रवृत्तियों का द्वंद्व दिखाने के हैमलेट तथा किंग लियर निदर्शन हैं। नाटक के मूल आधार इस विरोध रूप तत्त्व के उदय, उत्थान और परिणाम के अनुसार ही नाटक के ढाँचे का पाश्चात्य आचार्यों ने विवेचन किया है।

नाटक में जहाँ से यह विरोध या द्वंद्व आरम्भ होता है वहीं से मुख्य कथावस्तु का भी आरम्भ होता है और वहाँ तक नाटकीय विकास विरोध या संघर्ष का कोई परिणाम निकलता है, वहीं की पाश्चात्य और कथावस्तु का भी अवसान हो जाता है। कथावस्तु भारतीय परिभाषा के आरम्भ में जो विरोध उत्पन्न होता है, वह पहले एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है, और उस सीमा के उपरान्त दो विरोधी पक्षों में से एक की विजय आरम्भ होने लगती है और तब अन्त में भले को बुरे पर अथवा भाग्य को व्यक्ति पर विजय प्राप्त होती है। नाटकीय कथावस्तु, अर्थात् संघर्ष के विकास के आधार

पहला आरम्भ, जिसमें विरोध अथवा संघर्ष उत्पन्न करने वाली कु घटनाएँ होती हैं; दूसरा विकास, जिसमें संघर्ष बढ़ता है; तीसरा चर सीमा, अथवा परा कोटि, जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय का आरम होता है; चौथा उतार या निगति, जिसमें विजयी की विजय निश्चि हो जाती है; और पाँचवाँ अन्त या समाप्ति, जिसमें उस विरोध या द्वं पर पटाक्षेप हो जाता है। विकास की इन्हीं अवस्थाओं को कुछ परिवर्त के साथ भारतीय आचार्यों ने आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति औ फलागम इन पाँच विधानों में व्यक्त किया है। भारतीय आचार्यों अनुसार नायक अथवा नायिका के मन में किसी प्रकार का फल प्राप करने की अभिलाषा होती है और उसी अभिलाषा से नाटक का आरम्भ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिए जो व्यापार होता है, वह प्रयत्न कहाता है। आगे चल कर विघ्नों पर विजय लाभ करते हुए उस फल प्राप्त होने की आशा होने लगती है, इसी को प्राप्त्याशा कहते हैं। इस अनन्तर विघ्नों का नाश हो जाता है और फल की प्राप्ति निश्चित ह जाती है, इसे नियताप्ति कहते हैं, और सब के अन्त में फलप्राप्ति होत है; जो फलागम कहाती है।

ऊपर लिखी पाँचों अवस्थाएँ व्यापारशृंखला की हैं। इसके साथ भारतीय आचार्यों ने दो और बातों पर और विवेच किया है : एक अर्थप्रकृति और दूसरी संधि। अर्थप्रकृ से अभिप्रेत हैं कथावस्तु को प्रधानफल प्राप्ति की ओ

अर्थप्रकृति

अग्रसर करने वाले चमत्कारयुक्त अंश, जिनके भेद हैं : बीज, बिन्दु पताका, प्रकरी और कार्य। वस्तु के प्रारंभिक कथाभाग को, जो कि क्रमशः विस्तृत होता जाता है, बीज कहते हैं। जो बात समाप्त सी हो वाली अवान्तर कथा को अग्रसर करती और मुख्य कथा का विच्छेद ना

होने देती, उसे बिन्दु कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु जब अधिकारिक कथावस्तु के साथ साथ चलती है तब उसे पताका कहते हैं; जैसे रामायण में सुग्रीव की; वेणीसंहार में भीमसेन की और शकुन्तला नाटक में विदूषक की कथा। प्रकरी वह प्रासंगिक कथावस्तु है, जो आधिकारिक कथावस्तु के साथ साथ न चल, थोड़ी दूर चल कर समाप्त हो जाती है, जैसे रामायण में जटायु-रावण संवाद और शकुन्तला में छठे अंक में दो दासियों का वार्तालाप। कार्य से तात्पर्य उस घटना से है, जिसके लिए उपायजात का आरंभ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए नाटकीय सामग्री जुटाई जाय। कहना न होगा कि ये पाँचों बातें वस्तुविन्यास से संबंध रखती हैं।

उपरिवर्णित अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं के परस्पर संयोग से नाटक के जो पाँच अंश या विभाग बनते हैं, उन्हें पाँच संधियों का संज्ञा दी गई है। उनके नाम हैं; मुखसंधि, प्रतिमुखसंधि, गर्भसंधि, अवमर्शसंधि और निर्वहण-संधि। जहाँ प्रारंभ नामक अवस्था और बीज नामक अर्थप्रकृति के संयोग से अर्थ और रस का अभिव्यक्ति हो, वहाँ मुखसन्धि होती है। प्रतिमुखसन्धि में मुखसंधि में दिखलाए हुए बीज का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से विकास होता है जैसे रत्नावली में वत्सराज और सागरिका का प्रेम विदूषक को स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाता है, पर वासवदत्ता चित्रावली की घटना से केवल उसका अनुमान ही कर पाती है। इस प्रकार राजा का प्रेम कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रहता है। प्रतिमुखसन्धि प्रयत्ननामक अवस्था और बिंदुनामक अर्थ प्रकृति के समान कार्यशृंखला को अग्रसर करती है। गर्भसन्धि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थप्रकृति होती है और ... में स्फुरित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा ... होता है। रत्नावली में गर्भसंधि तीसरे अंक में है। अवमर्शसन्धि

संधि

में, गर्भसंधि की अपेक्षा बीज का अधिक विकास होकर उसके फलोन्मुख होने के समय जब शाप, आपत्ति, विलोभन आदि से विघ्न उपस्थित हो तब यह संधि होती है। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थप्रकृति रहती है। प्राप्त्याशा अवस्था में सफलता की संभावना के साथ साथ विफलता की आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थप्रकृति में प्रधान फल का सिद्ध करने वाला प्रासंगिक वृत्तांत रहता है। रत्नावली के चौथे अंक में जहाँ आग के कारण गड़बड़ मचती है वहाँ अवमर्शसन्धि है। निर्वहणसंधि में पूर्वोक्त चारों संधियों में प्रदर्शित हुए अर्थों का समाहार प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है और मुख्य फल की प्राप्ति हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थप्रकृति होती है। रत्नावली में विमर्शसंधि के अंत से लेकर चौथे अंक की समाप्ति तक निर्वहणसंधि है। अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और संधियों का पारस्परिक संबंध नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जायगा:—

अर्थप्रकृति	अवस्था	सन्धि
बीज	आरंभ	मुख
बिंदु	प्रयत्न	प्रतिमुख
पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श
कार्य	फलागम	निर्वहण

इसके अतिरिक्त हमारे आचार्यों ने नाट्य अथवा अभिनय की दृष्टि से वस्तु के दो मुख्य भेद किए हैं : एक दृश्य दूसरा सूच्य। दृश्य वस्तु वह है, जिसका रंगमंच पर अभिनय किया जा सके, जिससे निरंतर रस का उद्रेक होता रहे और जिसके देखने के लिए प्रेक्षकवर्ग उत्सुक रहे। सूच्य वस्तु वह है, जिसका कारणविशेष से रंगमंच पर प्रदर्शन न किया जा सके, जैसे,

लंबी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध, स्नान, चुम्बन आदि। सूच्य वस्तु को दर्शकों के ध्यान में लाने के लिए अनेक उपाय किए जाते हैं, जिन्हें अर्थोपक्षेपक के नाम से पुकारा जाता है। नाटकीय वस्तु के उक्त भेदों से ही न संतुष्ट हो भारतीय आचार्यों ने उसके श्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य आदि अनेक उपभेद किए हैं; इसी प्रकार उन्होंने अभिनय को भी आंगिक, वाचिक, आहार्य, तथा सात्त्विक इन भेदों में विभक्त किया है। जिस प्रकार वस्तु और अभिनय के, उसी प्रकार उन्होंने नाटकीय वृत्ति के भी भारती, कैशिकी, सात्त्विकी और आरभटी ये चार भेद बताए हैं। कहना न होगा कि सूक्ष्मेक्षिका की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी नाटकीय तत्त्वों के ये विभाग अत्यंत ही नीरस तथा निरर्थक सिद्ध हुए हैं। इनके आधार पर न तो कोई नाटक आज तक खड़ा ही हुआ है और न इन विभागों की शृंखला में कसी जाकर किसी कलाकार की प्रतिभा काम ही कर सकती है। फलतः हमने इनका यहाँ पर दिग्दर्शन करा देना ही पर्याप्त समझा है।

भारतीय प्रेक्षागृह

भारतीय आचार्यों की दृष्टि से नाटकीय तत्त्वों का दिग्दर्शन करा चुकने पर भारतीय रंगशाला अथवा प्रेक्षागृह के विषय में कुछ कह देना अप्रासंगिक न होगा। भरत के अनुसार प्राचीन काल में तीन प्रकार के प्रेक्षागृह होते थे : विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट प्रेक्षागृह—जिसकी लंबाई १०८ हाथ होती थी—सर्वोत्तम होता था और कहा जाता है कि वह देवताओं के लिए होता था। चतुरस्र प्रेक्षागृह की लंबाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होती थी और यह राजाओं, धनिकों तथा साधारण जनता के लिए होता था। त्र्यस्र प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होता था और इसमें एक कुटुम्ब के कतिपय मित्र अथवा परिचित व्यक्ति मिल कर नाटकीय अभिनय

देखा करते थे।

सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों में आधा स्थान दर्शकों के लिए और शेष आधा भाग अभिनय के लिए रहता था, जिसे रंगमंच कहा जाता था। रंगमंच का सबसे पिछला भाग रंगशीर्ष कहाता था और उसमें छः खमे रहते थे। रंगमंच के खंभों और दीवारों पर नकाशी और चित्रकारी हुआ करती थी। वायु और प्रकाश के आने का अच्छा प्रबंध होता था। रगमंच का आकार ऐसा होता था कि उसमें स्वर भलीभाँति प्रतिध्वनित हो सके। बहुधा रंगमच दो खडों का भी बनाया जाता था : एक खंड ऊपर और दूसरा नीचे होता था। ऊपर वाले खड में स्वर्ग के दृश्य दिखाए जाते थे। खभों में चित्रकारी होने के अतिरिक्त रगमंच की दीवारों पर भी पहाड़ों नदियों, जगलों आदि के चित्र खिचे होते थे। रगमच के पीछे एक परदा होता था, जिसे यवनिका कहते थे। संभवतः इस परदे का कपड़ा यूनान से आता था, इसी कारण इसका नाम यह पड़ गया हो। यवनिका का रंग नाटकीय रस के अनुसार बदल दिया जाता था. रौद्र रस के लिए लाल, भयानक के लिए काला, शृंगार के लिए श्याम, करुण के लिए खाकी; अद्भुत के लिए पीला, बीभत्स के लिए नीला और वीर के लिए सुनहरा परदा बरता जाता था।

प्रेक्षकों के बैठने का प्रबध सतोषजनक होता था। प्रेक्षकों की पंक्तियाँ यहाँ वर्णों के ही अनुसार लगतीं थीं, और जैसे और जगह, वैसे ही यहाँ भी, सबसे आगे ब्राह्मण बैठते थे, उनके पीछे क्षत्रिय, उनके पीछे उत्तरपश्चिम की ओर वैश्य और सब से पीछे उत्तरपूर्व में शूद्र बैठते थे। यदि पृथ्वी पर आसनों की कमी हुई तो आजकल के सिनेमाओं की भाँति दूसरा खंड खड़ा कर लिया जाता था।

नाटक और उसके तत्त्वों के विषय में पाश्चात्य तथा भारतीय दृष्टिकोण से विवेचना कर चुकने पर उसकी उत्पत्ति और इतिहास के विषय में कुछ कह देना अप्रासंगिक न होगा।

नाटक की उत्पत्ति

किसी न किसी रूप में नाटक संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाया जाता है, और सभी जातियों में इसकी उत्पत्ति का संबंध किसी न किसी प्रकार की नृत्य और गीतिमिश्रित धार्मिक पूजा से दीख पड़ता है। यह पूजा एक तो उस रहस्यमय शक्ति की होती थी, जिसे हम परमात्मा कहते हैं और जिसका परिचय आरम्भ से ही मनुष्य को प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों में मिलता आया है, और दूसरे यह पूजा मृतक वीरों की होती थी। ऋतुपरिवर्तन के समय और फसल बोने तथा काटने के अवसर पर किसी देवविशेष की आराधना के उद्देश्य से नृत्य और गीत आदि का आयोजन भारतवर्ष, चीन और यूनान जैसे देशों में ऐतिहासिक काल से बहुत पहले आरम्भ हुआ प्रतीत होता है। यूनान में नाटक का आरम्भ डायोनिसस देवता की सार्वजनिक पूजा से हुआ बताया जाता है। और [illegible] देशों में देवताओं की पूजा के पश्चात् मृतक वीरों की पूजा — [illegible] सूत्रपात हुआ, जिसका योजक सूत्र हमें भारत में आज भी कृष्णलीला के [illegible] में संतत हुआ दीख पड़ता है। निष्कर्ष इन बातों के कहने का यह है [illegible] नाटक की उत्पत्ति देवता तथा मृतक वीरों की पूजा में संमिलित हुए [illegible] गीत से हुई। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के आरंभ में कहा है [illegible] ... के लिए ब्रह्मा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, और अथर्ववेद से रस लिए। इस कथन से नाटक के विकास [illegible] है। नृत्य और गान के साथ जब कथोपकथन मिल जाए,

तब साहित्यिक अर्थ में नाटक का जन्म हो जाता है।

यदि भरत मुनि के उक्त संकेत को सत्य न भी माना जाय तो भी इतना तो निश्चित है कि नाट्यसृष्टि के आवश्यक उपकरण वेदों में बीजरूप से विद्यमान थे। ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि, सूर्य, उषस्, मरुत् आदि देवताओं की स्तुति के गीत, और सरमापणि, यमयमी, तथा पुरूरवाउर्वशी के कथोपकथन मिलते हैं, और हो सकता है कि इनके अथवा इन्हीं के समान अन्य आख्यानों के आधार पर भारत के प्राचीनतम नाटक लिखे गए हों। इस बात का पूरा पूरा निश्चय करना कि भारत में नाटक ने परिपक्व रूप किस युग में धारण किया, बहुत कठिन है। किंतु इस बात के मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि पाणिनि और पतञ्जलि के समय तक नाटकों का पर्याप्त विकास हो चुका था। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में नाट्य-शास्त्र के दो आचार्यों, अर्थात् शिलालिन् और कृशाश्व का नाम लिया है। पाणिनि के पश्चात् उसके सूत्रों की व्याख्या करने वाले पतंजलि मुनि अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि रंगशालाओं में नाटकों का अभिनय होता था। हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही नाटकों का अभिनय होने के संकेत पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हरिवंश पुराण में लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में कौवेररंभाभिसार नामक नाटक का अभिनय हुआ, जिसमें कैलाश पर्वत का दृश्य दिखाया गया। कठपुतलियों का वर्णन—जिन का संबंध नाटक की उत्पत्ति और विकास के साथ अविभाज्य सा प्रतीत होता है—महाभारत और कथासरित्सागर में पाया जाता है।

(नाटक की सृष्टि)

यों तो भारत में नाटक का विकास वैज्ञानिक काल में हो चुका था, किंतु उसके विकास का क्रमबद्ध इतिहास भरतमुनि के समय से ही आरंभ होता है। भरत का समय ईसा से कम से कम

(भरतमुनि और)

रहे भरत मुनि द्वारा प्रारंभ किया गया नाट्यशास्त्र एक
ग्रंथ है, जिस से यह बात माननी अनिवार्य हो जाती है कि उससे
कहीं पहले हमारे देश में नाट्यकला और नाटकों का भरपूर प्रचार हो
होगा; क्यों कि बहुसंख्यक तथा बहुविध नाटकों को रंगमंच पर देखे
ा पड़े बिना उनके गुणदोषों का विवेचन करना और उनके संबंध में
ग्रंथों की रचना करना असंगत सा है।

यद्यपि भरत मुनि के पश्चात् नाटककारों में कालिदास का नाम ही
तथा स्मरणीय है, तथापि स्वयं कालिदास के कथनानुसार उनसे पहले
आदि अनेक प्रसिद्ध नाटककार हो चुके थे। इस संबंध में यह कह देना
प्रासंगिक न होगा कि मध्यएशिया में बौद्धकालिक नाटकों में से कतिपय
हस्तलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एक रचना कनिष्क के राजकवि अश्वघोष
बताई जाती है। अश्वघोष का समय ईसा संवत् के प्रारंभ के
का है।

भारतीय नाटक का स्पष्ट इतिहास कालिदास के समय से आरंभ होता
है। तब से लेकर लगभग ईसा की दसवीं शताब्दी तक
भारत में नाटकों का खासा प्रचार रहा और इसके उपरांत
उनका ह्रास होने लगा। कालिदास का समय संस्कृतनाटक
के लिए ही नहीं, अपितु संस्कृत साहित्य के सर्वांगीण
विकास के लिए स्वर्णयुग बताया जाता है संसार के
रों में कालिदास का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। उन्होंने
प्रथम नाटक मालविकाग्निमित्र के पश्चात् शकुंतला नाटक की रचना
की गणना, क्या देशी और क्या परदेशी, सभी एक स्वर से
हित्य की विभूतियों में करते हैं। संसार की प्रायः सभी

भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। इसके अतिरिक्त उन का विक्रमोर्वशीय नाटक भी उल्लेखयोग्य है, जिस के अनुकरण में आगे चल कर संस्कृत में अनेक नाटकों की रचना हुई। कालिदास के अनन्तर स्मरणीय नाटककार श्रीहर्ष हैं। ये ईसा की सातवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए, और इनकी नागानन्द और रत्नावली नाम की रचनाएँ नाटकीय दृष्टि से अच्छी संपन्न हुईं। इनके पश्चात् शूद्रक ने मृच्छकटिक की रचना की। सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग में भवभूति हुए, जिनकी तीन रचनाएँ—महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव—प्रसिद्ध हैं। नवीं शताब्दी के मध्य के लगभग भट्टनारायण ने वेणीसंहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नामक नाटक लिखे। नवीं शताब्दी के अंत में राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बालरामायण और बालभारत की रचना की और ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने प्रबोधचंद्रोदय नाम का नाटक लिखा।

संस्कृत नाटक का ह्रास

ईसा की दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत नाटक एवं भारतीय नाट्यकला का ह्रास होना आरम्भ हो गया। यद्यपि दसवीं और बारहवीं शताब्दी के मध्य में भी हनुमन्नाटक, प्रबोधचन्द्रोदय और मुद्राराक्षस जैसे नाटक लिखे जाते रहे, तथापि इसमें संशय नहीं कि शनैः शनैः नाटक का प्रचार हमारे देश में कम होता गया; यहाँ तक कि चौदहवीं सदी में, जब कि मुसलमानों के आक्रमणों ने उग्र रूप धारण कर लिया था, यह कला इस देश से किसी सीमा तक कूच हो कर गई। अपने हिन्दी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास की भूमिका में हम ने इस बात के कारणों पर विस्तृत विचार किया है। इन कारणों में प्रमुख कारण तो इस देश की राजनीतिक दुरवस्था थी, और दूसरा कारण यह था कि मुसलमान स्वयं संगीत और नाट्यकला के विरोधी थे। जहाँ-जहाँ उनकी विजयवैजयन्ती

फहराई, वहाँ-वहाँ वह नाट्यकला को प्रसती चली गई। इसके साथ देश में जहाँ कहीं भी हिन्दुओं का राज्य रहा, वहाँ कभी कभी इस कला का चमत्कार दीखता रहा; किन्तु इस व्यवधान में बने नाटकों में कोई भ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य नहीं है।

हिंदी नाटक

पिछले साठ-सत्तर वर्षों में बँगला, मराठी और गुजराती में नाटकों को खासी प्रगति मिली और आधुनिक ढंग की रंगशालाओं में उनका अभिनय भी स्वागत के साथ हुआ। किन्तु खेद है कि हिन्दी में अभी तक इस कला ने उत्कर्षलाभ नहीं कर पाया है।

हिन्दी नाटक के प्रथम उत्थान (संवत् १८१३-५७) में भारतेंदु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गिरधरदास के रचे नहुष नाटक के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित शकुन्तला नाटक, श्रीनिवासदास का तप्तासंवरण, तथा तोताराम रचित केटोकृतान्त के होते हुए हम भारतेंदु द्वारा रचे, तथा अनुवाद किए अनेक नाटकों पर आते हैं, जो नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से खासे संपन्न हुए और जिनके द्वारा हिन्दी साहित्य में वास्तविक नाटकों का सूत्रपात हुआ। नाटकों के द्वितीय उत्थान (संवत् १८५७-१८७७) में हम गोपालराम गहमरी, बाबू सीताराम, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, राय देवी-प्रसाद पूर्ण और पंडित रूपनारायण पांडेय को संस्कृत तथा बंगला आदि के भव्य नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करने के साथ साथ कतिपय नवीन नाटकों की भी रचना करता हुआ पाते हैं। पिछले बीस-तीस वर्षों में हिन्दी मौलिक नाटकों की रचना भी आरंभ हो गई है; और इस सम्बन्ध में पंडित राधेश्याम कथिरत्न, नारायण प्रसाद बेताब, और बाबू हरिकृष्ण जौहर के नाम स्मरणीय हैं; इनकी रचनाओं के द्वारा पारसी रंगमंच की कायापलट. हुई, और उर्दू का स्थान हिन्दी को प्राप्त हुआ। पंडित

ारयाम के वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, श्रीकृष्णअवतार; और
कमणीमंगल, पंडित नारायण प्रसाद बेताब के महाभारत तथा रामायण
क, और बाबू हरिकृष्ण जौहर के पतिभक्ति आदि नाटक खासे प्रसिद्ध
हाल ही में बाबू जयशंकर प्रसाद के अजातशत्रु, जनमेजय, स्कंदगुप्त,
द्रगुप्त आदि ऐतिहासिक नाटक साहित्यिक दृष्टि से मनोज्ञ संपन्न हुए;
तु इनका सफलता के साथ रंगमंच पर अभिनय नहीं किया जा सकता।
ाद जी के साथ ही मुन्शी प्रेमचन्द, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, माखन
चतुर्वेदी, बद्रीनाथ भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, सुदर्शन, नगेन्द्र,
शंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविंददास तथा बलदेव शास्त्री
दि ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है किन्तु इनमें से किसी
ाटकों में भी इस कला को वह बहार न मिली, जो इसने संस्कृत, बंगला,
ी और गुजराती में प्राप्त की है।